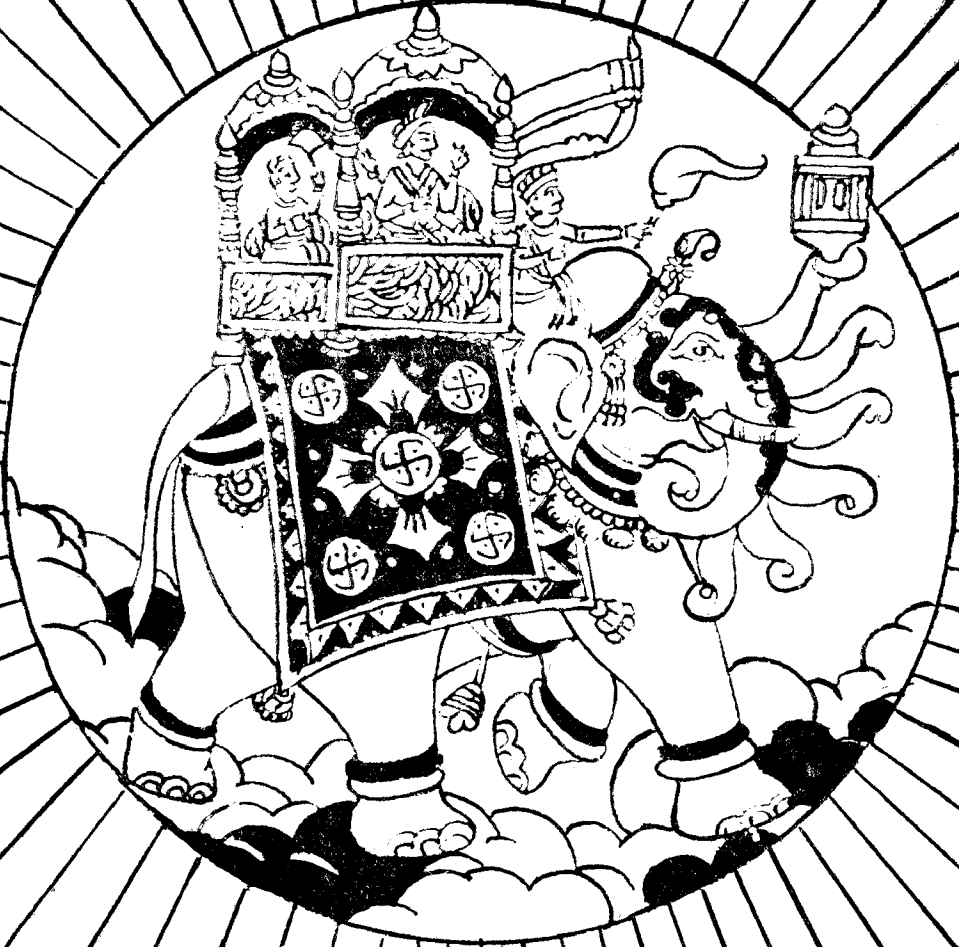


जैनधर्म और जिन-प्रतिमा पूजने रहस्य

श्री हीरालालजी दूगड़ जैन



प्रकाशक-

जैन प्राचीन साहित्य प्रकाशन मंदिर

पुस्तक नाम

जैन धर्म और जिन प्रतिमा पूजन रहस्य

○

लेखक— व्याख्यान दिवाकर, विद्याभूषण
पण्डित हीरालाल दुग्गड़
न्यायतीर्थ, न्यायमनीषी, स्नातक

○

विषय

वीतराग-सर्वज्ञ-तीर्थंकर एवं
सिद्ध भगन्तों की मूर्ति द्वारा
आत्मकल्याण की सिद्धि

○

पुस्तक पृष्ठ—16 + 240 = 256

○

पुस्तक संख्या—1100

○

प्रथम प्रकाशन—अक्षय तृतीया (बैसाख सुदि 3)
वीर सम्बत्—2511
विक्रम संवत्-2041
ईस्वीसन-1984

○

प्रकाशक—

जैन प्राचीन साहित्य प्रकाशन मन्दिर
1/9669A गली न० 6 प्रतापपुरा बाबरपुर रोड
शाहदरा-दिल्ली (110032)
मूल्य—10.00

○

मुद्रण—ए० बी० प्रिंटर्स शाहदरा दिल्ली-32

इस फर्म में दो महत्वपूर्ण लेख:

1. श्री वल्लभ स्मारक

परिचय पृ० 4-7

2. ज्योतिष शास्त्र और
राजकुमार वधमान
महावीर का विवाह

प० 10-14

समर्पण

पुस्तक लेखक के बहनोई एवं बहन का सादर समर्पित

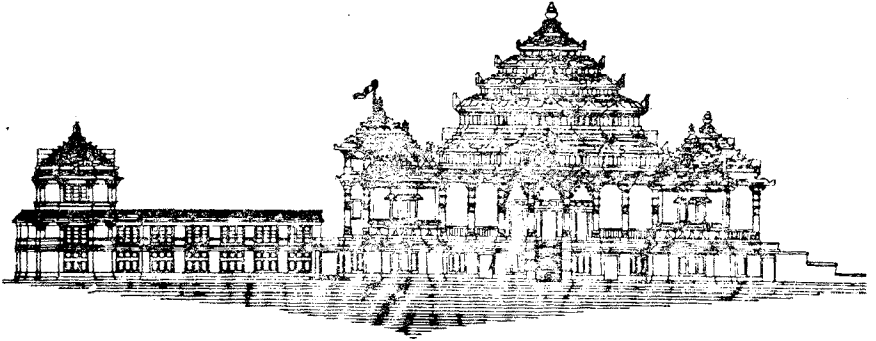


स्व० बहनोई श्री मस्तराम जी
चि० बहन रिखावस्ती लोढ़ा जैन
शिवपुरी ग्वालियर (म०प्र०)

पुस्तक लेखक
हीरालाल दुग्गड़

श्री वल्लभ स्मारक-

जिनधर्म प्रसार का मेरुदंड



किसी भी धर्म का मर्म अथवा सम्प्रदाय की शक्ति का अनुमान करना हो तो उसका साहित्य, कीर्तिचिन्ह एवं धर्मस्थानों का अध्ययन तथा अवलोकन करना परम आवश्यक है। पुरातन धर्म-ग्रंथ, साहित्य, कलात्मक तथा भव्य निर्माण कार्य एवं देवालय इसके परिचायक हैं। श्री वल्लभ स्मारक का निर्माण जैन धर्मावलम्बी गुरु-भक्तों का इस शताब्दी का सबसे बड़ा एक अनुठा प्रयास है।

भारत सकल विश्व के लिए आध्यात्मिक शक्ति का स्रोत माना जाता है। विश्व को आत्म कल्याण, सह-अस्तित्व एवं शान्ति का पाठ भारत ने ही दिया है। वस्तुतः आज का मानव इन्हीं की खोज में भटक रहा है। जैन धर्म का इसमें विशेष योगदान है। इसने सत्य, अहिंसा, अनेकान्तवाद एवं अपरिग्रह के सिद्धांत देकर भारतीय संस्कृति को उज्ज्वल एवं उत्कृष्ट बनाया है। 24 वें तीर्थंकर भगवान वर्धमान-महावीर की यही देशना है। इन्हीं अमूल्य सिद्धांतों का हमने इस जगत में प्रचार एवं प्रसार करना है।

स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद संसार में भारत की राजनैतिक प्रतिष्ठा एवं महत्व दिन-प्रति-दिन बढ़ रहा है। संतप्त एवं भटका हुआ प्राणी भारतीय संस्कृति का अध्ययन कर सच्चा आध्यात्मिक सुख और शान्ति प्राप्त करना चाहता है। लगभग 75 विदेशी दूतावासों ने दिल्ली में अपने सांस्कृतिक विभाग खोले हुए हैं। इसमें अधिकांश वे राष्ट्र हैं जो आज विकसित, समृद्ध और शक्तिशाली हैं। वे सभी भारत की खोज करना चाहते हैं। खोज किस चीज की? भारत के विकासशील उद्योग, नदियाँ, डैम तथा तापघर उनके लिए विशेष महत्व नहीं रखते। वे तो खोज करना चाहते हैं केवल यहाँ के साहित्य और संस्कृति की। इसके लिए उपयोगी हैं हमारे धर्म-ग्रन्थ, हमारा साहित्य, हमारा इतिहास, हमारी निर्माण कला, हमारे प्राचीन मंदिर एवं कीर्ति चिन्ह। अतः हमारा कर्तव्य है कि हम गवेषकों के लिए उपयोगी प्राचीन सामग्री की सुव्यवस्था तथा युगानुरूप नव-निर्माण के लिए सदैव प्रयत्नशील रहें।

श्री आत्म वल्लभ जैन स्मारक शिक्षण निधि ने नानाविध यह उत्तरदायित्व अपने कंधों पर लिया है। आज सकल जैन समाज की आशाएँ इससे बन्ध गई हैं। इसके अन्तर्गत दिल्ली महानगर में एक भव्य कलात्मक विशाल भवन का निर्माण हो रहा है। दिल्ली से पंजाब की ओर जाने वाले राष्ट्रीय मार्ग नं० 1 पर 22वें किलोमीटर पर यह स्थान स्थित है। 19 एकड़ का यह भूखंड हरे-भरे लहलहाते खेतों एवं खलिहानों के मध्य आबादी से तनिक दूर उभर रहा है।

अज्ञान तिमिर तरणी, कलिकाल कल्पतरु, युगवीर, जैनाचार्य श्रीमद् विजय वल्लभ सूरि जी महाराज इस शताब्दी के एक विशिष्ट प्रतिभाशाली एवं क्रान्तिकारी धर्म-गुरु तथा समाज सुधारक हुए हैं। श्रीमद् विजय वल्लभ सूरिजी महाराज ने जैन समाज को कुम्भकरणी निद्रा से जगाया तथा मानव समाज को एकता, सहिष्णुता और धर्म का उपदेश दिया तथा ज्ञानरूपी सूर्य की किरणों से पुलकित किया। धार्मिक शिक्षा के साथ-साथ व्यवहारिक शिक्षा, स्त्री शिक्षा, समाज संगठन तथा मध्यम वर्ग उत्थान के वे मसीहा थे। सरस्वती मन्दिरों का निर्माण कर उन्होंने समाज को नया जीवन प्रदान किया। आज से 70 वर्ष पूर्व महावीर जैन विद्यालय बम्बई जैसी सुमुन्नत संस्था के वे आद्य प्रेरक बने। श्री आत्मानन्द जैन गुरुकुल (पंजाब) गुजरांवाला, श्री आत्मानन्द जैन कालेज अम्बाला तथा अनेक स्कूल, पाठशालाएँ एवं छात्रालय विभिन्न स्थानों पर खुलवा कर उन्होंने समाज का उद्धार किया। 'शिक्षा के क्षेत्र में यदि मेरा समाज पिछड़ गया तो प्रगति की दौड़ में पीछे रह जाएगा' यही उनके मन में तड़प थी। समाज उनका सदैव ऋणी रहेगा।

जब सन् 1954 में श्रीमद् विजय वल्लभ सूरिजी महाराज का बम्बई में देवलोक गमन हुआ तो उस समय एकत्रित अखिल भारतवर्षीय समाज ने निर्णय लिया कि ऐसी महान विभूति की पुण्य स्मृति में एक विविधलक्षी संस्थान भारत की राजधानी दिल्ली में बनाना चाहिए। भगवान महावीर के 2500वें निर्वाण वर्ष में यह योजना तैयार हुई। उन्हीं के पट्ट प्रभावक जिन शासन रत्न विजय समुद्र सूरि जी की आज्ञा से जैन भारती महत्तरा साध्वी श्री मृगावती जी ने यह कार्य सम्भाला। साध्वी जी की कठिन तपस्या तथा अनथक प्रयासों से यह कार्य प्रारम्भ हुआ। वर्तमान आचार्य श्री विजय इन्द्रदिन्न सूरि जी महाराज ने इस योजना को शीघ्रातिशीघ्र कार्यन्वित करने के लिए अपना आशीर्वाद प्रदान किया है। नूतन आचार्य जनक चन्द्र सूरि भी इस प्रयास में शामिल हैं।

गुरुदेव विजय वल्लभ सूरि जी को शिक्षा अति प्रिय थी। अतः अखिल भारतीय स्तर पर एक शैक्षणिक ट्रस्ट की स्थापना की गई। मद्रास, बंगलौर, बम्बई, अहमदाबाद, राजस्थान, दिल्ली तथा पंजाब से ट्रस्टियों का चयन किया गया है। विदेश (इंग्लैंड) से भी भारतीय मूल के एक प्रवासी डाक्टर को ट्रस्टी चुनकर इस संस्था को अन्तर्राष्ट्रीय रूप दिया गया है। स्वर्गीय सेठ कस्तूरभाई लालभाई ने इस संस्था का मार्ग दर्शन किया तथा वे इसके आद्य-संरक्षक बने।

योजना विविधलक्षी है। सातों क्षेत्रों का सिंचन होगा। इस केन्द्र का नाम 'श्री आत्म वल्लभ संस्कृति मन्दिर' रखा गया है। इसके अन्तर्गत साहित्य पर शोध कार्य

होगा तथा जनोपयोगी साहित्य का विभिन्न भाषाओं में निर्माण भी। संस्कृत और प्राकृत पढ़ने की सुविधा प्राप्त होगी। इस संस्थान के पास हजारों की संख्या में प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ तथा अन्य प्रकाशित सामग्री है। यह विशाल ग्रंथ भण्डार देश-विदेश से आने वाले गवेषकों तथा विद्यार्थियों के लिए एक विशेष आकर्षण बनेगा। एक छोटा सा परन्तु सुन्दर संग्रहालय भी स्थापित किया जाएगा। ताकि आगन्तुक, युवा पीढ़ी तथा पर्यटक एक ही स्थान पर जैन साहित्य, संस्कृति एवम् परम्परा, निर्माण-कला तथा ललितकला का दिग्दर्शन कर सकें। श्रमण तथा श्रमणी मण्डल के लिए साहित्य अभ्यास की समुचित व्यवस्था यहाँ की जायेगी। भारतीय एवम् प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति पर खोज होगी। आत्मार्थियों के लिए साधना एवम् ध्यान केन्द्र बनेगा। भवन की भव्यता, कला तथा फूल फुलवारियों से सुसज्जित इस स्थान की रमणीयता युवा पीढ़ी के लिए विशेष रोचक सिद्ध होगी। विदेशों में रहने वाले जैनों का सम्पर्क केन्द्र बनेगा। भ्रमण के लिए आने वाले भी सुसंस्कार ही लेकर वापिस लौटेंगे। गवेषकों तथा दर्शकों के निवास एवम् भोजनादि की सुन्दर व्यवस्था होगी। यही वे लक्ष्य हैं जिनकी पूर्ति के लिए समाज के कार्यकर्ता आज कार्यरत हैं और शीघ्र ही यह स्थान लोक प्रिय बन जाएगा। यह संस्थान भारतवर्ष की राजधानी दिल्ली से सत्य-अहिंसा, अनेकान्तवाद तथा अपरिग्रह के अग्रदूत श्रमण भगवान महावीर की यश पताका को विश्व में ऊँचा फहराने का माध्यम बनेगा।

सेठ आनन्दजी कल्याण जी पेढी के निष्णात शिल्प शास्त्री श्री अमृतलाल मूल शंकर द्विवेदी ने प्लान बनाए और दिल्ली विकास प्राधिकरण, अर्बन आर्ट्स कमीशन तथा दिल्ली कार्पोरेशन से मंजूरी लेकर निर्माण कार्य का श्रोगणेश हुआ। 27 जुलाई 1979 को भूमिपूजन तथा 29 नवम्बर 1979 को अखिल भारत श्वेताम्बर जैन कांफ्रेस के 24वें अधिवेशन के समय हजारों की संख्या में उपस्थित जन समूह के बीच मुख्य भवन का शिलान्यास तथा 21-4-1980 को इसके अन्तर्गत निर्माणाधीन वासुपूज्य भगवान के मन्दिर का शिलारोपण पूज्या महत्तरा साध्वी मृगावती जी के सानिध्य में सम्पन्न हुए हैं। मन्दिर निर्माण तथा प्रबन्ध के लिए एक पृथक ट्रस्ट की स्थापना की गई है।

निर्माणाधीन संस्कृति केन्द्र 4 भागों में विभाजित हैं।

- 1- मुख्य स्मारक भवन तथा बेसमेंट,
2. अतिथिकक्ष तथा बेसमेंट,
3. वासुपूज्य भगवान का मन्दिर,
4. लैण्ड स्केपिंग,

कुल निर्माण कार्य 30 हजार वर्ग फुट होगा। जिससे 15 हजार वर्ग फुट का भूतल (बेसमेंट) होगा और इतना ही भाग ऊपर बनेगा। मुख्य स्मारक भवन, भगवान वासुपूज्य का कलात्मक मन्दिर तथा एक अतिरिक्त कक्ष इस समय निर्माणाधीन हैं। भवन के चारों तरफ भूखंड में वृक्ष, फुलवारियाँ, जलाशय तथा पार्क सुसज्जित होंगे। भवन की तलपीठ राष्ट्रीय मार्ग से 15 फुट ऊँची होगी। यह कलात्मक भवन हरित पट्टी पर दर से ऐसा दिखाई देगा जैसे किसी ऊँचे प्लेट-फार्म पर एक सुन्दर

माडल रखा हो। निर्माण में लोहे का इस्तेमाल नहीं किया जा रहा। वैसे भी भारतीय शिल्प के अनुसार लोहे को निकृष्ट धातु माना गया है। लोहे और सीमेंट से बने हुए भवन की आयु लगभग 100 वर्ष मानी जाती है। यही कारण है कि समूचा निर्माण पत्थर से किया जा रहा है। ताकि शताब्दियों तक यह भवन अक्षुण्ण रहे। विशाल भवन की साढ़े सात फुट मोटी नींव भी मुद्दूड़ पत्थर की शिलाओं से बनाई गई है। जो विश्व के निर्माण इतिहास में प्रथम ही प्रयास है। इस नींव के निर्माण में ही 15 मास का टाइम व्यतीत हुआ है। विजय वल्लभ सूरेश्वर जी महागज की आयु के अनुरूप इस भवन की ऊंचाई भी 84 फुट रखी गई है। यह कलात्मक भवन जैन कला के अनुरूप शृंगार चौकियों व सामरण से युक्त होगा। इसके रंगमंडप का व्यास 62 फुट होगा जो उत्तर भारत में अद्वितीय है। जैन समाज का यह कीर्ति चिह्न दिल्ली ही नहीं अपितु भारत की शान होगा तथा जैनों को गौरवान्वित करेगा।

श्री वल्लभ स्मारक के प्रांगण में ही एक और सुन्दर कलात्मक मन्दिर का भी निर्माण हो रहा है। जिसमें भगवान् पाश्वनाथ जी की अधिष्ठायिका देवी माता पद्मावती जी की सुन्दर प्रतिमा विराजमान की जाएगी। इसके लिए भी जुदा ट्रस्ट की व्यवस्था की गई है।

अतिथि कक्ष तथा भूतल (बेसमेंट) का निर्माण शीघ्र ही पूरा हो जाएगा। अतिथि कक्ष का नाम “शीलसौरभ—विद्याविहार” होगा। बेसमेंट के विशाल हाल में शोध कार्य करने के लिये “श्री भोगीलाल लेहरचन्द जैन अकैडमी फार इन्डोलोजिकल स्टडीज” की स्थापना होने जा रही है। श्री वल्लभ स्मारक भोजनालय भी चालू होने वाला है। अतिथि कक्ष तथा शोध-पीठ एवम् भोजनालय के उद्घाटन बृहस्पतिवार दिनांक 10 मई 1984 को तथा देवी पद्मावती जी की प्रतिष्ठा शुक्रवार दिनांक 11 मई 1984 को पूज्य महत्तर साध्वी श्री मृगावती जी की पावन निश्चामें सम्पन्न हो रहे हैं। इस हेतु द्वि-दिवसीय एक महोत्सव का आयोजन हो रहा है;

योजना बहुमुखी तथा विमर्ग कलात्मक है। इसके निर्माण में दो करोड़ रुपये व्यय होने का अनुमान है। परन्तु बढ़ती हुई घोर मंहगाई के कारण खर्च और अधिक भी हो सकता है। महत्तर साध्वी मृगावती श्री जी तो अहर्निष इसमें जुटे हुए हैं। यह काम उनके लिये तो मानो जीवन मन्त्र बन चुका है। उन्होंने जैन आगमों का गहराई से अध्ययन किया है। शोधकार्य में उनकी विशेष रुचि है। वे अपनी विलक्षण बुद्धि से इस निधि एवम् अन्य योजनाओं का मार्ग दर्शन कर रहे हैं। उनकी सतत् एवम् सद्-प्रेरणा से समाज के आगेवान तथा कार्यकर्ता, तन, मन, धन से समर्पित हैं। पूर्ण विश्वास है कि यह भागीरथ प्रयास शीघ्र ही साकार होगा। और यह संस्था संसार के जिज्ञासुओं एवं गवेषकों के लिए एक महान तथा उपयोगी केन्द्र का रूप धारण करेगी तथा भगवान् महावीर की कल्याणमयी वाणी के प्रचार एवम् प्रसार का मेरुदण्ड सिद्ध होगा।

(कान्तिलाल डी. कोरा) (राजकुमार जैन) मानद मन्त्री द्वय
श्री आत्म वल्लभ जैन स्मारक शिक्षण निधि

प्रकाशकीय

इस पुस्तक के लेखक श्रद्धेय पण्डित श्री हीरालाल जी दुगड, शास्त्रीय मर्मज्ञ विद्वान, सिद्धहस्त साहित्यकार, जैन दर्शन के प्रकांड विचारक, ऐतिहासिक पुरातत्व की शोध खोज में संशोधक और अच्छी आलोचनात्मक दृष्टि के धनी हैं। आपकी कृतियां आपकी गहन गम्भीर विद्वता, उच्चशिक्षा, विशाल अध्ययन, गवेषणात्मक एवं अनुभवी स्वाध्याय शील दृष्टि की चोतक हैं, पाठक ऐसा अनुभव किये बिना नहीं रह सकते। आपकी प्रतिभा जैन-जैनेतर विद्वानों में सर्वतोमुखी है। आप संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, गुजराती, बंगाली, पंजाबी, ऊर्दू, अंग्रेजी आदि अनेक भाषाओं के ज्ञाता हैं। आपके लिये ऐसी विचारधारा प्राप्त विद्वंद्वर्ग के पत्रों में प्राप्त है।

धार्मिक, सैद्धांतिक, विधिविधान, ऐतिहासिक, शास्त्रीय, अष्टांग निमित्त, पुरातत्व आदि अनेक विषयों पर आपने छोटी-बड़ी 40 पुस्तकें लिखी हैं। जो पाठकों के लिये बहुत उपयोगी ज्ञानवर्धक और विशेष रुचिकर सिद्ध हुई हैं।

आप मात्र ज्ञान के ही धनी नहीं हैं। आप सम्यक्त्व मूल वारह व्रतधारी तथा चतुर्थ ब्रह्मचर्य सम्पूर्ण व्रत के पालक हैं। श्री सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवन्तों पर तथा उनके त्रिकाल सत्य धर्म पर अनन्य अटूट श्रद्धा है। प्रतिक्रमण, देवपूजा-दर्शन, रात्री भोजन त्याग। इत्यादि आपकी जीवनचर्या के अंग बन चुके हैं।

आज आप 80 वर्ष की वृद्धावस्था में भी अपना जीवन स्वाध्याय और उत्तम ग्रंथ रचनाओं में व्यतीत कर रहें हैं। सब विद्वानों की आपके प्रति यह धारणा है कि "आपको बुढ़ापा नहीं जीत पाया पर आपने बुढ़ापे पर ही विजय पाई है। लोह पुरुष के रूप में आपकी प्रसिद्धि है।

जैनधर्म और जिन प्रतिभा पूजन रहस्य—यह पुस्तक स्थापना निक्षेप-मूर्तिपूजा पर एक अलौकिक रचना है जिसे आपने कई वर्षों में बड़े परीश्रम पूर्वक तैयार किया है। यद्यपि इस विषय पर लिखे गये साहित्य की कमी नहीं है। बड़े-बड़े विद्वानों ने इस विषय पर बहुत कुछ लिखा है। फिर भी यह पुस्तक नयी सामग्री से भरपूर है जो आज तक पाठकों को प्राप्त नहीं हो पायी। इस बात का पाठक स्वयं इस पुस्तक को पढ़कर अनुभव करेंगे।

पुस्तक प्रकाशन में आर्थिक सहयोग

दिल्ली एवं पंजाब से बाहर के साहित्य प्रेमियों के पास से लगभग साढ़े चार हजार रुपये की राशी तथा जिन शासन प्रभाविका, गुरु आत्मवल्लभ की अनन्य उपासिका, स्वनाम धन्या महत्तर साध्वी श्री-मृगावती जी की महती प्रेरणा से रुपया पांच हजार श्री आत्मवल्लभ स्मारक शिक्षण निधि एवम् रुपया पाँच हजार श्री आत्मानन्द जैन सभा दिल्ली से इस पुस्तक के प्रकाशन के लिये सहयोग प्राप्त होने से इस पुस्तक का मूल्य लागत से भी बहुत कम मात्र दस रुपये रखा है। ताकि इस महत्त्वपूर्ण पुस्तक से सामान्य पाठक भी लाभान्वित हो सकें।

अक्षय तृतीया-वि० सं० 2041

के० बी० ओसवाल अध्यक्ष
जैन प्राचीन साहित्य प्रकाशन मन्दिर

आमुख

सन्तोष का विषय है कि मेरी सब कृतियां पाठकों ने सुखपूर्वक अपनाकर मेरे साहस को परोत्साहन दिया है। लगभग 40 पुस्तकों के प्रकाशन पाठकों तक पहुंच चुके हैं। जिनमें से मात्र पांच-छह-पुस्तकें स्टॉक में हैं। बाकी सब समाप्त है। बची हुई पांच-छह कृतियों में से भी सम्भवतः यह पुस्तक पाठकों के हाथ में पहुंचने तक शायद एक दो कृतियां ही बच पायें। कुछ कृतियों की दो-तीन आवृतियां भी समाप्त हो चुकी हैं।

जैनदर्शन में जिनप्रतिमा की मान्यता बहुत महत्त्व रखती है। यदि इसे जैन धर्म के सिद्धान्त और आराधना से निकाल दिया जावे तो यह अपनी व्यापकता को खो बैठेगा ऐसा मेरा विश्वास है।

अनेक विद्वानों-पाठकों की वर्षों से उत्कृष्ट भावना रही है कि मैं इस विषय पर एक ऐसी पुस्तक लिखकर पाठकों को दूँ कि जिस में मूर्तिपूजा के विरोधियों के कटाक्षों, सर्वव्यापी प्रचार तथा प्रसार से जैन संस्कृति पर किये जाने वाले आरोपों का समाधान पाने की जिज्ञासा पूर्ति हो। उनकी इस भावना को मूर्तरूप देने के लिये मैंने 'जैनधर्म और जिनप्रतिमा पूजन रहस्य' नामक पुस्तक, आगम, सिद्धान्त, पुरातत्व, इतिहास, संस्कृति, आत्मकल्याण में अत्यन्त उपयोगी, तर्कपूर्ण तथा भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों के इस विषय पर विचारों का समन्वय रूप लिखकर पाठकों के करक कमलों तक पहुंचाने का साहस किया है।

इस पुस्तक में विषय का ज्ञान पाठक अनुक्रमणिका तथा पढ़ने से पालेंगे अतः अलग लिखना पिष्टपेषण करना उचित नहीं समझा।

जिन संस्थाओं अथवा व्यक्तियों ने इस पुस्तक के प्रकाशन में आर्थिक सहयोग दिया है उनका उल्लेख प्रकाशकीय में इस संस्था के अध्यक्ष ने किया है।

इसके लिये मैं उनकी उदारता का अनुमोदिन करता हूँ और उनकी भावना को मान देते हुए पुस्तक का मूल्य भी लागत से बहुत कम रखा गया है।

पाठक इस पुस्तक को मनन पूर्वक पढ़ने का परीश्रम करें। अनेक नयी जान-कारियां मिलेंगी।

पढ़ने के बाद पाठक इस पुस्तक के विषय में अपनी आलोचना, समालोचना, अभिमत अवश्य लिखने की कृपा करें। यदि इसमें कोई विशेष परिवर्तन, शुद्धि, कमी बेशी करने की आवश्यकता प्रतीत हो तो भी अवश्य लिखने की कृपा करें। ताकि अगले संस्करण में उनकी उचित सामग्री का उपयोग किया जा सके।

अक्षयतृतीया वि० सं० 2041

हीरालाल दुग्गड़-दिल्ली

ज्योतिषशास्त्र और राजकुमार वर्धमान महावीर का विवाह¹

सूर्यवंश क्षत्रिय घराणों में जैन परम्परा में मान्य 24 तीर्थकरों में से 22 तीर्थकर हुए हैं। शेष दो चन्द्रवंशी क्षत्रिय घराणों में हुए हैं।

महावीर स्वामी ने अपने पूर्ववर्ती 23 तीर्थकरों के उपदेशों का अवगुण्ठन कर के और समयानुकूल संशोधन करके जैन विचारधारा को क्रमबद्ध कर देने का ऐतिहासिक कार्य किया था। आप भगवान् बुद्ध के समकालीन थे।

जैन परम्परा में जिसे श्वेतांबर साहित्य कहा जाता है, उसमें महावीर स्वामी के जीवन सम्बन्ध में अपेक्षाकृत अधिक सामग्री है तथा अधिक प्रमाणिक भी है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार इनके कोई भाई-बहिन, पत्नी-पुत्री आदि नहीं थे। श्वेतांबर परम्परा इन ऐतिहासिक तथ्यों को छिपाती नहीं, बल्कि स्वीकार करती है क्योंकि पारिवारिक स्थिति से महावीर की महानता में कोई अन्तर नहीं आता है।

आपकी पारिवारिक स्थिति इस प्रकार है—

पिता—वैशाली नरेश सिद्धार्थ जो काश्यप गोत्रीय ज्ञातृ शाखा के इक्ष्वाकु कुल के सूर्यवंशी क्षत्रिय थे।

माता—महारानी त्रिशलादेवी जो सूर्यवंश के वाशिष्ठ गोत्र की थीं।

पत्नी—कलिंग की राजकुमारी यशोदा जो कौडिन्व गोत्रीया थी और महासामन्त समरवीर की पुत्री थी।

पुत्री—अनवद्या प्रियदर्शना जो राजकुमार जमाली (कौशिक गोत्रीय एक क्षत्रिय युवराज थे) से ब्याही गई थीं।

महावीर स्वामी की एक देहाती का भी वर्णन आता है जिसका नाम यशस्वती शेषवती था।

आपके जामाता जमाली आपके अनुयायी हो गए थे, किंतु बाद में मतभेद होने पर वह न केवल आपका साथ छोड़ गए, बल्कि आपके विरोधी भी बन गए थे।

इनके अतिरिक्त आपके अन्य कुटुम्बीजन भी थे। चाचा सुपाश्वर्य, बुआ यशोधरा, मामा चेटक जिनकी अन्य छह पुत्रियां (महावीर स्वामी की बहनें) अन्य प्रतिष्ठित राजघराणों में ब्याही गई थीं। ज्येष्ठ भ्राता नन्दिवर्धन जो बाद में राजा बने। ज्येष्ठ भगिनी-सुदर्शना।

यों तो बाल्यकाल से ही आपका रुझान क्षत्रियोचित कर्मों की बजाय वैराग्य की तरफ अधिक था, लेकिन माता-पिता के निधन के बाद भाई-भाभी के काफी रोकने के बावजूद अपने अट्ठाइसवें वर्ष में वैराग्य ले लिया तथा तीसवें वर्ष में गृहत्याग दिया।

1. राजकुमार वर्धमान महावीर विवाहित थे नामक पुस्तक 1982 ई० में प्रकाशित की है। उस पुस्तक की पूर्ति के लिए यह लेख परिशिष्ट रूप में यहाँ प्रकाशित किया है।

अब हम इस महान् विभूति की जीविनी को ज्योतिष-शास्त्रानुसार देखें कि आपकी जन्मकुण्डली के अनुसार आपका जीवनवृत्त कैसा था ?

जन्म—जैन वाँगमय में उल्लेख है कि आप अषाढ़ शुक्ला 6 विक्रम पूर्व 541 (598 ई० पूर्व) को गर्भ में आये। यह माना जाता है कि पहले आप देवानन्दा नामक एक ब्राह्मणी के गर्भ में अवतरित हुए किंतु माता देवानन्दा एक अवतारी जीव का गर्भ सहन नहीं कर पा रही थीं इसलिए इन्द्रादि देवताओं ने आपका गर्भ प्रत्यावर्तन क्षत्रियाणि माता त्रिशलादेवी की कोख में कर दिया। क्योंकि सभी अवतारी विभूतियाँ क्षत्राणियों की कोख से जन्मती रही है।

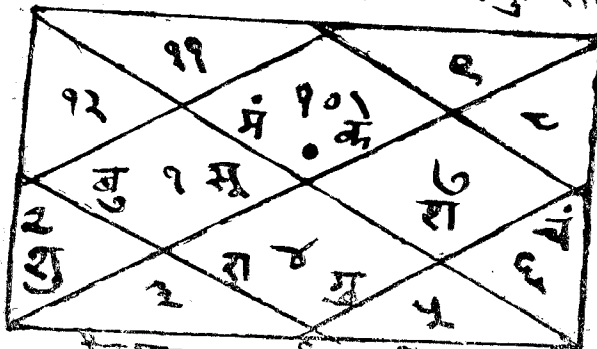
शीघ्र ऋतु के चैत्र मास के द्वितीय पक्ष में त्रयोदशी के दिन पूरे नौ महीने सात दिन एवं 12 घण्टों के पूर्ण होने पर जबकि नक्षत्र अपनी उच्च स्थितियों को प्राप्त थे, प्रथम चन्द्रयोग से दिशाओं के समूह जब निर्मल थे, अंधकार-हीन और ज्योतिषविशुद्ध-काल था सारे शकुन शुभ थे, अनुकूल दक्षिण पवन भूमि को स्पर्श कर रहा था, भूमि धान्य से परिपूर्ण थी और जब सारे मनुष्य एवं प्राणी प्रमुदित तथा क्रीडालीन थे उस समय उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के चौथे चरण की अर्धरात्रि में क्षत्रीयकुण्ड ग्राम वैशाली में इक्ष्वाकु कुलभूषण, रघुकुलनन्दन, सूर्यवंशमणि, ज्ञातृवंशदीपक, सिद्धार्थकुमार, प्रिय-कारिणी-त्रिशलानन्दन, नन्दिवर्धनानुज, सुदर्शनासहोदर, वैशाली के राजकुमार के रूप में सन्मति वर्धमान महावीर माता त्रिशला की दक्षिण कुक्षि से प्रसूत हुए।

उस समय सूर्य की महादशा एवं शनि की अन्तर्दशा तथा बुध का प्रत्यन्तर चल रहा था।

इनके जीवन काल में उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र का बड़ा महत्व है। आपका गर्भ-प्रवेश, गर्भप्रत्यावर्तन, जन्म, गृह त्याग तथा केवलज्ञान प्राप्ति नामक पंचकल्याणक उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में ही संघटित हुए थे।

इस जातक का जन्म क्योंकि शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी में है इसलिए जातक गेहूँ रंग का होना चाहिए।

वर्धमान-महावीर की जन्मकुंडली



चैत्र शुक्ला १३ अषाढ पूर्णिमा ५६६ वर्ष

नवग्रहानुसार विवेचन—मंगल क्योंकि उच्च का तथा मकर राशि का है इस लिए जातक ख्याति-प्राप्त पराक्रमी, नेता, ऐश्वर्यशाली, एव महत्त्वकांक्षी होता है। साथ ही राजसी चिह्नों यथा प्रलम्ब बाहु, सुदृढ़ स्कन्धद्वय, विशाल वृक्षस्थल, उन्नत ललाट तथा कान्तिवान मुखमण्डल से युक्त होता है।

सूर्य क्योंकि उच्च तथा मेष राशि का है। अतः जातक आत्मबली, स्वाभिमानी महत्त्वाकांक्षी तथा गम्भीर एवं उदार वृत्ति का हीता है।

बृहस्पति क्योंकि उच्च का तथा कर्क राशि का है इसलिए ऐसा जातक सदा-चारी, विद्वान्, सत्यवक्ता, महायशस्वी, समद्रष्टा, सुधारक, योगी, लोकमान्य तथा नेतृत्व करने वाला होता है। मुखमण्डल आभायुक्त, तेजोमय एवं प्रभावोत्पादक होता है।

शुक्र क्योंकि स्वर्गही व पंचम भाव में है और वृष राशि का है अतः जातक सुन्दर, ऐश्वर्यशाली, दानी तथा सात्विक वृत्ति का होता है। साथ ही परोपकारी, अनेक शास्त्रों का ज्ञाता, त्यागभावना वाला तथा प्रेम-संगीत और भाग्यवान होता है। यह जातक स्वतन्त्र प्रकृति का विचारक होता है।

शनि क्योंकि उच्च क्षेत्री का होकर दशम ग्रह में बैठा है अतः यह जातक सुभाषी, नेतृत्व प्रदान कर सकने में समर्थ, उन्नतिशील तथा यशस्वी होता है। ऐसा जातक राज-परिवार का सदस्य होता है।

राहु क्योंकि कर्क राशि का है अतः यह जातक उदार एवं इन्द्रियनिग्रही होता है। दाम्पत्य जीवन को अल्पकाल तक भोगता है।

केतु क्योंकि मकर राशि का है इसलिये यह जातक प्रवासी, परिश्रमी, पराक्रमी, तेजस्वी तथा मोक्षमार्गी होता है।

बुध मेष राशि का है फलतः ऐसा जातक इकहरे लेकिन सुगठित अंगों वाला और सत्यवक्ता होता है तथा समृद्ध, सम्पन्न एवं ऐश्वर्यशाली होता है।

चन्द्रमा कन्या राशि का होकर नवम स्थान में बैठा है। अतः यह जातक अल्प सन्तति वाला, दानी स्वभाव का, गम्भीर प्रकृति का तथा सुदृढ़ देह्यष्टि वाला धार्मिक वृत्ति का होता है।

अब द्वादश ग्रहों पर विचार करेंगे : प्रथम गृह—मकर लग्न में जन्म होने के कारण इसमें मंगल और केतु (जो शारीरिक रचना के रूप-लावण्य से सम्बद्ध है) है इस कारण इस जातक का रंग गेहूँआ होना चाहिए। केतु के प्रभाव से लम्बी और सुन्दर ग्रीवा वाला होना चाहिए। इसके साथ बड़ी-बड़ी प्रभावोत्पादक आँखें भी होनी चाहिए।

मंगल के कारण गर्भ-काल में किसी गड़बड़ी (गर्भ परार्वतन) की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता। मंगल और केतु की युक्ति के फलस्वरूप वह परोपकारी, मोक्षमार्ग-प्रदर्शक होता है। मंगल उच्च राशि का है इसलिए जातक रजोगुण-नाशक तथा भ्रमणशील एवं ख्यातिप्राप्त नेता होता है। केतु के प्रभाव से विश्व-बन्ध, परम पूज्य, बुद्धि व भाग्य की खान होता है। जिसके दर्शनार्थ लोग चलकर आये ऐसा नामवर और बुलन्द-मर्तवा होता है। जती-सती एकान्त-प्रिय होता है।

द्वितीय गृह—धनेश तुला राशि का होकर दशम स्थान कार्यक्षेत्र में जा बैठा है। राजकुलोत्पन्न होकर भी क्योंकि शनि उच्च का, तुला राशि का है अतः राजयोग इस जातक का दीख पड़ रहा है। मतलब यह कि ऐसा जातक राजघराने में जन्म लेकर भी राजसत्ता का उपभोग नहीं कर सकता।

तृतीय गृह—वृहस्पति तीसरे स्थान का स्वामी होकर भी क्योंकि दशम स्थान में उच्च क्षेणी होकर बैठा है और अपने घर को पूर्ण दृष्टि से देख रहा है इसलिए इस जातक का मान-सम्मान अक्षुण्ण रहता है। यह व्यक्ति अपने क्षेत्र में सूर्य के समान चमकता है।

तीसरे स्थान का स्वामी गुरु उच्च राशि का होकर केन्द्र में स्थित है, इसके हिसाब से चार बहिन-भाइयों के योग बन रहे हैं लेकिन राहु का संयोग होने से एक बहिन व एक भाई ही होंगे। बहिन का योग इसलिए बन रहा है कि चन्द्रमा के तृतीय भाव पर पूर्ण दृष्टि है और ग्यारहवें स्थान का स्वामी मंगल लग्न में बैठा है। ऐसी हालत में जातक के सहोदर या सहोदरा अग्रज ही हो सकते हैं, कनिष्ठ नहीं।

चतुर्थ गृह—उच्च का सूर्य मेष राशि का है, साथ ही बुध का संयोग भी है तथा मंगल की पूर्ण दृष्टि है। ऐसा जातक स्वाभिमानि, महत्वाकांक्षी, उदारवृत्तिवाला व गम्भीर प्रकृति का तथा आत्मबली व्यक्ति होता है। सूर्य व बुध की युक्ति के परिणामस्वरूप ऐसा जातक विचारवान्, संशोधक तथा सुभाषी विद्वान् होता है।

पंचम गृह—पंचम स्थान में वृष राशि शुक्र के गृहस्वामी होने के कारण इस ऐश्वर्यशाली, सुदर्शन, सात्विक वृत्तिक, सदाचारी जातक की बुद्धि में वैराग्य भाव अबोधवस्था पार करते ही आ जाना चाहिए। इस जातक ने स्वजनों के सांसारिक मोह-पाश से स्वयं को निस्पृह रखा होगा। यह जातक आचार्य पद को प्राप्त करने वाला होता है। बुध राशि के होने से इसके उत्कर्ष काल का आरम्भ 28 वें वर्ष से होता है पाँचवें घर में क्योंकि शुक्र अपने घर का स्वामी बना बैठा है; अतः इस जातक के सन्तान के नाम पर पुत्री ही होती है। ऐसा जातक पुत्रसुख से विहीन होता है। 'सुतेश यस्य पंचमे पुत्र तस्य न जीवति' (लोमशसंहिता)।

षष्ठम गृह—बुध गृह क्योंकि नर्पुंसक है अतः इस जातक में काम-क्रीड़ाओं, रति-क्रियाओं या प्रणय-व्यापार के प्रति विशेष उत्साह नहीं होता है। कामदेव की बजाय महादेव इसका आदर्श होता है। जातक का शत्रु-पक्ष निर्बल होता है। इसका विरोध नगण्य होता है। किंबहुना जातक अजातशत्रु होता है।

सप्तम गृह—राहु और वृहस्पति कर्क राशि में स्थित हैं इसलिए इसका परिणय वय कौशोरकाल ठहरता है। इस इन्द्रिय-निग्रही जातक के सातवें घर राहु की स्थिति है तथा शनि की पूर्ण दृष्टि है। इसलिये पत्नी-त्याग का अवसर भी शीघ्र ही होकर यौवनावस्था में ज्ञान उपस्थित होता है। उच्च राशि का वृहस्पति तथा राहु की युक्ति होने के कारण जातक तमोगुण-नाशक, शिक्षा-दाता, तामसी वृत्ति व इन्द्रिय सुखों का परित्याग करने व कराने वाला होता है।

अष्टम गृह—अष्टमेष सूर्य उच्च राशि का होकर चौथे घर में बैठा है अतः

ऐसा जातक पर्याप्त आयु का भोगी होता है अर्थात् पूरी आयु भोगकर स्वाभाविक मृत्यु को प्राप्त होता है।

नवम गृह—कन्या राशि का स्वामी बुध चौथे स्थान में चला गया है जिसके कारण जातक की धार्मिक प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिल रहा है। साथ ही चन्द्रमा के क्षेत्र में राहु के बैठने से परम्परा से चली आ रही धार्मिक विचारधारा का विरोधी बनने के पूरे आसार हैं। गुरु उच्च का होने से यह राजकुलोत्पन्न जातक अलंकार-प्रिय होता है। चन्द्रमा धर्मस्थान में है अतः नीरतीरे इनके जीवन की महान् घटना घटने (केवल-ज्ञान की प्राप्ति) के योग हैं।

दशम गृह—शनि उच्च का होकर राजस्थान में विद्यमान है तथा सूर्य और बुध उसे पूर्ण दृष्टि से देखते हैं। इसलिए जहां एक तरफ राजयोग बन रहा है, वहीं तुला राशि का स्वामी बुध शुक्र, जो कर्मक्षेत्र का मालिक भी हैं पंचम स्थान पर (जो बुद्धि का क्षेत्र है) चला गया है। फलतः राजयोग से विपरीत होना अवश्यम्भावी है। इसके परिणामस्वरूप ऐसा राजकुमार एक वीतरागी संन्यासी होता है। ऐसे राजघराने के बालक का लालन-पालन धार्यों द्वारा होना बिलकुल स्वभाविक है।

एकादश गृह—आय-स्थान का स्वामी मंगल लग्न में केतु के साथ उच्च क्षेत्री होकर बैठा है। वह सम्पन्न जातक आय को परमार्थ में लगाने वाला होता है। एकादश भाव पर उच्च क्षेत्री गुरु एवं होती शुक्र की पूर्ण दृष्टि है। इस जातक के इकबाल की बुलन्दी जवानी से ही शुरू होती है। यह जातक एक नामवर हस्ती होता है। बहुत ही कमाल को पहुँचा हुआ एक ऐसा व्यक्ति होता है, जिसको समाज का पूज्य वर्ग (ब्राह्मण, योगी, त्यागी तक भी) मान-सम्मान दें।

द्वादश गृह—व्यय स्थान में धनु राशि होने से तथा स्वामी वृहस्पति उच्च का होने से इस जातक द्वारा धार्मिक, परोपकारी एवं मांगलिक कार्यों में ही रुचि के योग है।

निर्वाण—जब शनि की महादशा में वृहस्पति का अन्तर हो और आयु 72 वें वर्ष में चल रहा हो तब मारकेश लगता है।

जिस दिन महावीर स्वामी ने निर्वाण लाभ किया, उस दिन कार्तिक की अमावस्या की रात में स्वाति नक्षत्र चल रहा था। आपके जीवन का 72 वां वर्ष गुज्र रहा था। यह मेड़िय ग्राम (पावापुरी) की भूमि थी। 470 वि० पूर्व (527 ई० पूर्व) में दिवाली की जगमगाती रात्रि में पृथ्वी की जाज्वल्यमान ज्योति, ब्रह्माण्ड की परम ज्योति का एक अभिन्न अंग बन गई। इस प्रकार सन्मति निर्वाण को प्राप्त हुए।

डा० भूपसिंह राजपूत हांसी
मासिक श्रमण अक्टूबर 1978 से साभार

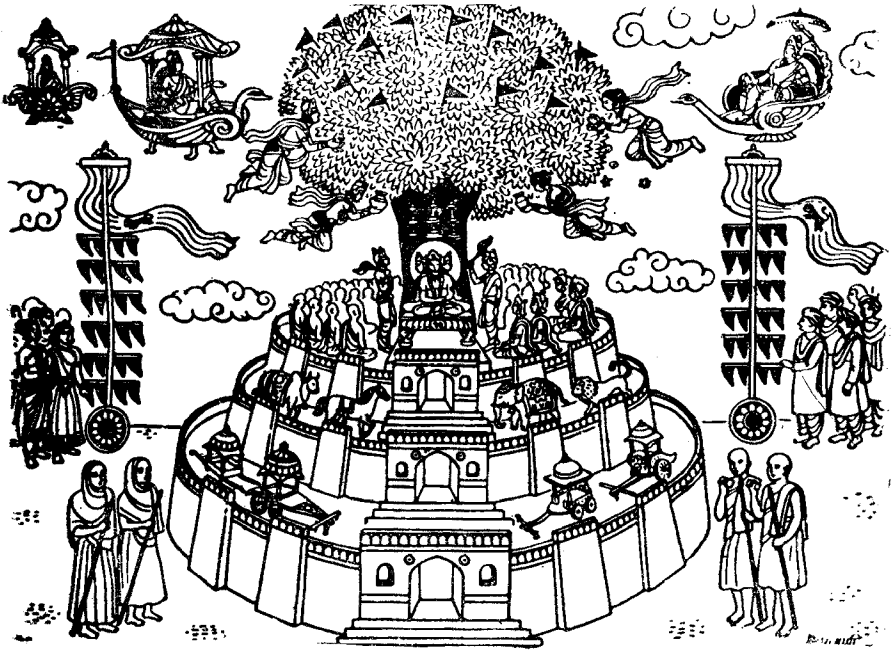
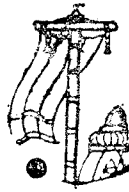
अणुक्रमणिका

नं०	विषय	पृष्ठ	नं०	विषय	पृष्ठ
1.	प्रथम प्रकाश	1-22		का अंग ।	38
1.	जैन अध्यात्मवाद : आधुनिक सन्दर्भ में ।	3	7.	मन्दिर धार्मिक भावना के प्रेरक रक्षक प्रवर्धक ।	33
1.	अध्यातात्वाद	3	3	तीसरा प्रकाश	41-49
2.	जैन अध्यात्मवाद का लक्ष्य आत्मोपलब्धि ।	4	1.	प्रतिमा विभन्न दृष्टिकोण	41
3.	आत्मस्वरूप एवं साध्य	5	2.	मूर्तिमान्यता पर भिन्न-भिन्न विचार ।	44
4.	साध्य-साधना मार्ग का आत्मा से भेद ।	6	3.	जिनेन्द्र की अनुपस्थिति में जिन-प्रतिमा द्वारा आत्मकल्याण ।	46
5.	त्रिविध साधना मार्ग	8	4.	चौथा प्रकाश	49-84
6.	साधन त्रय का पूर्वापर सम्बन्ध	12	1.	प्रतिमा पूजा और विरोध ।	51
7.	जैनपर्वों की अध्यात्मिक प्रकृति ।	13	2.	मूर्ति द्वारा भूतिवाले का ज्ञान ।	54
8.	जैन अध्यात्मवाद और लोक कल्याण ।	14	3.	जैनों में मूर्ति मान्यता कब से ?	55
9.	क्या जैन धर्म जीवन का निषेध सिखाता है ?	15	4.	चैत्य-जिनपडिमा का अर्थ	58
10.	जैन अध्यात्मवाद की विशेषताएं	16	5.	आगस और प्रतिमा पूजन ।	67
11.	ईश्वर पूजा-उपासना की आवश्यकता ।	17	6.	जिन प्रतिमा पूजन से लाभ ।	77
12.	विवेक पूर्ण अनुष्ठान कर्मक्षय का मुख्य साधन ।	19	7.	प्रतिमा पूजन में संघट्टा ।	78
2.	दूसरा प्रकाश	23-40	8.	पुरातत्त्व ।	79
1.	ईश्वर तथा आत्मा की भिन्न भिन्न मान्यताएं ।	25	9.	साहित्य ।	80
2.	अनीश्वर ईश्वरवादी	25	10.	उत्खनन से प्राप्त जिन प्रतिमाएं	83
3.	विचारनीय बात ।	31	5	पांचवा प्रकाश	85-112
4.	पारमाधिक देव ।	33	1.	जिन प्रतिमा पूजन पद्धति ।	85
5.	मोक्ष प्राप्ति और जिनप्रतिमा ।	37	2.	श्वेतांबर जैनों की पूजन पद्धति ।	86
6.	मूर्ति सभ्यता, कला, इतिहास		3.	दिगम्बरों की प्राचीन पूजा पद्धति	93
			4.	सारांश श्वेतांबर दिगम्बर पूजा विधि समानता	108
			5.	जिन प्रतिमा पूजन विरोधी पंथ	109
			6.	मूर्ति पूजा से लाभ	111
			6.	छट्ठा प्रकाश	113-160
			1.	क्या प्रतिमा पूजन में हिंसा	

आडम्बर, भोग, परिग्रह आदि दोष हैं ?	113	वाले को लाभ	195
2. हिंसा अहिंसा का स्वरूप	113	6. घर द्वार के सामने देवों के निवास का फल	196
3. दो प्रकार के अपराधी	120	7. श्वेताम्बर जैन कैसी जिन प्रतिमाओं की उपासना करते हैं (पुरातत्व)	196
4. प्रतिमा पूजन में हिंसा सम्बन्धी शंकाओं का समाधान	125	8. दिगम्बर लामचीदास को कैलाश यात्रा में जिनप्रतिमाओं का प्रकार वर्णन	202
5. जिनेन्द्र देव तथा उनकी प्रतिमा पूजन में पुष्पपूजा से हिंसा का सर्वथा अभाव	127	तीर्थ भूमि	205
6. क्या जिन प्रतिमा पूजन, मंदिर, उपाश्रय, पौषषशाला बनाने में हिंसा है ?	139	9. तीर्थ भूमि यात्रा लाभ	205
7. जिनप्रतिमा न मानने से हानि	145	9. नवम् प्रकाश	207-240
8. प्रतिमा की उपोगिता	146	I. जिन पूजा विधि	207
9. जड़ मूर्ति से लाभ	148	2. पूजा में सात प्रकार की शुद्धि	207
10. खोया-पाया	150	3. दस त्रिक	210
11. चार निक्षेपों का स्वरूप	153	4. आशातनाएं	212
7. सातवां प्रकाश	161-188	5. पूजा विधि	214
1. निक्षेप विवेचन	161	6. प्रभु पूजा से हृदय परिवर्तन	220
2. क्या साधु वेश में सब साधु हैं ?	161	7. किस दिशोन्मुख पूजन का लाभ	222
3. थोड़ा और सोचिये	164	8. पूजन से शुभ भाव और पापों का नाश	222
4. चारों निक्षेप और भागम	168	9. अष्ट प्रकारी पूजा, श्लोक, अर्थ भावना	222
5. जिनप्रतिमा पूजन का ध्येय और लाभ	170	10. नवांग दोहे अर्थ तथा भावना	228
6. तीर्थ का महत्व और उसकी उपासना से लाभ	175	11. जिनप्रतिमा-ईश्वर उपासना का उद्देश्य	231
7. दोसोहं, सोसहं, अहं	179	12. ध्यान क्रम, कर्त्ता लक्षण, मन के भेद-लक्षण	232
8. दिगम्बर तेरहपंथ की पूजा पद्धति	182	13. परमानन्द प्राप्ति क्रम बहि- रात्म-अन्तरात्म भाव	233
9. दोनों दिगम्बर पंथों के पूजा विधान में अन्तर	185	14. परमात्मास्वरूप	234
8. आठवां प्रकाश	189-206	15. ध्याता स्वलना नहीं पाता	235
1. चैत्य सम्बन्धी विशेष विवरण	189	16. आत्मस्थिरता फल	239
2. चैत्य के पाँच-छह प्रकार	189	17. एकाग्रता	234
3. कैसी जिन प्रतिमाएं पूजन योग्य हैं	191	18. एकाग्रता रीति और प्राप्ति	235
4. घर मंदिर में पूजनीय प्रतिमा का स्वरूप	193	19. आत्म लय की अवस्था	235
5. विधि पूर्वक जिन प्रतिमा कराने		20. रूपस्थ-मानसी पूजा	235
		21. व्यवहार में वृत्ति स्वरूप का अवलोकन	238

प्रथम प्रकाश-जैनधर्म

ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं अर्हं सर्वदोष-प्रणाशन्यै नमः



जिनेन्द्रदेव (तीर्थकर प्रभु) का प्रवचन स्थल—“समोसरण”



जिनेन्द्रदेव (तीर्थङ्कर प्रभु) के आगे रहने वाले अष्टमंगल

मंगलाचरण

ॐ क्लीं सिद्धाणं णमो किञ्चा ॥

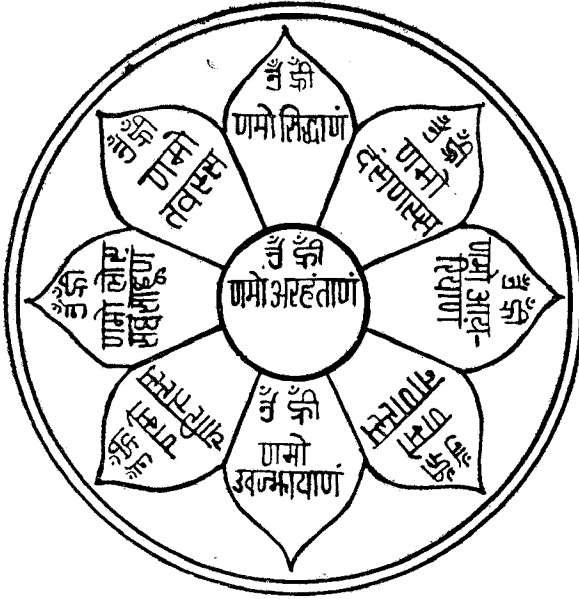
ॐ क्लीं अरहंते सरणं पवज्जामि

ॐ क्लीं साहू सरणं पवज्जामि



ॐ क्लीं सिद्धे सरणं पवज्जामि

ॐ क्लीं केवलि-पण्णत्तं
धम्मं सरणं पवज्जामि



ॐ क्लीं अरिहंत-सिद्धाचार्यो-पाध्याय-सर्व-साधुभ्यः ॥
सद्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपोभ्यस्तु ॐ क्लीं ॐ नमः ॥

जैन अध्यात्मवाद : आधुनिक सन्दर्भ में

मानव जाति को दुःखों से मुक्त करना ही भगवान महावीर का प्रमुख लक्ष्य था। उन्होंने इस तथ्य को गहराई से समझने का प्रयत्न किया कि दुःख का मूल क्या है। इसे स्पष्ट करते हुए उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि समस्त भौतिक और मानसिक दुःखों का मूल व्यक्ति की भोगासक्ति में है¹। यद्यपि भौतिकवाद मनुष्य की कामनाओं की पूर्ति के द्वारा दुःखों के निवारण का प्रयत्न करता है किन्तु वह उस कारण का उच्छेद नहीं कर सकता, जिससे दुःख का यह स्रोत प्रस्फुटित होता है। भौतिकवाद के पास मनुष्य की तृष्णा को समाप्त करने का कोई उपाय नहीं है। वह इच्छाओं की पूर्ति के द्वारा मानवीय अकांक्षाओं को परितृप्त करना चाहता है किन्तु यह अग्नि में डाले गये घी के समान उसे परिशान्त करने की अपेक्षा बढ़ाता है। उत्तराध्ययन सूत्र में बहुत ही स्पष्ट रूप से कहा गया है कि चाहे सोने और चांदी के कैलाश के समान असंख्य पर्वत भी खड़े हो जायें किन्तु वे मनुष्य की तृष्णा को पूरा करने में असमर्थ हैं²। न केवल जैनधर्म अपितु सभी अध्यात्मिक धर्मों ने एक मत से इस तथ्य को स्वीकार किया है कि समस्त दुःखों का मूल कारण आसक्ति, तृष्णा या ममत्व बुद्धि है किन्तु तृष्णा की समाप्ति का उपाय इच्छाओं एवं आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं है। भौतिकवाद हमें सुख और सुविधा के साधन तो दे सकता है किन्तु वह मनुष्य की आसक्ति या तृष्णा का निराकरण नहीं कर सकता। इस दिशा में उसका प्रयत्न तो टहनियों को काटकर जड़ को सींचने के समान है। जैनागमों में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि तृष्णा आकाश के समान अतन्त है, उसकी पूर्ति संभव नहीं है³। यदि हम मानव जाति को स्वार्थ, हिंसा, शोषण भ्रष्टाचार एवं तज्जनित दुःखों से मुक्त करना चाहते हैं तो हमें भौतिकवादी दृष्टि का त्याग करके आध्यात्मिक दृष्टि का विकास करना होगा।

अध्यात्मवाद क्या है ?

किन्तु यहाँ हमें यह समझ लेना होगा कि अध्यात्मवाद से हमारा तात्पर्य क्या है ? अध्यात्म शब्द की उत्पत्ति अधि+आत्म से है। अर्थात् वह आत्मा की श्रेष्ठता या उच्चता का सूचक है। आचारांग में इसके लिये अज्झप्प या अज्झत्थ⁴

1-उत्तराध्ययन सूत्र 32/9 । 2-वही 9/48 । 3-वही 9/48 । 4-आचारांग

5/36; 4/29

शब्द का प्रयोग है जो आन्तरिक पवित्रता या आन्तरिक विशुद्धि का सूचक है । जैन धर्म के अनुसार अध्यात्मवाद वह दृष्टि है जो यह मानती है कि भौतिक सुख सुविधाओं की उपलब्धि ही अन्तिम लक्ष्य नहीं है । देहिक एवं आधिक मूल्यों के परे उच्च मूल्य भी हैं और इन उच्च मूल्यों की उपलब्धि ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है । जैन त्रिचारकों की दृष्टि में अध्यात्मवाद का अर्थ है पदार्थ को परममूल्य न मानकर आत्मा को परममूल्य मानना । भौतिकवादी दृष्टि मानवीय दुःख और सुख का आधार वस्तु को मानकर चलती है उसके अनुसार सुख और दुःख वस्तुगत तथ्य है । भौतिकवादी सुखों की लालसा में वस्तुओं के पीछे दौड़ता है और उसकी उपलब्धि हेतु चोरी, शोषण और संग्रह जैसी सामाजिक बुराइयों को जन्म देता है । इसके विपरीत जैन अध्यात्मवाद हमें यह सिखाता है कि सुख और दुःख का केन्द्र वस्तु में न होकर आत्मा में है । जैनदर्शन के अनुसार सुख और दुःख आत्मकृत हैं⁵ । अतः वास्तविक आनन्द की उपलब्धि पदार्थों से न होकर आत्मा से होती है । उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि आत्मा ही अपने सुख दुःखों का कर्ता और भोक्ता है । वही अपना मित्र है और वही अपना शत्रु है । सुप्रतिष्ठित अर्थात् सद्गुणों में स्थित आत्मा मित्र है और दुष्प्रतिष्ठित अर्थात् दुर्गुणों में स्थित आत्मा शत्रु है⁶ । आतुरप्रकरण नामक जैन ग्रंथ में अध्यात्म का हार्दिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि ज्ञान और दर्शन से युक्त शाश्वत आत्मतत्त्व ही मेरा है, शेष सभी बाह्य पदार्थ संयोग से उपलब्ध हुए हैं । इसलिये ये मेरे अने नहीं हैं । इस संयोग-जन्म उपलब्धियों को अपना मान लेने या उन पर ममत्व रखने के कारण ही जीव दुःख परम्परा को प्राप्त करता है अतः उन संयोगिक पदार्थों के प्रति ममत्व भाव का सर्वथा विसर्जन कर देना चाहिये⁷ । संक्षेप में जैन अध्यात्मवाद के अनुसार देह, आदि सभी आत्मेतर पदार्थों के प्रति ममत्व बुद्धि का त्याग ही साधना का मूल स्रोत है । वस्तुतः जहाँ अध्यात्मवाद पदार्थ के स्थान पर आत्मा को अपना साध्य मानता है, वहाँ भौतिकवाद में पदार्थ ही परम मूल्य बन जाता है । अध्यात्मवाद में आत्मा का ही परम मूल्य होता है । जैन अध्यात्मवाद आत्मोपलब्धि के लिये पदार्थों के प्रति ममत्व बुद्धि का त्याग आवश्यक मानता है । उसके अनुसार ममता के विसर्जन से ही समता (Equanimity) का सर्जन होता है ।

जैन अध्यात्मवाद का लक्ष्य आत्मोपलब्धि

जैन धर्म में ममत्व के विसर्जन को ही आत्मोपलब्धि का एक मात्र उपाय इसलिए माना गया है कि जब तक व्यक्ति में ममत्व बुद्धि या आसक्तिभाव रहता है तब तक व्यक्ति की दृष्टि 'स्व' में नहीं अपितु 'पर' अर्थात् पदार्थ में केन्द्रित रहती है ।

5-उत्तराध्ययन सूत्र 20/30 (पूर्वार्द्ध) 6-वही 20/37 (उत्तरार्द्ध) ।

7-आतुरप्रकरण 26/29

वह पर में स्थित होता है। यह पदार्थ-केन्द्रित दृष्टि ही या पर में स्थित होना ही भौतिकवाद का मूल आधार है। जैन दार्शनिकों के अनुसार 'पर' अर्थात् आत्मेतर वस्तु में अपनत्व का भाव और पदार्थ को परम मूल्य मानना यही भौतिकवाद या मिथ्या दृष्टि का लक्षण है। आत्मवादी या अध्यात्मवादी व्यक्ति की दृष्टि पदार्थ केन्द्रित न होकर आत्म-केन्द्रित होती है। वह आत्मा को ही परम मूल्य मानता है अपने स्वस्वरूप या स्वभाव दशा की उपलब्धि को ही अपनी साधना का लक्ष्य बनाता है इसे ही जैन पारिभाषिक शब्दावली में सम्यक्-दृष्टि कहा गया है। भौतिकवाद मिथ्यादृष्टि है और अध्यात्मवाद सम्यक्-दृष्टि है।

आत्मा का स्वरूप एवं साध्य—

यहाँ स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठ सकता है कि जैन धर्म में आत्मा का स्वरूप क्या है? आचारांग सूत्र में आत्मा के स्वरूप-लक्षण को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जो आत्मा है वह विज्ञाता है और जो विज्ञाता है वही आत्मा है⁸। इस प्रकार ज्ञाता भाव में स्थित होना ही स्व स्वभाव में स्थित होना है। आधुनिक मनोविज्ञान में चेतना के तीन पक्ष माने गये हैं—ज्ञानात्मक, भावात्मक और संकल्पात्मक, उसमें भावात्मक और संकल्पात्मक पक्ष वस्तुतः भोक्ता-भाव और कर्ता-भाव के सूचक हैं। जब तक आत्मा कर्ता [doer] या भोक्ता (enjoyer) होता है तब तक वह स्व स्वरूप को उपलब्ध नहीं होता क्योंकि यहाँ चित्त-विकल्प या आकांक्षा बनी रहती है। अतः उसके द्वारा चित्त-समाधि या आत्मोपलब्धि संभव नहीं है। विशुद्ध ज्ञाताभाव या साक्षीभाव ही ऐसा तथ्य है जो आत्मा को निराकुल समाधि की अवस्था में स्थित कर दुःखों से मुक्त कर सकता है।

एक अन्य दृष्टि से जैन धर्म में आत्मा का स्वरूप-लक्षण समत्व (equanimity) भी बताया गया है। भगवती सूत्र में गौतम ने भगवान महावीर के सम्मुख दो प्रश्न उपस्थित किये। आत्मा क्या है और उसका साध्य क्या है? महावीर ने इन प्रश्नों के जो उत्तर दिये वे जैन धर्म के हार्द को स्पष्ट कर देते हैं। उन्होंने कहा था कि आत्मा समत्व स्वरूप है और समत्व की उपलब्धि कर लेना वही आत्मा का साध्य है⁹। आचारांग सूत्र में भी समता को धर्म कहा गया है¹⁰। वहाँ समता को धर्म इसलिये कहा है कि वह हमारा स्व स्वभाव है और वस्तु स्वभाव ही धर्म है (वस्तु सहावो धम्मो)। जैन दार्शनिकों के अनुसार स्वभाव से भिन्न आदर्श की कल्पना अयथार्थ है। जो हमारा मूलस्वभाव और स्वलक्षण है वही हमारा साध्य हो सकता है। जैन परिभाषा में नित्य एवं निरपवाद वस्तु धर्म ही स्वभाव है। आत्मा का स्व स्वरूप और आत्मा का साध्य दोनों ही समता है। यह बात जीव वैज्ञानिक दृष्टि से भी सत्य सिद्ध होती है। आधुनिक जीव विज्ञान में भी समत्व के संस्थापन को जीवन का लक्षण

बताया गया है। यद्यपि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद 'समत्व' के स्थान पर 'संघर्ष' को जीवन का स्वभाव बताता है और कहता है कि संघर्ष ही जीवन का नियम है, मानवीय इतिहास वर्ग संघर्ष की कहानी है।" किन्तु यह एक मिथ्या धारणा है। संघर्ष सदैव निराकरण का विषय रहा है। कोई भी चेतन सत्ता संघर्षशील दशा में नहीं रहना चाहती। संघर्ष का निराकरण करना ही चाहती है। यदि संघर्ष निराकरण की वस्तु है तो उसे स्वभाव नहीं कहा जा सकता। संघर्ष मानव इतिहास का एक तथ्य हो सकता है किन्तु वह मानव के विभाव का इतिहास है, स्वभाव का नहीं। चैतसिक जीवन में तनाव या विचलन पाये जाते हैं। किन्तु वे जीवन के स्वभाव नहीं हैं। क्योंकि जीवन की प्रक्रिया सदैव ही उन्हें समाप्त करने की दिशा में प्रयासशील है। चैतसिक जीवन का मूल स्वभाव यही है कि वह बाह्य और आंतरिक उत्तेजनाओं एवं संवेदनाओं से उत्पन्न विक्षोभों को समाप्त कर, समत्व को बनाये रखने का प्रयास करता है। अतः जैन धर्म में समता को आत्मा या चेतना का स्वभाव कहा गया है और उसे ही धर्म के रूप में पारिभाषित किया गया है। यह सत्य है कि जैन धर्म में धर्म साधना का मूलभूत लक्ष्य कामना, आसक्ति, राग-द्वेष और वितर्क आदि मानसिक असंतुलनों और तनावों को समाप्त कर अनासक्त और निराकुल वीतराग चेतना की उपलब्धि माना गया है। आसक्ति या ममत्क बुद्धि राग और द्वेष के भाव पैदा कर व्यक्ति को पदार्थपक्षी बनाती है। आसक्त व्यक्ति अपने को 'पर' में खोजता है। जबकि अनासक्त या वीतराग दृष्टि व्यक्ति को 'स्व' में केन्द्रित करती है। दूसरे शब्दों में जैन धर्म में वीतराग ही सच्चे अर्थ में समभाव में अथवा साक्षी भाव में स्थित रह सकता है। जो चेतना समभाव या साक्षी भाव में स्थित रह सकती है वही निराकुल दशा को प्राप्त होती है और जो निराकुल दशा को प्राप्त होती है वही शाश्वत सुखों का आस्वाद करती है। जैन धर्म में आत्मोपलब्धि या स्वरूप-उपलब्धि को जो जीवन का लक्ष्य माना गया है, वह वस्तुतः वीतराग दशा में ही सम्भव है और इसलिये प्रकारान्तर से वीतरागता को भी जीवन का लक्ष्य कहा गया है। वीतरागता का ही दूसरा नाम समभाव या साक्षीभाव है। यही समभाव हमारा वास्तविक स्वरूप है। इस अवस्था को प्राप्त कर लेना ही हमारे जीवन का परम साध्य है।

साध्य और साधना मार्ग का आत्मा से अभेद

जैन धर्म में साधक, साध्य और साधनामार्ग तीनों ही आत्मा से अभिन्न माने गये हैं। आत्मा ही साधक है, आत्मा ही साध्य है और आत्मा ही साधनामार्ग है। अध्यात्मतत्त्वालोक में कहा गया है कि आत्मा ही संसार है और आत्मा ही मोक्ष है, जब तक आत्मा कषाय और इन्द्रियों के वशीभूत है, वह संसार है। किन्तु जब

वह उन्हें अपने वशीभूत कर लेता है तो मुक्त कहा जाता है¹¹ । आचार्य अमृतचन्द्र समयसार की टीका में लिखते हैं कि द्रव्य का परिहार और शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि ही सिद्धि है¹² । आचार्य हेमचन्द्र ने भी साध्य और साधक में भेद बताते हुए योगशास्त्र में कहा है कि कषाय और इन्द्रियों से पराजित आत्मा बद्ध और उन्हें विजित करने वाला आत्मा ही प्रबुद्ध पुरुषों द्वारा मुक्त कहा गया है¹³ । वस्तुतः आत्मा की वासनाओं से युक्त अवस्था ही बन्धन है और वासनाओं तथा विकल्पों से रहित शुद्ध आत्मदशा ही मोक्ष है । जैन अध्यात्मवाद का कथन है कि साधक का आदर्श उसके बाहर नहीं किन्तु उसके अन्दर है । धर्म साधना के द्वारा जो कुछ पाया जाता है वह बाह्य उपलब्धि नहीं अपितु निज गुणों का पूर्ण प्रकटन है । हमारी मूलभूत क्षमताएँ साधक अवस्था और सिद्ध अवस्था में समान ही हैं । साधक और सिद्ध अवस्थाओं में अंतर क्षमताओं का नहीं, परन्तु क्षमताओं को योग्यताओं में बदल देने का है । जिस प्रकार बीज वृक्ष के रूप में विकसित होने की क्षमता रखता है और वह वृक्ष रूप में विकसित होकर अपनी पूर्णता को प्राप्त कर लेता है । वैसे ही आत्मा भी परमात्मदशा प्राप्त करने की क्षमता रखता है और उसे उपलब्ध कर पूर्ण हो जाता है । जैन धर्म के अनुसार अपनी ही बीज रूप क्षमताओं को पूर्ण रूप से प्रकट करना ही मुक्ति है । जैन साधना 'स्व' के द्वारा 'स्व' को उपलब्ध करना है, निज में प्रसुप्त जिनत्व को अभिव्यक्त करना है । आत्मा को ही परमात्मा के रूप में पूर्ण बनाना है । इस प्रकार साधक आत्मा का साध्य आत्मा ही है ।

जैन धर्म का साधना मार्ग भी आत्मा से भिन्न नहीं है । हमारी ही चेतना के ज्ञान, भाव और संकल्प के पक्ष सम्यक् दिशा में नियोजित होकर साधनामार्ग बन जाते हैं । जैन दर्शन में सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र्य को जो मोक्ष मार्ग कहा गया है, उसका मूल हार्द इतना ही है कि चेतना के ज्ञानात्मक, भावात्मक और संकल्पात्मक पक्ष क्रमशः सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र्य के रूप में साधनामार्ग बन जाते हैं ।

इस प्रकार साधना मार्ग भी आत्मा ही है । आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि मोक्षकामी को आत्मा को जानना चाहिये, आत्मा पर ही श्रद्धा करना चाहिये, और आत्मा को ही अनुभूति (अनुचरितव्यश्च) करना चाहिये । सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, प्रत्याख्यात (त्याग), संवर (संयम), और योग सब अपने आ को पाने के साधन हैं । क्योंकि यही आत्मा ज्ञान में है, दर्शन में है, चारित्र्य में है, त्याग में है, संवर में है और योग में है¹⁴ । जिन्हें व्यवहार नय से ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य कहा गया है । वे निश्चय नय से तो आत्मा ही हैं ।

11-अध्यात्मतत्त्वालोक 4/6 । 12-समयसार टीका 305 । 13-योग शास्त्र 4/5 । 14-समयसार 277 ।

त्रिविध साधना मार्ग—

जैन दर्शन में मोक्ष की प्राप्ति के लिये त्रिविध साधना मार्ग बताया गया है। तत्त्वार्थ सूत्र में सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र्य को मोक्ष मार्ग कहा है¹⁵। उत्तराध्ययन सूत्र में सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र्य और सम्यक् तप ऐसे चतुर्विध मोक्ष मार्ग का भी विधान है¹⁶। किन्तु जैन आचार्यों ने तप का अन्तर्भाव चारित्र्य में करके इस त्रिविध साधना को ही मान्य किया है।

संभवतः यह प्रश्न हो सकता है कि त्रिविध मोक्ष मार्ग का ही विधान क्यों किया गया है? वस्तुतः त्रिविध साधना मार्ग के विधान में जैन आचार्यों की एक गहन मनोवैज्ञानिक सूझ रही है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानवीय चेतना के तीन पहलू माने गये हैं। ज्ञान, भाव, और संकल्प। चेतना के इन तीनों पक्षों के सम्यक् विकास के लिये ही त्रिविध साधना मार्ग का विधान किया गया है। चेतना के भावात्मक पक्ष को सही दशा में नियोजित करने के लिये सम्यक् दर्शन, ज्ञानात्मक पक्ष को सही दशा में नियोजन करने के लिये ज्ञान, और संकल्पात्मक पक्ष को सही दशा में नियोजन करने के लिये सम्यक् चारित्र्य का प्रावधान किया गया है। जैन दर्शन के समान ही बौद्ध दर्शन में भी त्रिविध साधना मार्ग का विधान है। बौद्ध दर्शन के इस त्रिविध साधनामार्ग के तीन खण्ड हैं— 1. शील, 2. समाधि, 3. प्रज्ञा¹⁷।

हिन्दु धर्म के ज्ञान योग, कर्मयोग और भक्तियोग भी त्रिविध साधना मार्ग का ही एक रूप है। गीता में प्रसंगान्तर से त्रिविध साधना मार्ग के रूप में प्रणिपात परिश्रम और सेवा का भी उल्लेख है¹⁸। इसमें प्रणिपात श्रद्धा का, परिश्रम ज्ञान का और सेवा चारित्र्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। उपनिषदों में श्रवण, मनन और निदिध्यासन के रूप में भी त्रिविध साधना मार्ग का प्रस्तुतीकरण हुआ है। यदि हम गहराई से देखें तो इन में श्रवण श्रद्धा के, मनन ज्ञान के और निदिध्यासन कर्म के अन्तर्भूत हो सकते हैं।

पाश्चात्य परम्परा में भी तीन आदेश उपलब्ध होते हैं—1-स्वयं को जानो (Know Thyself) 2-स्वयं को स्वीकार करो (Accept Thyself) और 3-स्वयं ही बन जाओ (Be Thyself)। पाश्चात्य चिन्तन के तीन आदेश ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य के ही समकक्ष हैं। आत्मज्ञान में ज्ञान का तत्त्व, आत्मस्वीकृति में श्रद्धा का तत्त्व और आत्म निर्माण में चारित्र्य का तत्त्व उपस्थित है।

जैन दर्शन	बौद्ध दर्शन	हिन्दु धर्म	गीता	उपनिषद	पाश्चात्य दर्शन
सम्यक् ज्ञान	प्रज्ञा	ज्ञान	परिश्रम	मनन	Know Thyself
सम्यक् दर्शन	समाधि	भक्ति	प्रणिपात	श्रवण	Accept Thyself
सम्यक् चारित्र्य	शील	कर्म	सेवा	निदिध्यासन	Be Thyself

15-तत्त्वार्थ 1/1। 16-उत्तराध्ययन सूत्र 28/2। 17-सुक्त निपात 28/8।

18-गीता 4/34। 19- Psychology and morals P. 32

त्रिविध साधनामार्ग और मुक्ति

कुछ भारतीय विचारकों ने इस त्रिविध साधना मार्ग के किसी एक ही पक्ष को मोक्ष की प्राप्ति का साधन मान लिया है। आचार्य शंकर मात्र ज्ञान से, रामानुज मात्र भक्ति से मुक्ति की संभावना को स्वीकार करते हैं। लेकिन जैन दार्शनिक ऐसे किसी एकान्त वादिता में नहीं पड़ते। उनके अनुसार ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य (ज्ञान, कर्म, भक्ति) की समवेत साधना ही मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग है। इसमें से किसी एक के अभाव में मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं है। उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता और ज्ञान के अभाव में आचरण सम्यक् नहीं होता है। और सम्यक् आचरण के अभाव में मुक्ति भी नहीं होती है²⁰। इस प्रकार मुक्ति की प्राप्ति के लिये तीनों अंगों का होना आवश्यक है।

सम्यक् दर्शन—

जैनागमों में दर्शन शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है और उस के अर्थ के सम्बन्ध में जैन परम्परा में काफी विवाद रहा है। दर्शन शब्द को ज्ञान से अलग करते हुए विचारकों ने दर्शन को अन्तर्बोध या प्रज्ञा और ज्ञान को बौद्धिक ज्ञान कहा है। दर्शन शब्द का दृष्टिकोण परक अर्थ भी लिया गया है। प्राचीन जैन आगमों में दर्शन शब्द के स्थान पर दृष्टि शब्द का प्रयोग उसके दृष्टिकोण-परक अर्थ का द्योतक है। उत्तराध्ययन सूत्र एवं तत्त्वार्थ सूत्र में दर्शन शब्द का अर्थ तत्त्वश्रद्धा भी माना गया है²¹। परवर्ती जैन साहित्य में दर्शन शब्द को देव, गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धा या भक्ति के अर्थ में भी प्रयुक्त किया गया है। इस प्रकार जैन परम्परा में सम्यक् दर्शन—आत्म-साक्षात्कार, तत्त्वश्रद्धा, अन्तर्बोध, दृष्टिकोण, श्रद्धा और भक्ति आदि अनेक अर्थों को अपने में समेटे हुए हैं।

सम्यक् दर्शन को चाहे यथार्थ दृष्टि कहें या तत्त्वार्थ श्रद्धा उस में वास्तविकता की दृष्टि से अधिक अन्तर नहीं होता है। अन्तर होता है उनकी उपलब्धि की विधि में। एक वैज्ञानिक स्वतः प्रयोग के आधार पर किसी सत्य का उद्घाटन कर वस्तु तत्त्व के यथार्थ स्वरूप को जानता है, किन्तु दूसरा वैज्ञानिक के कथनों पर विश्वास करके भी वस्तु तत्त्व के यथार्थ स्वरूप को जानता है। यद्यपि यहाँ दोनों का ही दृष्टिकोण यथार्थ होगा, फिर भी एक ने स्वानुभूति में पाया है तो दूसरे ने उसे श्रद्धा के माध्यम से। श्रद्धा ही सम्यक् दृष्टि हो तो भी यह अर्थ अन्तिम नहीं है, अन्तिम अर्थ स्वानुभूति ही है और यही सम्यक् दर्शन होता है निर्विकार, निराकुल चित्तवृत्ति से। अतः प्रकारान्तर से उसे भी सम्यक्-दृष्टि कहा जाता है।

20-उत्तराध्ययन सूत्र 28/30। 21—उत्तराध्ययन सूत्र 28/35 व तत्त्वार्थ सूत्र 1/2

सम्यक् दर्शन के पाँच लक्षण —

जैनधर्म में सम्यक् दर्शन के पाँच लक्षण बताये गये हैं—1—सम अर्थात् समभाव, 2 संवेग अर्थात् आत्मा के आनन्दमय स्वरूप की अनुभूति अथवा सत्याभीप्सा, 3-निर्वेद अर्थात् अनासक्ति या वैराग्य, 4-अनुकम्पा अर्थात् दूसरे व्यक्ति की पीड़ा को आत्मवत् समझना और उसके प्रति करुणा का भाव रखना, 5-आस्तिक्य अर्थात्, पुण्य, पाप, पुनर्जन्म, कर्म सिद्धांत और आत्म अस्तित्व को स्वीकार करना ।

सम्यक् दर्शन के छह स्थान —

जिस प्रकार बौद्ध साधना के अनुसार दुःख है, दुःख का कारण है, दुःख से निवृत्ति हो सकती है और दुःख निवृत्ति का मार्ग है; इन चार आर्य सत्यां की स्वीकृति सम्यग्दृष्टि है, उसी प्रकार जैन साधना के अनुसार षट् स्थानकों (छह बातों) की स्वीकृति सम्यक् दर्शन है—1 आत्मा है, 2-आत्मा नित्य है, 3 आत्मा अपने कर्मों का कर्ता है 4-आत्मा कृत कर्मों के फल का भोक्ता है, 5-आत्मा मुक्ति प्राप्त कर सकता है और 6-मुक्ति का उपाय (मार्ग) है²² ।

जैन-तत्त्व विचारणा के अनुसार इन षट् स्थानकों पर दृढ़ प्रतीति सम्यग्दर्शन की साधना का आवश्यक अंग है । दृष्टिकोण की विशुद्धता एवं सदाचार दोनों ही इन पर निर्भर हैं । षट् स्थानक जैन साधना के केन्द्र बिन्दु हैं ।

सम्यक् ज्ञान—

दृष्टिकोण की विशुद्धि पर ही ज्ञान की सम्यक्ता निर्भर करती है । अतः जैन साधना का दूसरा चरण है सम्यक्-ज्ञान । सम्यक्-ज्ञान को मुक्ति का साधन स्वीकार किया गया है, लेकिन कौन सा ज्ञान मुक्ति के लिए आवश्यक है, यह विचारणीय है । जैन दर्शन में सम्यक् ज्ञान के दो रूप पाये जाते हैं । सामान्य दृष्टि से सम्यक्-ज्ञान वस्तु तत्त्व का उस के अनन्त पहलुओं से युक्त ज्ञान है और इस रूप में वह विचार शुद्धि का माध्यम है । जैन दर्शन के अनुसार एकांगी ज्ञान मिथ्यात्व है क्योंकि वह सत्य के अनन्त पक्षों का अपलाप करता है । जब तक आग्रह बुद्धि है तब तक वीतरागता संभव ही नहीं है और जब तक वीतराग दृष्टि नहीं है तब तक यथार्थ ज्ञान भी असंभव है । जैन दर्शन के अनुसार सत्य के अनन्त पहलुओं को जानने के लिए अनेकान्त दृष्टि सम्यक्-ज्ञान की अनिवार्य शर्त है । एकान्त दृष्टि या वैचारिक आग्रह अपने में निहित छद्मराग के कारण सत्य को रंगीन कर देता है । अतः एकान्त और आग्रह सत्य के साक्षात्कार में बाधक है । जैन साधना की दृष्टि से वीतरागता को उपलब्ध करने के लिए वैचारिक आग्रह का परित्याग और अनाग्रही दृष्टि का निर्माण आवश्यक है और इस के माध्यम से प्राप्त ज्ञान ही सम्यक्-ज्ञान है । सम्यक्-ज्ञान का अर्थ है वस्तु को उसके अनन्त पहलुओं से जानना । जैन दर्शन में एक अन्य

दृष्टि से भी सम्यक्-ज्ञान आत्म-अनात्म का विवेक है। यह सही है कि आत्म तत्त्व को ज्ञान का विषय नहीं बनाया जा सकता उसे ज्ञाता ज्ञेय द्वैत के आधार पर नहीं जाना जा सकता क्योंकि वह स्वयं ज्ञान स्वरूप है, ज्ञाता है और ज्ञाता कभी ज्ञेय नहीं बन सकता, अतः आत्मज्ञान दुरुह है। लेकिन अनात्मतत्त्व तो ऐसा है जिसे हम ज्ञाता और ज्ञेय के द्वैत के आधार पर जान सकते हैं। सामान्य व्यक्ति भी अपने साधारण ज्ञान के द्वारा इतना तो जान ही सकता है कि उसके ज्ञान के विषय क्या है ? और इस से वह यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि जो उसके ज्ञान के विषय है वे उस के स्वरूप नहीं हैं, वे अनात्म हैं। सम्यक्-ज्ञान आत्म-ज्ञान है, किन्तु आत्मा को अनात्म के माध्यम से ही पहचाना जा सकता है। अनात्म के स्वरूप को जान कर अनात्म से आत्म का भेद करना यही भेद विज्ञान है और यही जैन दर्शन में सम्यक्-ज्ञान का मूल अर्थ है।

इस प्रकार जैन दर्शन में सम्यग्ज्ञान आत्म-अनात्म का विवेक है। जैनों की पारिभाषिक शब्दावली में इसे भेद विज्ञान कहा जाता है। आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार जो कोई सिद्ध है वे इस आत्म अनात्म के विवेक या भेद विज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं और जो बन्धन में हैं, वे इसके अभाव के कारण ही हैं²³। आचार्य कुन्द-कुन्द ने समयसार में इस भेद विज्ञान का अत्यन्त गहन विवेचन किया है, किन्तु विस्तार पूर्वक यह समग्र विवेचना यहाँ संभव नहीं है।

सम्यक् चारित्र—

जैन परम्परा में साधना का तीसरा चरण सम्यक्-चारित्र है। इसके दो रूप माने गये हैं 1—व्यवहार चारित्र और 2—निश्चय चारित्र : आचरण का बाह्य पक्ष या आचरण के विधि-विधान व्यवहार चारित्र कहे जाते हैं। जब कि आचरण की अन्तरात्मा निश्चय चारित्र कही जाती है। जहाँ तक नैतिकता के वैयक्तिक दृष्टिकोण का प्रश्न है अथवा व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास का प्रश्न है, निश्चयात्मक चारित्र ही उस का मूलभूत आधार है। लेकिन जहाँ तक सामाजिक जीवन का प्रश्न है, चारित्र का बाह्य पक्ष ही प्रमुख है।

निश्चय दृष्टि (Real View Point) से चारित्र का सच्चा अर्थ समभाव या समत्व की उपलब्धि है। मानसिक या चैतसिक जीवन में समत्व की उपलब्धि यही चारित्र का पारमार्थिक या नैश्वयिक पक्ष है। वस्तुतः चारित्र का यह पक्ष आत्मरमण की स्थिति है। नैश्वयिक चारित्र का प्रादुर्भाव केवल अप्रमत्त अवस्था में ही होता है। अप्रमत्त चेतना की अवस्था में होने वाले सभी कार्य शुद्ध माने गये हैं, चेतना में जब राग, द्वेष, कषाय और वासनाओं की अग्नि पूरी तरह शांत हो जाती है तभी सच्चे

नैतिक एवं धार्मिक जीवन का उद्भव होता है और ऐसा ही सदाचार मोक्ष का कारण होता है साधक जब जीवन की प्रत्येक क्रिया के सम्पादन में आत्म-जाग्रत होता है, उसका आचरण बाह्य आवेगों और वासनाओं से चलित नहीं होता है तभी वह सच्चे अर्थों में नैश्चयिक चारित्र का पालनकर्त्ता माना जाता है। यही नैश्चयिक चारित्र मुक्ति का सोपान कहा गया है।

व्यवहार चारित्र—

व्यवहार चारित्र का सम्बन्ध आचार के नियमों के परिपालन से है। व्यवहार-चारित्र को देशव्रती चारित्र और सर्वव्रती चारित्र ऐसे दो वर्गों में विभाजित किया गया है। देशव्रती चारित्र का सम्बन्ध गृहस्थ उपासकों से और सर्वव्रती चारित्र का सम्बन्ध श्रमणवर्ग से है। जैन परम्परा में गृहस्थाचार के अन्तर्गत अष्टमूलगुण, षट्कर्म, बारहव्रत, और ग्यारह प्रतिमाओं (अथवा सप्त व्यसन त्याग, 21 मार्गानुसारी गुण, सम्यक्त्व मूल-बारहव्रत, षडावश्यक, षट्कर्म, ग्यारह प्रतिमाओं) का पालन आता है। श्रमणाचार के अन्तर्गत पंचमहाव्रत, रात्रि भोजन निषेध, पांचसमिति, तीन गुप्ति, दस यतिधर्म, बारह अनुप्रेक्षाएँ, बाईस परिषह जय, षडावश्यक, अट्ठाइस मूलगुण, द्वावन अनाचार त्याग आदि का विवेचन उपलब्ध है। इस के अतिरिक्त भोजन, वस्त्र, पात्र, आवास संबन्धी विधि निषेध है।

साधनत्रय का पूर्वापर सम्बन्ध—

दर्शन, ज्ञान और चारित्र की पूर्वापरता को लेकर जैन विचारणा में कोई विवाद नहीं है। जैन आगमों में दर्शन की प्राथमिकता बताते हुए कहा गया है कि सम्यग्दर्शन के अभाव में सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र नहीं होता। भक्तपरीक्षा में कहा गया है कि दर्शन से भ्रष्ट (पतित) ही वास्तविक रूप से भ्रष्ट है, चारित्र से भ्रष्ट, भ्रष्ट नहीं है, क्योंकि जो दर्शन से युक्त है, वह संसार में अधिक परिभ्रमण नहीं करता जबकि दर्शन से भ्रष्ट व्यक्ति संसार से मुक्त नहीं होता है।²⁵ वस्तुतः दृष्टि-कोण या श्रद्धा ही एक ऐसा तत्त्व है जो व्यक्ति के ज्ञान और आचरण को सही दिशा निर्देश कर सकता है! आचार्य भद्रबाहु आचारांग नियुक्ति में कहते हैं कि सम्यक् दृष्टि से ही तप, ज्ञान और सदाचरण सफल होते हैं।²⁶ जहाँ तक ज्ञान और चारित्र का सम्बन्ध है, जैन विचारकों ने चारित्र को ज्ञान के बाद ही स्थान दिया है। उत्तराध्ययन सूत्र में यही बताया गया है कि सम्यक् ज्ञान के अभाव में सदाचरण नहीं होता इस प्रकार जैन दर्शन में आचरण के पूर्व सम्यक् ज्ञान का होना आवश्यक है। फिर भी वे यह स्वीकार नहीं करते हैं कि अकेला ज्ञान ही मुक्ति का साधन हो सकता है। महावीर ने ज्ञान और आचरण दोनों से समन्वित साधना पथ का उपदेश दिया है। सूत्रकृतांग

में महावीर कहते हैं कि मनुष्य चाहे वह ब्राह्मण हो, भिक्षुक हो अथवा अनेक शास्त्रों का जानकार हो यदि उस का आचरण अच्छा नहीं है तो वह अपने कृत कर्मों के कारण दुःखी ही होगा।²⁷ उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है कि अनेक भाषाओं एवं शास्त्रों का ज्ञान आत्मा को शरणभूत नहीं होता। दुराचरण में अनुरक्त अपने आपको पंडित मानने वाले लोग वस्तुतः मूर्ख ही हैं। वे केवल वचनों से ही अपनी आत्मा को आश्वासन देते हैं।²⁸ आवश्यक नियुक्ति में ज्ञान और आचरण के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन अत्यन्त विस्तृत रूप से किया गया है। आचार्य भद्रबाहु कहते हैं कि आचरण-विहीन अनेक शास्त्रों के ज्ञाता भी संसार समुद्र से पार नहीं होते। ज्ञान और क्रिया के पारस्परिक सम्बन्ध को लोक प्रसिद्ध अंध-पंगु न्याय के आधार पर स्पष्ट करते हुए आचार्य लिखते हैं कि जिस प्रकार एक चक्र से रथ नहीं चलता है, या अकेला अंघा अथवा अकेला पंगु इच्छित स्थान पर नहीं पहुंचते। वैसे ही मात्र क्रिया या मात्र ज्ञान से मुक्ति नहीं होती, अपितु दोनों के सहयोग से ही मुक्ति होती है।

जैन पर्वों की अध्यात्मिक प्रकृति—

न केवल जैन साधना पद्धति की प्रकृति ही अध्यात्मवादी है अपितु जैन पर्व भी मूलतः अध्यात्मवादी ही हैं। जैन पर्व आमोद-प्रमोद के लिए न होकर आत्मसाधना और तप साधना के लिए होते हैं। उनमें मूलतः तप, त्याग, व्रत, एवं उपवासों की प्रधानता होती है। जैनों के प्रसिद्ध पर्वों में श्वेताम्बर परम्परा में पर्युषण पर्व और दिगम्बर परम्परा में दस लक्षण पर्व है। जो भाद्रपद में मनाये जाते हैं। इन दिनों में जिन मन्दिरों में जिन प्रतिमाओं की पूजा, उपवास, (पौष, षडावश्यक) आदि तथा घर्म ग्रन्थों का स्वाध्याय, श्रवण यही साधकों की दिनचर्या के प्रमुख अंग होते हैं। इन पर्वों के दिनों में जहां दिगम्बर परम्परा में प्रतिदिन क्षमा, विनम्रता, सरलता, पवित्रता, सत्य, संयम, ब्रह्मचर्यादि दस घर्मों (सद्गुणों) की विशिष्ट साधना की जाती है, वहाँ श्वेतांबर परम्परा में इन दिनों प्रतिक्रमण षडावश्यक (सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान) रूप में आत्म पर्यावलोकन किया जाता है। श्वेतांबर परम्परा का अन्तिम दिन संवत्सरी पर्व के नाम से मनाया जाता है और इस दिन समग्र वर्ष के चारित्रिक स्वलन या असदाचरण और वैर-विरोध के लिए आत्म पर्यावलोकन (प्रतिक्रमण) किया जाता है एवं प्रायश्चित्त

27-सूत्रकृतांग 2/1/3 । 28-उत्तराध्ययन-6/9-11 । 29-आवश्यक नियुक्ति 95-9 ।

श्रमण संघ व्यवस्था—

श्रमण संघ की व्यवस्था के लिए सात पद निर्धारित किये गये हैं 1-गणघर, 2-आचार्य, 3-उपाध्याय, 4-स्थविर, 5-प्रवर्तक, 6-गणि, 7-गणावच्छेदक ।

ग्रहण किया जाता है। इस दिन शत्रु-मित्र आदि सभी से क्षमा-याचना की जाती है। इस दिन जैन साधक का उद्घोष होता है—मैं सब जीवों को क्षमा प्रदान करता हूँ और सभी जीव मुझे क्षमा प्रदान करें, मेरी सभी प्राणी वर्ग से मित्रता है और किसी से कोई वैर-विरोध नहीं है। इन पर्व के दिनों में अहिंसा का पालन करना और करवाना भी एक प्रमुख कार्य होता है। प्राचीन काल में अनेक जैनाचार्यों ने अपने प्रभाव से शासकों द्वारा इन दिनों को अहिंसक दिनों के रूप में घोषित करवाया था। इस प्रमुख पर्व के अतिरिक्त अष्टान्हिका पर्व, श्रुतपंचमी, तथा तीर्थंकरों के च्यवन (गर्भ प्रवेश), जन्म, दीक्षा, कंबल्य प्राप्ति एवं निर्वाण दिवसों को भी पर्व के रूप में मनाया जाता है। इन दिनों में भी सामान्यतया उपास आदि तप किया जाता है और जिन प्रतिमाओं की विशेष समारोह के साथ पूजाएँ की जाती हैं। दीपावली का पर्व भी भगवान महावीर के निर्वाण दिवस के रूप में जैन समुदाय के द्वारा बड़े उत्साह के साथ मनाया जाता है।

जैन अध्यात्मवाद और लोक कल्याण—

यह सत्य है कि जैन धर्म (मुख्य रूप से) सन्यासमार्गी धर्म है। इसकी साधना में आत्मशुद्धि और आत्मोपलब्धि पर अधिक जोर दिया गया है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि जैन धर्म में लोक-मंगल या लोक-कल्याण का कोई स्थान नहीं है। जैन धर्म यह तो अवश्य मानता है कि वैयक्तिक साधना की दृष्टि से एकाकी जीवन अधिक उपयुक्त है किन्तु इसके साथ ही साथ वह यह भी मानता है कि उस साधना से प्राप्त सिद्धि का उपयोग सामाजिक कल्याण की दिशा में होना चाहिए। महावीर का जीवन स्वयं इस बात का साक्षी है कि साढ़े बारह वर्षों तक एकाकी साधना करने के बाद वे पुनः सामाजिक जीवन में लौट आये। उन्होंने चतुर्विधसंघ साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका की स्थापना की तथा जीवन भर उस का मार्ग दर्शन करते रहे। जैन धर्म सामाजिक कल्याण और सामाजिक सेवा को आवश्यक मानता है, किन्तु वह व्यक्ति के सुधार से समाज के सुधार की दिशा में आगे बढ़ता है। व्यक्ति समाज की प्रथम इकाई है, जब तक व्यक्ति नहीं सुधरेगा तब तक समाज नहीं सुधर सकता। जब तक व्यक्ति के जीवन में नैतिक और आध्यात्मिक चेतना का विकास नहीं होता तब तक सामाजिक जीवन में सुव्यवस्था और शांति की स्थापना नहीं हो सकती। जो व्यक्ति अपने स्वार्थों और वासनाओं पर नियन्त्रण नहीं कर सकता वह कभी सामाजिक हो ही नहीं सकता। लोकसेवक और जनसेवक अपने व्यक्तिगत स्वार्थों और द्वंद्वों से दूर रहें—यह जैन आचार संहिता का आधारभूत सिद्धांत है। चरित्रहीन व्यक्ति सामाजिक जीवन के लिए घातक ही सिद्ध होंगे। व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति के निमित्त जो संगठन या समुदाय बनते हैं, वे सामाजिक जीवन के सच्चे प्रतिनिधि नहीं हैं। क्या चोर, डाकू, हत्यारों और शोषकों का समाज, समाज कहलाने

का अधिकारी है ? महावीर की शिक्षा का सार यही है कि वैयक्तिक जीवन में निवृत्ति ही सामाजिक कल्याण के क्षेत्र में प्रवृत्ति का आधार बन सकती है। प्रश्नव्याकरण सूत्र में कहा गया है कि भगवान का यह सुकथित प्रवचन संसार के सभी प्राणियों के रक्षण एवं करुणा के लिए है।³⁰ जैन साधना में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—वे जो पांच व्रत माने गये हैं वे वैयक्तिक साधना के लिए ही नहीं है सामाजिक मंगल के लिए भी हैं। वे आत्मशुद्धि के साथ ही हमारे सामाजिक सम्बन्धों की शुद्धि का प्रयास भी है। जैन दार्शनिकों ने आत्महित की अपेक्षा लोकहित को सदैव ही महत्व दिया है। जैन धर्म में तीर्थंकर, गणधर, और सामान्य-केवली के जो आदर्श स्थापित किये गये हैं और उन में जो तारतम्यता निश्चय की गयी है उस का आधार विश्व-कल्याण, वर्ग-कल्याण व्यक्ति-कल्याण की भावना ही है। इस त्रिपुटी में विश्व-कल्याण के लिए प्रवृत्ति करने के कारण ही तीर्थंकर को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। स्थानांग सूत्र में ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म आदि की उपस्थिति इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि जैन साधना केवल आत्महित या वैयक्तिक विकास तक ही सीमित नहीं है वरन् उसमें लोकहित या लोक-कल्याण की प्रवृत्ति भी पायी जाती है।³¹

क्या जैन धर्म जीवन का निषेध सिखाता है ?

जैन धर्म में जो तप त्याग की महिमा गायी गई है उस के आधार पर यह भ्रांति फैलाई जाती है कि जैन धर्म जीवन का निषेध सिखाता है। अतः यहां इस भ्रांति का निराकरण कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि जैन धर्म के तप त्याग का अर्थ शारीरिक एवं भौतिक जीवन की अस्वीकृति नहीं है। आध्यात्मिक मूल्यों की स्वीकृति का यह तात्पर्य नहीं है कि शारीरिक एवं भौतिक मूल्यों की पूर्णतया उपेक्षा की जाय। जैनधर्म के अनुसार शारीरिक मूल्य अध्यात्म के बाधक नहीं, साधक हैं। निशीथभाष्य में कहा है कि मोक्ष का साधन ज्ञान है, ज्ञान का साधन शरीर है, शरीर का आधार आहार है।³² शरीर शाश्वत आनन्द के कूपर ले जाने वाली नौका है। इस दृष्टि से उसका मूल्य भी है, महत्व भी है और उसकी सार-संभाव भी करना है। किन्तु छपान रहे, दृष्टि नौका पर नहीं कूल (फिनारे) पर होना है नौका साधन है, साध्य नहीं। भौतिक एवं शारीरिक आवश्यकताओं की एक साधन के रूप में स्वीकृति जैन धर्म और सम्पूर्ण अध्यात्म विद्या का हार्दिक है। यह वह विभाजः रेखा है जो अध्यात्म और भौतिकवाद में अन्तर करती है। भौतिकवाद में उपग्रन्थियाँ या जैविक मूल्य स्वयमेव साध्य है, अन्तिम है, जब कि अध्यात्म में वे किन्हीं उच्च

30-प्रश्नव्याकरण सूत्र 2/1/2। 31-स्थानांग सूत्र 10। 32-निशीथ भाष्य

मूल्यों का साधन है। जैन धर्म की भाषा में कहें तो साधक के द्वारा वस्तुओं का त्याग और ग्रहण, दोनों ही साधना के लिए हैं। जैन धर्म की सम्पूर्ण साधना का मूल लक्ष्य तो एक ऐसे निराकुल, निर्विकार, निष्काम और वीतराग मानस की अभिव्यक्ति है जो कि वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के समस्त तनावों एवं संघर्षों को समाप्त कर सके। उस के सामने मूल प्रश्न देहिक एवं भौतिक मूल्यों की स्वीकृति का नहीं है अपितु वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में शांति की स्थापना है। अतः जहां तक और जिस रूप से देहिक और भौतिक उपलब्धियाँ उस में साधक हो सकती हैं, वहां तक वे स्वीकार्य हैं और जहां तक उस में बाधक है वहीं तक त्याज्य हैं। भगवान महावीर ने आचारारंग एवं उत्तराध्ययन सूत्र में इस बात को बहुत ही स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं कि जब इन्द्रियों का अपने विषयों से सम्पर्क होता है तब उस सम्पर्क के परिणामस्वरूप सुखद-दुःखद अनुभूति भी होती है और जीवन में यह शक्य नहीं है कि इन्द्रियों का अपने विषयों से सम्पर्क न हो और उस के कारण सुखद या दुःखद अनुभूति न हो, अतः त्याग इन्द्रियानुभूति का नहीं अपितु उस के प्रति चित्त में उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष करना है।³³ क्योंकि इन्द्रियों के मनोज्ञ या अमनोज्ञ विषय का आसक्त चित्त के लिए ही राग-द्वेष (मानसिक विकारों) का कारण बनते हैं, अनासक्त या वीतराग के लिए नहीं।³⁴ अतः जैन धर्म की मूल शिक्षा ममत्व के विसर्जन की है, जीवन के निषेध की नहीं।

जैन अध्यात्मवाद की विशेषताएँ

(अ) ईश्वरवाद से मुक्ति—जैन अध्यात्मवाद ने मनुष्य को ईश्वरीय दासता से मुक्त कर मानवीय स्वतन्त्रता की प्रतिष्ठा की है। उसने यह उद्घोष किया कि न तो ईश्वर और न कोई अन्य शक्ति ही मानव की निर्धारक है। मनुष्य स्वयं ही अपना निर्माता है। जैन धर्म ने किसी विश्वनियन्ता ईश्वर को स्वीकार करने के स्थान पर मनुष्य में ईश्वरत्व की प्रतिष्ठा की और यह बताया कि व्यक्ति ही अपनी साधना के द्वारा परमात्म-दशा को प्राप्त कर सकता है। उसने कहा 'अप्या सो परमप्या' अर्थात् आत्मा ही परमात्मा है। मनुष्य को किसी का कृपाकांक्षी न बनकर स्वयं ही पुरुषार्थ करके परमात्म-पद को प्राप्त करना है।

(ब) मानव मात्र की समानता का उद्घोष—जैन धर्म की दूसरी विशेषता यह है कि उसने वर्णवाद, जातिवाद आदि उन सभी अवधारणाओं की जो मनुष्य-मनुष्य में ऊँच नीच का भेद उत्पन्न करती है, उसे अस्वीकार किया। उसके अनुसार सभी मनुष्य समान हैं। मनुष्यों में श्रेष्ठता और कनिष्ठता का आधार न तो जाति विशेष या कुल विशेष में जन्म लेना है और न सत्ता और संपत्ति ही। वह वर्ण, रंग, जाति सम्पत्ति और सत्ता के स्थान पर आचरण की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करता है।

उत्तराध्ययन सूत्र के बारहवें एवं पच्चीसवें अध्याय में वर्ण व्यवस्था और ब्राह्मण की श्रेष्ठता की अवधारणा पर करारी चोट करते हुए यह कहा गया है कि जो सर्वथा अनासक्त, मेघावी, और सदाचारी है वह सच्चा ब्राह्मण है और वही श्रेष्ठ है। न कि किसी कुल विशेष में जन्म लेने वाला व्यक्ति।

(स) यज्ञ आदि बाह्य क्रिया-कांडों का आध्यात्मिक अर्थ—जैन परम्परा ने तीर्थस्थान आदि धर्म के नाम पर किये जाने वाले “हिंसक” कर्मकांडों की न केवल आलोचना की अपितु उन्हें एक आध्यात्मिक अर्थ भी प्रदान किया। उत्तराध्ययन सूत्र में यज्ञ के आध्यात्मिक स्वरूप का सविस्तार विवेचन है। उस में कहा है कि जीवात्मा अग्निकण्ड है; मन, वचन, काया की प्रवृत्तियाँ ही कलछी (चम्मच) है और कर्मों का नष्ट करना ही आहुति है, यही यज्ञ शांतिदायक है और ऋषियों ने ऐसे ही यज्ञ की प्रशंसा की है।³⁵ तीर्थ-स्नान को भी आध्यात्मिक अर्थ प्रदान करते हुए कहा गया है कि घर्म जलाशय है, ब्रह्मवयं घाट (तीर्थ) है, उस में स्नान करने से ही आत्मा निर्मल और शुद्ध हो जाती है।³⁶

(द) दान, दक्षिणा आदि के स्थान पर संयम श्रेष्ठता—यद्यपि जैन परम्परा ने जैनधर्म के चार अंगों में दान को स्थान दिया है किन्तु वह मानती है कि दान की अपेक्षा भी शील-संयम ही श्रेष्ठ है उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है कि प्रतिमास सहस्रों गायों का दान करने की अपेक्षा संयम का पालन अधिक श्रेष्ठ है।³⁷

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन परम्परा ने धर्म को खड़िवादिता और कर्मकांडों से मुक्त करके आध्यात्मिकता से सम्पन्न बनाया है।

(डा० सागरमल जैन-श्रमण मासिक से साभार)

ईश्वर पूजा-उपासना की आवश्यकता

ईश्वर जगत्कर्ता नहीं है। इस सिद्धान्त के अनुसंधान में यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि फिर ईश्वर पूजन करने से क्या लाभ? ईश्वर जब वीतराग है, वह प्रसन्न अथवा रुष्ट नहीं होता तब उस के पूजन का क्या प्रयोजन? इस के विषय में जैन शास्त्रकारों का ऐसा कहना है कि ईश्वर की उपासना उसे प्रसन्न करने के लिए नहीं है, किन्तु अपने हृदय की, अपने चित्त की शुद्धि करने के लिए है। सभी दुःखों के उत्पादक राग-द्वेष को दूर करने के लिए राग-द्वेष (काम, क्रोध, मान, माया, लोभ मोह आदि) रहित परमात्मा का अवलम्बन लेना परम उपयोगी एवं आवश्यक है। मोह वासनाओं से भरा हुआ आत्मा स्फटिक जैसा है, अर्थात् स्फटिक के पास जैसे रंग की वस्तु रखी जायेगी वैसे ही रंग स्फटिक अपने में धारण कर लेता है। ठीक वैसे ही राग-द्वेष आदि जैसे संयोग आत्मा को मिलते हैं वैसे ही संस्कार आत्मा में उत्पन्न

35-वही 12/46/i 36-वही 12/40 । 39-वही 9/40

हो जाते हैं। अतः अच्छा पवित्र संस्कार प्राप्त करने की और वैसे संसर्ग में रहने की विशेष आवश्यकता बनी रहती है। वीतराग सर्वज्ञ देव का स्वरूप परम निर्मल और शांतिमय है। राग-द्वेष का रंग किंवा तनिक सा भी प्रभाव उसके स्वरूप में बिल्कुल नहीं है। अतः ऐसे ईश्वर का आलम्बन लेने से, ध्यान करने से, पूजा उपासना भक्ति करने से पूजक की आत्मा में वीतराग भाव का संचार होता है। सब कोई समझ सकते हैं कि एक रूपवती रमणी के संसर्ग से एक विलक्षण प्रकार का भाव उत्पन्न होता है। पुत्र को देखने से अथवा मित्र को मिलने से स्नेह की जागृति होती है और एक परम त्यागी मुनि के दर्शन करने से हृदय में शांतिपूर्ण आह्लाद पैदा होता है। सज्जन की संगति सुसंस्कार और दुर्जन की संगति कुसंस्कार का वातावरण पैदा करती है। इसी लिए कहा जाता है कि—“जैसी संगत वैसी रंगत”। तब वीतराग परमात्मा की सत्संगत कितनी कल्याणकारी सिद्ध हो सकती है इस का तो कहना ही क्या है ! वीतराग-सर्वज्ञदेव की संगत, उनका भजन, स्तवन, स्मरण, वन्दन, भक्ति, पूजन आदि के सञ्चल अभ्यास से आत्मा में ऐसी शक्ति उत्पन्न होती है कि राग-द्वेष आदि की वृत्तियाँ शांत होने लगती हैं। यह ईश्वर पूजन का मुख्य और वास्तविक फल है।

पूज्य परमात्मा पूजक की ओर से किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं रखता। पूज्य परमात्मा का पूजक की ओर से भी कुछ उपकार नहीं होता। पूज्य परमात्मा को पूजक के पास से कुछ भी नहीं चाहिये। पूजक मात्र अपनी आत्मा के उपकार के लिए ही पूज्य परमात्मा की पूजा करता है और उस परमात्मा के आलम्बन से अपनी एकाग्र भावना के बल से वह पूजक स्वयं फल प्राप्त कर सकता है। जिस प्रकार अग्नि के पास जाने वाले की सर्दी अग्नि के सान्निध्य से स्वतः चली जाती है, अग्नि किसी को फल पाने के लिए अपने पास बुलाती नहीं है और प्रसन्न होकर किसी को फल देती नहीं है। जिस प्रकार दीपक अथवा सूर्य के प्रकाश से अंधेरा स्वयं नष्ट हो ग्यारह हो जाता है, वैसे ही वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर के प्रणिधान से रागादि दोष रूप सर्दी अथवा अज्ञान रूपी अन्धकार स्वतः भागने लगते हैं और आत्म विकास का फल मिल जाता है। परमात्मा के सद्गुणों के स्मरण से भावना विकसित होती जाती है, मन-चित्त का शोधन होने लगता है और आत्मविकास बढ़ता जाता है। इस प्रकार परमात्मा की उपासना का यह फल उपासक स्वयं अपने आध्यत्मिक प्रयत्न से ही प्राप्त करता है।

यह बात सही है कि वेश्या का संग करने वाले मनुष्य की दुर्गति होती है, परन्तु वह दुर्गति करने वाला कौन ? यह विचारना चाहिए। वेश्या को दुर्गति देने वाली मानना उचित नहीं, क्योंकि एक तो वेश्या को दुर्गति का भान नहीं है और इसके अतिरिक्त कोई भी किसी को दुर्गति में ले जाने के लिए समर्थ नहीं है, दुर्गति में ले जाने वाली मन की मलिनता के सिवाय अन्य कोई नहीं, यह ११३

निःसंकोच माननी पड़ेगी। इस पर से यह सिद्धान्त स्थिर हो सकता है कि—सुख-दुःख के कारणभूत कर्म का आधार मन की वृत्तियाँ हैं और उन वृत्तियों को शुभ बनाने का, उसके द्वारा आत्म विकास साधने का तथा सुख-शान्ति प्राप्त करने का प्रशस्त साधन भगवद् उपासना है और उस से वृत्तियाँ शुभ होती हैं, आगे विकसित होती हुई शुद्ध होती हैं। इस प्रकार भगवद् उपासना-पूजनादि कल्याण साधन का मार्ग बनती हैं।

विवेकपूर्ण योग्य अनुष्ठान करना ही कर्मक्षय करने का मुख्य साधन है³⁸

जो अनुष्ठान आत्म स्वरूप की प्राप्ति के लिए योग्य है वही उचित अनुष्ठान है। उचित अनुष्ठान में प्रयास करने से ही विजय होती है। अतः उचित अनुष्ठान ही कर्मक्षय का कारण है।

1. प्रश्न उचित अनुष्ठान से कर्मक्षय कैसे हो सकता है ?

समाधान—सर्व प्रथम उचित व अनुचित अनुष्ठान का भेद समझना चाहिए। करने न करने योग्य का भेद जानना चाहिए। जिसे ऐसा विवेक जागृत हो गया है वही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र (रत्नत्रय) का ठीक तरह से आराधन कर सकता है और रत्नत्रय के आराधन से ही कर्मक्षय हो सकते हैं।

2-प्रश्न—यदि उचित अनुष्ठान न हो तो क्या परिणाम आता है ?

समाधान—विवेक जागृत हो जाने पर उचित अनुष्ठान ही होता है अनुचित अनुष्ठान नहीं होता। जो अनुष्ठान केवल मोक्ष फल प्राप्ति की भावना से किया जाता है वही जैनशास्त्र के अनुसार यथार्थ अनुष्ठान है। मोक्ष के सिवाय अन्य किसी भी प्रकार का किया हुआ अनुष्ठान कर्म निर्जरा व कर्म क्षय का कारण नहीं है।

अतः चाहे गृहस्थधर्म हो अथवा मुनिधर्म हो उसके लिए उचित-यथार्थ अनुष्ठान ही श्रेयस्कर है इसमें सन्देह नहीं है।

क्योंकि भावना ही प्रधान होती है। भावना उच्च होने से परिणाम उत्तम लाभप्रद ही होता है, उच्च भावना से उच्च कार्य करने के लिए प्रेरणा मिलती है अतः निरन्तर उच्च भावना रखनी चाहिए। उच्च भावना से ही उचित-यथार्थ अनुष्ठान श्रेयस्कर है। कहा भी है कि—

“मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयो” अथवा “यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी” अर्थात्-मन ही मनुष्यों को कर्मबन्ध अथवा निर्जरा और मोक्ष का कारण है। अथवा जिसकी जैसी भावना होती है उसे वैसी ही सिद्धि होती है।

यदि भावना उच्च हो तो विचार, वचन-वाणी और कार्य भी सब उच्च होंगे अतः भावना पर ही सब कार्यों का आधार है। जब भावना निर्मल और स्थिर

38. आचार्य श्री हरिभद्र सूरि कृत धर्मबिन्दु ग्रन्थ के आधार से

होती है तब कुशल व कल्याणकारी सब आचरण भी स्थिरता और निर्मलता को प्राप्त होते हैं और वे दृढ़ता से किये जा सकते हैं और सफल भी होते हैं। इसी लिए मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रधान कारण शुद्ध-पवित्र भावना है।

शुद्ध-पवित्र भावना के अनुसार प्राप्त ज्ञान ही वस्तुतः सम्यग्ज्ञान है। ज्ञान के तीन भेद हैं— 1-श्रुतज्ञान, 2-चिन्तनज्ञान, तथा 3-भावनाज्ञान।

1-श्रुतज्ञान—वाक्य के अर्थ मात्र को संदर्भ के अनुसार बतलाने वाला, मिथ्या आग्रह रहित और मंडार में रहे हुए अन्न के बीज के सदृश श्रुतज्ञान है।

2-चिन्तनज्ञान—सर्वधर्मात्मक वस्तु को प्रतिपादन करने वाला, अनेकान्तवाद (स्याद्वाद) विषय वाला, अति सूक्ष्मबुद्धि से जानने लायक, सुयुक्ति पूर्वक तर्क द्वारा सोचा हुआ तथा जल में तैल बिन्दु की तरह विस्तार वाला—चिन्तनज्ञान है—

3-भावनाज्ञान—श्री वीतराग सर्वज्ञ की आज्ञा को ग्रहण करने वाला, विधि द्रव्यदाता व पात्र के प्रति आदर वाला, उच्च तात्पर्य सहित जो ज्ञान है—वह भावनाज्ञान है।

अर्थात् ज्ञान प्राप्ति के तीन साधन हैं—श्रवण, मनन और निदिध्यासन।

1-श्रवण का ज्ञान श्रुतज्ञान है, जो बीज की तरह जितना ही उतना ही रहता है। 2-मनन के चिन्तन से ज्ञान बढ़ता है, परिष्कृत होता है। ऐसे ज्ञान का चिन्तनज्ञान कहते हैं। 3-आत्मा जब एक ध्यान होकर उच्चर (अपने चिन्तन ज्ञान में) गहराइयों में उतरने के लिए भावना व निदिध्यासन करे तब सम्पूर्ण सामर्थ्य से प्रगट होने वाला ज्ञान भावनाज्ञान है।

भावना ज्ञान से ही पूर्ण रहस्य प्राप्त होता है। अतः भावना के अनुसार जो विशेष ज्ञान होता है वही वस्तुतः ज्ञान कहा जाता है।

सारांश यह है कि—पहले श्रवण होता है वह श्रुतज्ञान है। उसके पश्चात् उस ज्ञान के विस्तार पूर्वक सत्यस्वरूप को गहराई तक समझने के लिए दिमाग में जो तर्क, सुयुक्तियों का विचार पूर्वक चिन्तन होता है वह चिन्तनज्ञान है। 3-जब वह हृदय में उतरता है तब भावना ज्ञान होता है। यानी जिस ज्ञान को अनुभव से हृदय स्वीकार करता है वह भावना ज्ञान ही वस्तुतः ज्ञान होता है और वही सत्य श्रद्धा है। अर्थात् सम्यग्दर्शन पूर्वक सम्यग्ज्ञान है

कहने का आशय यह है कि जिस प्रकार भावना ज्ञान से वस्तु का ज्ञान व श्रद्धा होती है, वैसे मात्र श्रुतज्ञान से नहीं होता। जो सुना, उसके बाद मनन चिन्तन किया और भावना से जाना वही यथार्थ ज्ञान है। जिस बुद्धिमान विचक्षण मानव को चिन्तन मनन और निदिध्यासन पूर्वक भावना ज्ञान हुआ है वही हित-अहित के भेद के अन्तर को समझ सकता है। वही हित में प्रवृत्ति कर सकता है और अहित से निवृत्त हो सकता है। यानी हित और अहित में क्षीर-नीर के समान

भेद करने में मूलभूत भावना ज्ञान ही समर्थ है। इस के अतिरिक्त दूसरा ज्ञान नहीं है। यही कारण है कि भावना ज्ञान द्वारा देखने ज्ञानने पर विपरीत प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अनुकूल प्रवृत्ति ही होगी।

अतः अपने सब कार्यों और अनुष्ठानों में शुद्ध-वित्र-निर्मल उच्च प्रकार की भावना रखें। यही श्रेयस्कर मार्ग है। वास्तव में भावना ज्ञान ही सद्बिचारों का प्रेरक ज्ञान है। सद् विचार ही सत्कर्मों को करने में प्रेरक है और उत्साहित करने वाले हैं। इस लिए प्रतिक्षण भावना ज्ञान मन में रखें।

भावना ज्ञान की उत्पत्ति शास्त्रोक्त प्रवृत्ति से है। शास्त्र के वचन को भली-भाँति चिन्तन मनन करना-सोचना-मपजना तथा उनकी समालोचना सहित किसी कार्य में प्रवृत्ति करना यह भावना ज्ञान का उत्पत्ति स्थान है। वीतराग-सर्वज्ञ प्रणीत शास्त्र द्वारा कथित अनुष्ठानों में उपयोग और विवेक सहित की हुई प्रवृत्ति भावना ज्ञान पैदा करती है।

प्रश्न—वचनोपयोग सहित शास्त्रोक्त प्रवृत्ति भावना का कारण क्यों है ?

समाधान—शास्त्र में यह बात इस प्रकार है और इस प्रकार नहीं है ऐसे मनन पूर्वक शास्त्र में जैसी प्रवृत्ति करना उचित कही है वैसा विवेक पूर्वक कार्य करना बहुत गुणकारी है, इसलिये शास्त्रोक्त वचन का विचार करना बहुत गुणकारी है, शास्त्र में वीतराग ज्ञानी जनों का अनुभव तथा जिस मार्ग का आचरण करने से इष्ट सिद्धि होती है इस का सम्यक् प्रकार से वर्णन होता है इस लिए उस के अनुसार विचार पूर्वक विवेक सहित प्रवृत्ति करने से भावना ज्ञान होता है। वचनोपयोग द्वारा प्रवृत्ति करने से अचिन्त्य चिन्तामणि समान भगवान का बहुमान सहित स्मरण होता है। ऐसे बहुमान पूर्वक भगवान का स्मरण करने से हृदय में भगवान को स्थापना होती है। भगवान की स्थापना होने से क्रिया करने पर चित्त क्रिया में ही तल्लीन रहता है। अन्यथा वह भावक्रिया न होकर केवल द्रव्यक्रिया ही रह जाती है। भावक्रिया के बिना कर्म की निर्जरा और क्षय संभव नहीं। इस लिए क्रिया करते समय चित्तको उसी में ही एकाग्र और तल्लीन रखें।

प्रश्न—भगवान का कहा करने से क्या लाभ होता है ?

समाधान—भगवान की आज्ञा का पालन करना, यही भगवान की वास्तविक भक्ति, पूजा है। भक्ति और उपासना केलिए उन की आज्ञा का पालन करना परमावश्यक है। अतः आराधना से उन की भक्ति होती है। यानी भगवान की भक्ति करने का एक ही मार्ग है और वह उनके उपदेश से आज्ञा पालन में है। जो भगवान की आज्ञा के अनुसार काम करता है वही वस्तुतः भगवान का भगत है। यह बात निश्चित है।

भगवान तो अपने करने योग्य सब कुछ कर चुके हैं। वे अपना अन्तिम ध्येय मोक्ष भी प्राप्त कर चुके हैं। इसलिए वे कृत-कृत्य हैं।

प्रश्न — यदि प्रभु कृत-कृत्य हैं तो उनकी पुष्पादि से पूजा करने का क्या प्रयोजन है ?

समाधान पुष्पादि से पूजा द्रव्य-स्तुति है। द्रव्य-स्तुति से भी भगवान की आज्ञा का पालन होता है। कहा भी है कि—

“काले सुद्भूषणं विसिद्धं पुष्पाइर्णहं विहिणा उ।

सार थुद्-थोत्-गुरुई वितपुआ होइ कायव्व” ॥202॥

(हरिभद्र सूरि कृत धर्मविन्दु)

अर्थात्—समय पर निरन्तर पवित्र होकर विशिष्ट पुष्पादि से तथा विधि पूर्वक स्तुति व स्तोत्रादि द्वारा महान जिनपूजा करना योग्य है। ऐसा शास्त्रोक्त उपदेश है। इस आज्ञा के अनुसार चलने से भी भक्ति उपासना होती है अतः भाव-पूजा और द्रव्यपूजा दोनों ही प्रभु भक्ति के मार्ग हैं कहा भी है कि—

“जिनमतं यः कुर्यात् जिन भवन-विबं पूजा।”

तस्य तराभर-शिव-सुख-फलानि कर-पल्लव-स्थानि ॥203॥

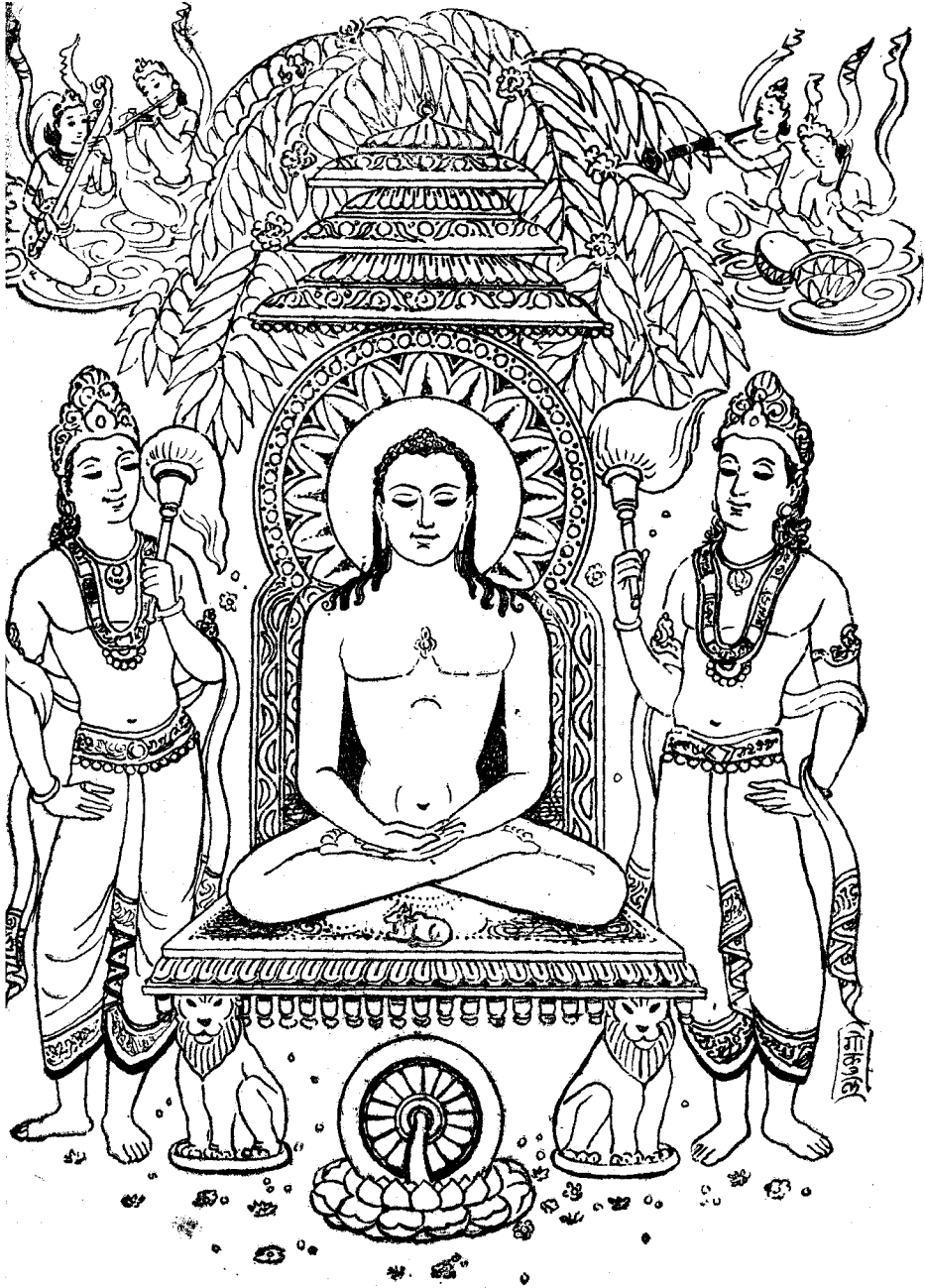
(हरिभद्र सूरि कृत धर्मविन्दु)

अर्थात्—जो जिनधर्म, जिनमन्दिर, जिनप्रतिमा को करता-कराता है और उसकी पूजा, उपासना भक्ति करता है उस मनुष्य की हृथेली में मानव, देवता और मोक्ष के सब सुख आ जाते हैं। तथा भगवान का हृदय में वास रहने से क्लिष्ट कर्मों का क्षय भी हो जाता है। जिस प्रकार जल के साथ अग्नि नहीं रह सकती, जल से अग्नि बुझ जाती है, उसी प्रकार भगवान के चित्त में रहने से क्लिष्ट कर्म स्वतः ही नष्ट हो जाते हैं।

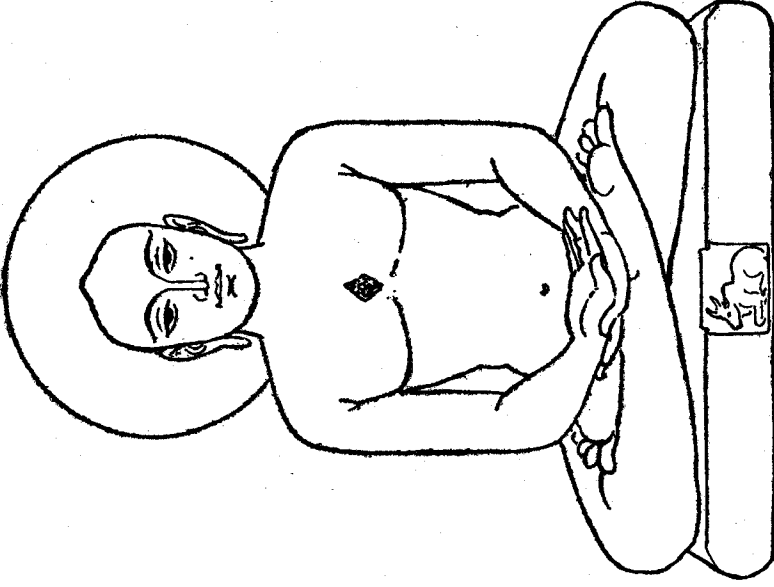
जिन व्यक्ति का विवेकपूर्ण अपना चित्त कर्तव्य पालन करने में तदार रहता है, उसे उस कार्य में प्रायः स्वलगा नहीं होती। स्वधारा रखने से अतिचार (स्वलगा) होने नहीं पाता। ऐसे शास्त्रार्थ पर चलने वाले किसी व्यक्ति को यदि कभी अनाभोग अथवा अधिचार या निकृष्ट क्लिष्ट कर्मों के उदय से अतिचार लग भी जावे, तो वह ऐसा ही है जैसे किसी पवित्र को राह में अचानक कंटा लग जावे, उबर आ जावे, अथवा दिशाभ्रम हो जावे और ऐसा होगा संभव है। इसलिए कभी अतिचार लग भी सकता है। पर अधिकांश तो विवेकपूर्ण उचित अनुष्ठान करने वाले को अतिचार लगना संभव नहीं। शास्त्र में कहा है कि अपनी शक्ति के अनुसार ही उचित कर्तव्य करना चाहिए। शक्ति के उपरांत कार्य करने से आर्तघ्नान का प्रसंग आता है।

अतः जिन (तीर्थंकर) की अविद्यमानता में उनकी मूर्ति के द्वारा ईश्वर पूजा ही साधन है, इसी के द्वारा हम अपना आत्म कल्याण कर सकते हैं। इस का विवेचन हम इस पुस्तक में आगे विस्तार पूर्वक करेंगे और शक्ति उपरांत कार्य करने से कुविचार उठते हैं उससे कर्म बन्ध होता है। विवेकपूर्ण शक्ति के अनुसार कार्य करने से शान्ति-संतोष तथा चित्त में आह्लाद होता है इस लिए ऐसे अनुष्ठान से अति-चार लगना प्रायः संभव नहीं है।

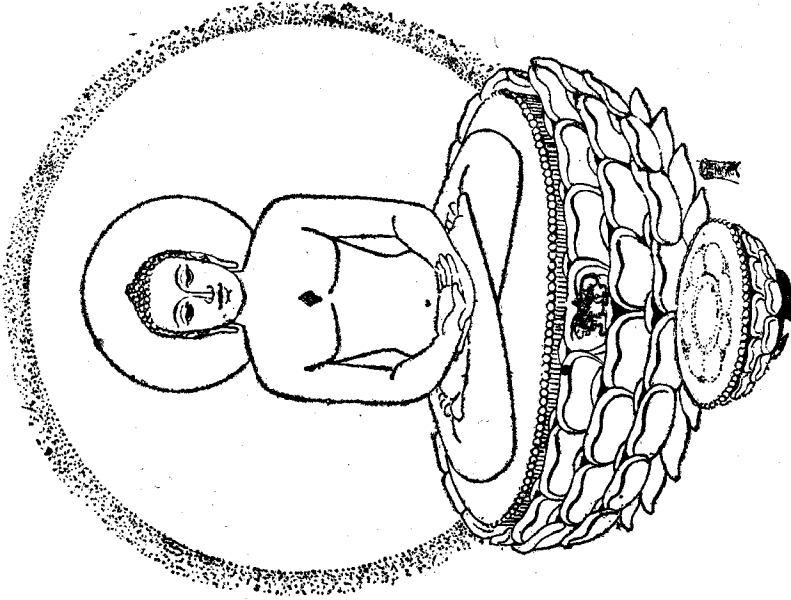
ईश्वर तथा आत्मा: विभिन्न मान्यताएँ



आदि धर्मप्रवर्तक
चार-मुष्टि लोच सहित वीतराग-सर्वज्ञ अहंत् श्री ऋषभदेव प्रभु



श्री ऋषभदेव पंचमुष्टि लोच सहित-निर्वाण प्राप्ति के समय



श्री वर्धमान—महावीर

ईश्वर तथा आत्मा की मान्यताएं

मोक्षमार्ग को सतत् प्रवाहमान रखने एवं मोक्ष प्राप्ति के लिये श्री जिनेश्वर मु की प्रतिमा (मूर्ति) तथा उसकी पूजा-उपासना का क्या महत्व और अनिवार्यता ? इस पर प्रकाश डालने में पहले ईश्वर तथा आत्मा की मान्यता के सम्बन्ध में स्व में विद्यमान विचार धाराओं पर कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है ।

विश्व में दो विचार धाराएँ हैं । अनीश्वरवादी और ईश्वरवादी ।

1—अनीश्वरवादी विचारधारा की मान्यता है कि विश्व में चैतन्य-आत्मा, ई-बन्धन, पुनर्जन्म, कर्ममुक्ति, ईश्वर आदि कुछ भी नहीं है । जीवात्मा कोई स्वतंत्र तत्व नहीं है । पृथ्वी, अग्नि, वायु, जल और आकाश इन पाँच जड़ तत्वों (भूतों) के ल जाने से शरीर की रचना होती है और इन पाँच भूतों के मेल से उत्पन्न शरीर विकार पैदा होकर एक शक्ति उत्पन्न हो जाती है उसे जीवात्मा की संज्ञा दी है । जैसे कुछ द्रव्यों को मिलाने पर मद्य (शराब) बन जाती है और उस में दक शक्ति पैदा हो जाती है, उसी तरह पाँच भूतों के मिलाप से शरीर में जो चार शक्ति पैदा होती है वही आत्मा कही जाती है । जब शरीर नष्ट हो जाता है, व भूत बिखर जाते हैं तब पाँचो तत्वों के मेल से पैदा हुई आत्मा भी नष्ट हो जाती उसका कोई अस्तित्व नहीं रहता । जन्म मरण तो पाँच-भूतों का खेल है । अतः आत्मा कोई स्वतंत्र तत्व नहीं है । आत्मा कोई स्वतंत्र तत्व न होने से उस के साथ कर्मबन्धन है, न पुनर्जन्म और न मोक्ष है । जब आत्मा ही नहीं तो ईश्वर भी नहीं है । यह विचारधारा भारत में चार्वाक दर्शन के नाम से प्रसिद्ध थी, इसे स्तक मत भी कहते हैं । आज भी विश्व में इस मान्यता वालों की कमी नहीं है ।

2—दूसरी विचार धारा ईश्वरवादी है ।—यह विचारधारा ईश्वर और आत्मा मानती है और आत्मा के कल्याण के लिये किसी न किसी रूप में ईश्वर की आसना भक्ति आदि का भी विधान करती है । इस विचारधारा का पाँच वर्गों में आवेश होता है ।

(अ) पहला वर्ग—ईश्वर को एक, अरूपी, सर्व-शक्तिमान, सर्व-व्यापी, ज्ञाता, अनादि, स्वतंत्र, निरय तथा सृष्टिकर्ता मानता है । इस विचारधारा मानने वाले-वेदधर्मानुयायी आर्यसमाजी, सनातनी, वैष्णव, ईसाई, मुसलमान, दी, पारसी, नानकपंथी (सिख), निरंकारीमत, कबीरपंथी, राधास्वामी-मत आदि मतावलम्बी तथा उनके छोटे बड़े अनेक संप्रदाय है । इस में वैशेषिक और पायिक दर्शनों का समावेश है ।

(आ) दूसरा वर्ग—शंकराचार्य का अद्वैतवाद है ।—यह मत एक मात्र स्वी-सर्व-व्यापक ईश्वर को ही मानता है । परन्तु आत्मा आदि अन्य तत्वों का

स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं मानता। इसका कहना है कि ईश्वर के सिवाय सब माया (भ्रम) मात्र है यथा—“एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति” की मान्यता है।

(द) तीसरा वर्ग—वेद, पुराण, स्मृति, उपनिषद आदि मतावलम्बी—वैष्णव; सनातनधर्मी तथा उन के अनेक सम्प्रदाय उपसम्प्रदाय हैं। यह विचारधारा ईश्वर को अनादिकाल से अरूपी आदि (दूसरी विचारधारा ‘अ’ वर्ग के उमान ही) मानते हुए भी उस ईश्वर का अवतार लेकर सशरीरी रूप में इस पृथ्वी पर आना और भगतों को दानव-संताप तथा भव-संताप के त्राण से छुटकारा दिलाकर वापिस लौटकर पूर्ववत् अशरीरी (अरूपी अवस्था में विद्यमान हो जाना) मानती है। मच्छ, कच्छप, वराह, नरसिंह, राम, कृष्ण, परशुराम, वामन बुद्ध कल्की ये दस अवतार ईश्वर के माने, हैं। इन में नौ तो हो चुके हैं, कल्की होना बाकी है। ये दस अवतार क्रमशः भारत में ही अवतरित होते हैं। एक ही अरूपी ईश्वर बार-बार शरीरधारण करके माता के गर्भ से जन्म लेता है, भक्तों के कष्टों को दूर करता है और अनेक प्रकार के कौतुक-लीला रचाकर आयु पूरी करके मृत्यु पाकर वह अरूपी ईश्वर की अवस्था पुनः प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार यह विचारधारा ईश्वर की अरूपी-रूपी दोनों अवस्थाएँ स्वीकार करती है। जो प्राणी इस ईश्वर की भक्ति उपासना करते हैं वे वैकुण्ठ में चले जाते हैं। पर वे जिस ईश्वर की उपासना करते हैं उसके तुल्य कदापि नहीं बन पाते और न ही उस में समा जाते हैं उनका दर्जा उस अरूपी ईश्वर से कम ही रहता है।³⁹

(ई) चौथा वर्ग—अपने इष्टदेव को मात्र रूपी मानता है।—इस वर्ग में बृद्धधर्म आता है। आत्मा, पुद्गल आदि जितने भी पदार्थ विश्व में विद्यमान हैं यह उन सब को क्षणस्थायी मानता है। इसका कहना है कि आत्मा क्षणमात्र में नष्ट हो जाती है और वह अपने पीछे संतान छोड़ जाती है। दूसरे क्षण में वह संतान भी नष्ट हो जाती है और अपने पीछे संतान छोड़ जाती है और जब तक आत्मा का परिनिर्वाण नहीं होता यह सिलसिला चालू रहता है। परिनिर्वाण के बाद यह सिल-सिला भी समाप्त हो जाता है और आत्मा का अस्तित्व एकदम समाप्त हो जाता है। यह मत परिनिर्वाण के बाद अशरीरी-अरूपी परमात्मा का कोई अस्तित्व नहीं मानता।

39-वेद धर्मानुयायियों में अवतार की मान्यता अर्वाचीन है। महावीर और बुद्ध के बहुत समय बाद की है। पहले इन्होंने इन दस अवतारों की कल्पना की। पश्चात् इन दस अवतारों के साथ ऋषभदेव, ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि को मिलाकर चौबीस अवतारों की मान्यता स्वीकार कर ली। गौतमबुद्ध का नाम आने से यह स्पष्ट है कि इन के अवतारवाद की कल्पना महावीर और बुद्ध के बाद की है। इस अवतारवाद को मानने वाला सम्प्रदाय वैष्णव अथवा सनातनधर्म के नाम से प्रसिद्धी पाया और जैनों की देखा-देखी इन्होंने इन अवतारों के मन्दिरों में मूर्तियों की स्थापनाएँ कीं।

(उ) पाँचवाँ वर्ग—आर्हत-निर्ग्रन्थ धर्म है।—वर्तमान में इस की प्रसिद्धी जैन धर्म के नाम से है। इसकी मान्यता है कि चैतन्य स्वरूप आत्मा (जीव) अनादि-काल से स्वतंत्र तत्त्व है और अनन्तकाल तक शाश्वत विद्यमान रहेगा। न इसकी उत्पत्ति है और न विनाश। सदा से विद्यमान है और सदा रहेगा। वह अरूपी; चैतन्य-स्वरूप ज्ञान-दर्शन-चरित्रमय स्वतंत्र द्रव्य है। जीव अनन्तानन्त हैं इन सब जीवों का अस्तित्व अलग-अलग है। सब आत्माएँ अनादि काल से कर्मबन्धन से बद्ध हैं। कर्म पुद्गलात्मक (पुद्गल से बनते) हैं। पुद्गल रूपी और जड़ हैं। कर्मों का आत्मा के साथ बन्ध होने से उनका प्रभाव आत्मा पर पड़ता है और उन्हीं के प्रभाव से आत्मा स्वयं जन्म-जरा-मृत्यु, सुख-दुःख आदि प्राप्त करता है। चारों गतियों, चौरासी लाख जीव योनियों में भ्रमण करता है। सम्यग्दर्शन-सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र की अराधना करने से जीव सर्व कर्मबन्धनों से सदा-सर्वदा के लिए मुक्त हो जाता है, छुटकारा पा जाता है। निर्मल-शुद्ध होकर अपने असली अरूपी स्वरूप को प्राप्त कर लोक के ऊपरी अग्रभाग पर सदा सर्वदा अनन्तकाल तक शुद्ध स्वरूप में बना रहता है। संसारी आत्मा ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों से बद्ध है। जब वह मोहनीय आदि चार घाती कर्मों का क्षय कर लेता है तब वह वीतरागावस्था को प्राप्त कर केवलदर्शन केवलज्ञान प्राप्त कर सर्वज्ञ सर्वदर्शी होकर सारे विश्व के सब चरावर पदार्थों को साक्षात् जानता और देखता है। यह अवस्था आत्मा को सशरीरी परमात्मा-ईश्वर की हो जाती है। अब यह संसारी जीवों को अपने ज्ञान तथा चरित्र द्वारा अनुभूत एवं उसी प्रकार के ज्ञान और चरित्र को प्राप्त करने का मार्ग अपने उपदेशों द्वारा बतला कर विश्व के प्राणियों को मोक्षमार्ग का दर्शन कराता है और उसकी आचरणा का उपदेश देकर आत्म-कल्याणकारी मार्ग को अपनाने की प्रेरणा देकर धर्मसंघ की स्थापना करता है। अर्थात् साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ की स्थापना कर धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करता है। इस की उपदेशरूप-वाणी द्वादशांगवाणी तथा इसके द्वारा स्थापित चतुर्विध संघ दोनों तीर्थ कहलाते हैं - इस प्रकार उपयुक्त दोनों तीर्थों के कर्त्ता होने से शरीरधारी अर्हत तीर्थकर कहलाते हैं। जब तक ये जीवित रहते हैं तब तक संसारी जीवों को संसार के दुःखों से, कर्म बन्धनों से, जन्म-जरा-मृत्यु से सर्वदा के लिए छुटकारा पाने के लिए मार्गदर्शन कराते हैं और जो लोग उन के दर्शाये हुए मार्ग को स्वीकार करके आचरण द्वारा आत्म साधना करते हैं वे आर्हत अथवा जैन कहलाते हैं।

इस प्रकार जैनदर्शन ईश्वर को नीतिकर्त्ता मानता है परन्तु सृष्टिकर्त्ता नहीं मानता। कारण यही है कि तीर्थकर अपनी देशना (उपदेश) द्वारा संसारी प्राणियों को नीतिमय जीवन के निर्माण के लिए प्रेरक है इसलिए उन्हें इस सृष्टि में विद्यमान प्राणियों को नीति सम्पन्न करने वाला कर्त्ता मानते हैं।

अर्हत् तीर्थंकर की श्रायु जब समाप्त हो जाती है तब वे इससे पहले ही बाकी के नाम आदि चार आघाती कर्मों को भी पूर्ण रूप से क्षय करके (सब घाती-अघाती आठों कर्मों को समपूर्ण रूप से क्षय करके) सिद्धावस्था प्राप्त कर लेते हैं और जन्म-जरा-मृत्यु के चक्र से सर्वदा के लिए छुटकारा पाकर अपने शुद्ध स्वरूप में निरंजन अरूपी साकार अवस्था में लोक के अग्रभाग पर चैतन्य रूप में सदा कायम रहते हैं। यह अरूपी ईश्वर सिद्ध परमात्मा कहलाते हैं। ये मनुष्य रूप में माता के गर्भ से पैदा होकर अपने आत्म पुरुषार्थ के बल से परमात्मावस्था प्राप्त करते हैं। ये न तो ईश्वर के अवतार होते हैं और न पैदा होते ही ईश्वर होते हैं। सामान्य स्थिति का संसारी जीव अनेक जन्मों की साधना से अपने आत्म पुरुषार्थ के बल पर ही आत्मा से परमात्मा बनता है। संसारी जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है और कर्म का फल स्वयमेव भोगने में भी स्वतंत्र है। यह दर्शन न तो ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता मानता है, न अवतार लेना और न कर्म फल दाता मानता है। इस प्रकार जैनविचार (शरीरी (शरीरधारी) ईश्वर को अर्हत्, जिन, अरिहंत अरुहंत, अरहत, परमात्मा, तीर्थंकर, निश्चिंथ मानता है तथा अशरीरी अवस्था में सिद्ध परमात्मा को अरूपी साकार ईश्वर के रूप में अस्तित्व मानता है।

जो प्राणी तीर्थंकरों के बतलाये हुए मार्ग का अनुसरण कर केवलज्ञान पा लेते हैं वे सामान्य केवली कहलाते हैं वे भी अन्त में सिद्धावस्था प्राप्त कर लेते हैं। तीर्थंकर और सामान्य केवली में सिद्ध अवस्था में कोई भेद नहीं रहता। व्यक्ति रूप से भिन्न रहते हुए भी शुद्ध-स्वरूप परमात्मा पद की अपेक्षा से सर्वथा अमेद है अर्थात् सिद्धावस्था में तीनों बराबर हैं। पूर्व के सिद्ध परमात्माओं तथा कर्मक्षय करके सिद्ध अवस्था प्राप्त करने वाली आत्माओं में स्वभाव, गुण तथा दर्जे में कोई अन्तर नहीं है। वेद धर्मानुयायी तथा उन का अनुकरण करने वाले आर्यसमाजो, सिख, मुसलमान, राधास्वामीपंथी, ब्रह्माद्वैतवादी, ईसाई, यहूदी, पारसी आदि अनेक मतानुयायी जिसे एक काल्पनिक, अरूपी, सर्वव्यापक, सृष्टिकर्त्ता आदि गुणयुक्त ईश्वर मानते हैं ऐसे ईश्वर का अस्तित्व जैन और बौद्ध नहीं मानते हैं। जैनदर्शन की मान्यता है कि सृष्टि (संसार) किसी के द्वारा निर्मित नहीं है; अनादिकाल से यह स्वतः विद्यमान है और अनन्तकाल तक स्वतः विद्यमान रहेगा। इस अनादि अनन्त सृष्टि में पर्याय से परिवर्तन होते हैं। परन्तु मूलरूप से सृष्टि कायम रहते हुए भी इस में परिवर्तन होते हैं। अतः सृष्टि न एकान्त नित्य है न एकान्त अनित्य है किन्तु नित्यानित्य है।

ईश्वर का यथार्थ स्वरूप एवं शाश्वत सुख प्राप्ति

(1-2) पहला तथा दूसरा वर्ग—जिस किसी अरूपी सर्वव्यापक ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता मानते हैं; ऐसे ईश्वर को न तो किसी न देखा है और न कभी उसे

कोई देख पायेगा। अतः जिस ईश्वर के स्वरूप को जानने तथा साक्षात् करने का सामर्थ्य मानव शक्ति से परे है उस का चिन्तन, मनन, अनुभव करना भी मानव के लिए एकदम असंभव है। ऐसे अरूपी ईश्वर का आचरण रूप चारित्र्य भी साधक के समक्ष नहीं है जिस का अनुकरण करके संसारी जीव जन्म-जरा-मृत्यु से छूट कर शाश्वत सुख (मोक्ष) की प्राप्ति कर सके। तथा सदाकाल अरूपी रहने वाला ईश्वर उपदेश द्वारा आत्मकल्याण के मार्ग का दर्शन भी नहीं करा सकता। ऐसे ईश्वर का कोई चारित्र्य तथा उपदेश न होने से संसारी प्राणी किस का अनुकरण-आचरण करके कल्याण साध सकें? यानी विश्व के सामने इस ईश्वर का न तो कोई ऐसा चारित्र्य है और न ही कोई उपदेश (मार्गदर्शन) है जिस के संवल से संसारी आत्मा अपना कल्याण कर सके। आदर्श के सामने हुए बिना ऐसे ईश्वर की उपासना से न तो प्राणी का आत्मकल्याण ही संभव है और न ही मोक्ष संभव है।

(3) तीसरा वर्ग—अरूपी ईश्वर के अवतारवादियों का है। इस वर्ग की मान्यता है कि अनादि-अनन्त, अरूपी, सर्वव्यापक ईश्वर बिना कर्मों के ही संसारी-प्राणी के रूप में मां के गर्भ से जन्म लेकर जगतीतल पर शरीरधारण करके अवतार लेता है और भक्तों को दुःखों से छुटकारा दिलाकर अपनी लीला समाप्त करके शरीर का त्यागकर वापिस अरूपी होकर अपने स्वरूप में स्थिर हो जाता है। ऐसी कल्पना-मात्र से माना हुआ ईश्वर जिसका जगत में कोई अस्तित्व ही नहीं है, न ही जिसका कोई स्वरूप है, उसकी उपासना कैसे संभव हो सकती है? यदि ऐसे ईश्वर का अस्तित्व मान भी लिया जावे तो वह संसारी आत्मा को कर्म बन्धन से मुक्ति रूप शाश्वत सुख प्राप्त कराने का साधन कैसे बन सकता है? क्योंकि एक शाश्वत अरूपी अवस्था से च्युत होकर अशाश्वत शरीर-धारण कर अवतार लेकर नीची अवस्था में आकर संसारी बने और वापिस लौट कर मूल स्वरूप को प्राप्त कर अरूपी-सर्व-व्यापक अवस्था को प्राप्त करे, ऐसा ईश्वर संसारी जीव को कर्म-बन्धनों से छुटकारा पाने का जन्म-जरा-मृत्यु, चार गतियों, चौरासी लाख जीव योनियों से छुटकारा दिलाने के लिये कोई आदर्श उपस्थित नहीं कर पाता। अनादि काल से जन्म-मरण के चक्र में भटकते हुए विडम्बनाओं से पीड़ित जीव को छुटकारा पाने के लिए और शाश्वत सुख को प्राप्त कराने के लिए उसे ऐसे ही मार्ग-दर्शन का आदर्श चाहिये कि जिसने स्वयं अपने आचरण से संसार के दुःखों से छुटकारा पाकर शाश्वत सुख रूप मोक्ष की प्राप्ति की हो। उपयुक्त स्वरूप वाले ईश्वर द्वारा ऐसा चारित्र्य अथवा आदर्श उपस्थित नहीं होता जिनका अनुकरण करके वह सदा के लिए कर्म-बन्धन से छुटकारा पाकर शाश्वत सुख-रूप मुक्ति को प्राप्त कर सके। ऐसे अवतारी ईश्वर के उपासकों ने भी अपने माने हुए ईश्वर के चारित्र्य को लीलामात्र ही माना है। संसारी जीव का कल्याण तो ऐसे ईश्वर को उपासना से ही संभव है जिसने

स्वयं संसारी अवस्था से परमात्म-पद पाया हो जोकि उपर्युक्त ईश्वर के चरित्र में नहीं है ।

(4) बौद्ध वर्ग—बौद्ध दर्शन है जो परिनिर्वाण के बाद अपने इष्टदेव की आत्मा का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करता । परिनिर्वाण के बाद आत्मा का अस्तित्व सर्वथा मिट जाने से न तो आत्मा को मोक्ष है और न ही ईश्वरत्व-सिद्धावस्था की प्राप्ति है तथा न ही आत्मा शाश्वत सुख का अनुभव कर सकता है अतः ऐसी उपासना से भी जीवात्मा अपने अन्तिम लक्ष्य को नहीं पा सकता ।

(5) संसारी आत्मा के सामने तो ऐसे ही संसारी आत्मा का आदर्श चाहिए जिसने अपने आचरण द्वारा—साधना द्वारा संसार का मूल कारण जो कर्मों का बन्धन है उससे मुक्ति पाई हो और संपूर्ण-रूप से कर्मों से अलिप्त होकर जन्म-जरा-मृत्यु के चक्र से छुटकारा पाया हो तथा निर्मल-निरंजन शुद्ध चैतन्यमय अरूपीस्वरूप को पाकर शाश्वत सुख रूप सिद्धावस्था प्राप्त की हो । ऐसा चारित्र्य वीतराग सर्वज्ञ-अहंता के सिवाय अन्य किसी भी ईश्वर में संभव नहीं है । यही एक मात्र ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने निम्नतम निगोद अवस्था से उत्क्रांति करते हुए मानव जन्म पाकर आत्मा के सर्व-कर्मबन्धनों को तोड़कर वीतराग पद को प्राप्त कर अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्त-चारित्र्य को परिपूर्ण प्राप्त करके चरम सीमा रूप मोक्ष प्राप्त किया हो । प्रत्येक भव्यात्मा का लक्ष्य इसी अवस्था को पाना है । इसलिये अहंता-जिनेन्द्रदेवों द्वारा आचरित आदर्श मार्ग का अनुकरण करके ही वह अपने लक्ष्य को पाने में सफल हो सकता है । ऐसे आदर्शमार्ग को अपनाने से ही विश्व के प्राणी-मात्र का कल्याण संभव है । कहने का आशय यह है कि ऐसा अवसर तभी प्राप्त हो सकता है कि जब हम अन्य सबका भरोसा छोड़कर एक मात्र ऐसे तीर्थंकर भगवन्तों की उपासना, आराधना, भक्ति और उनके द्वारा उपदिष्ट आत्म कल्याण-कारी मार्ग को अपनायेंगे और ऐसे मार्ग को जानने के लिए एक मात्र साधन उनके द्वारा उपदिष्ट और उनके मुख्य शिष्यों गणाधरों द्वारा संकलित आचारांग आदि आगम साहित्य ही है ।

1. इससे स्पष्ट है जैन धर्मावलम्बियों ने शरीरधारी तीर्थंकरों तथा अशरीरी सिद्धों को (दोनों को) ईश्वर परमात्मा माना है और इन्हीं को अपना आराध्यदेव माना है । इस प्रकार ईश्वर पहले रूपी और बाद में अरूपी बनता है ।

1—उपर्युक्तछह वर्गों में से एक अनीश्वरवादी है और वह आत्मा के अस्तित्व को भी नहीं मानता । अन्य पाँच वर्ग ईश्वरवादी हैं । 2—बौद्ध मात्र रूपी ईश्वर को मानते हैं अशरीरी को नहीं । 3-4—वैदिक आदि संप्रदाय मात्र अरूपी ईश्वर को मानते हैं रूपी को नहीं । 5-6 दो वर्ग ऐसे हैं जो ईश्वर को रूपी-अरूपी दोनों प्रकार का मानते हैं वे हैं वैष्णव (सनातनी) और जैन ।

वैष्णव सनातनियों की मान्यता जैनों से एकदम उल्टी है। ये अरूपी शाश्वत ईश्वर को शरीरधारण करके जगतीतल पर अवतरित होना मानते हैं। जैन (आहंतू) लोग मानव शरीर में ही रहते हुए वीतरागी, केवल-दर्शन, केवल-ज्ञान प्राप्त करने वाले सर्वज्ञ को रूपी ईश्वर तथा पश्चात् आयु की समाप्ति के अवसर पर सर्व-कर्म-क्षय करके शरीर रहित सिद्धावस्था में ईश्वर को अरूपी मानते हैं। अतः जैनदर्शन रूपी ईश्वर से अरूपी ईश्वर होना मानता है।

दूसरी बात यह है कि जैनों के सिवाय अन्य दर्शनों में से किसी ने भी आत्मा को स्वतंत्र तत्त्व नहीं माना है। यदि किसी ने माना भी है तो भी आत्मा के कर्म-बन्धनों से छुटकारा पाने पर ईश्वरत्व प्राप्त करने का कोई विधान नहीं है। अवतार-वादियों ने तो विष्णु शिव, ब्रह्मा, राम, कृष्ण आदि की भक्ति कीर्तन आदि से जीव की जो मुक्ति मानी है; उससे जीव को वैकुण्ठ तक ही जाना माना है जो उस अरूपी सृष्टिकर्ता ईश्वर से बराबरी का दर्जा नहीं है परन्तु कम दर्जा माना है। आर्य-समाजी तो वैकुण्ठ में गए हुए जीव को संसार में वापिस लौट आना मानते हैं। जन्म-मरण के चक्र में पुनः उलझ जाना मानते हैं।

विचारणीय बात है कि—

जिस स्थान पर जाना हो यदि वहाँ पहुँचने का रास्ता मालूम न हो तो ऐसी परिस्थिति में हम किसी ऐसे व्यक्ति की तलाश करते हैं 1—जो हमारे गंतव्य स्थान का मार्ग जानता हो अथवा ऐसे व्यक्ति से मार्गदर्शन लेंगे जो वहाँ स्वयं जा चुका हो। इन दोनों में से भी हमारे लिए कौन सा व्यक्ति लाभदायक होगा? यह सोचना होगा। एक स्वयं तो नहीं गया परन्तु मार्ग बतलाता है। दूसरा स्वयं जाकर मार्ग का साक्षात् अनुभव कर मार्ग बतलाता है। दोनों में से हम किस व्यक्ति के बतलाये हुए मार्ग का अनुसरण करेंगे? स्पष्ट है कि हमारे लिये अधिक विश्वसनीय और हितकारक होगा कि हम दूसरे व्यक्ति के बतलाये हुए मार्ग का अनुसरण करें क्योंकि उसने स्वयं जाकर उस मार्ग को देखा है।

हमने भी आत्मा को सर्व कर्म रहित करके मोक्ष प्राप्त करना है। परन्तु हमें मार्ग मालूम नहीं है। ऐसी परिस्थिति में यहाँ भी मार्ग दर्शक के दो प्रकार हैं एक तो ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने स्वयं उस मार्ग का अवलम्बन नहीं लिया और दूसरे जिन्होंने स्वयं उस मार्ग का अवलम्बन लेकर सही मार्ग प्राप्त किया है तत्पश्चात् जनता-जनार्दन के सम्मुख उसे बतलाया है। 1-पहले मार्गदर्शक ऐसे ईश्वर हैं जिन्होंने स्वयं इस मार्ग का आलम्बन नहीं लिया तथापि जनता जनार्दन को मार्ग दर्शन कराते हैं। किन्तु जो इस मार्ग के पथगामी नहीं हैं उन का मार्गदर्शन विश्वसनीय होना संभव कैसे माना जा सकता है? इनमें अवतारवाद, एक नित्य अरूपी ब्रह्मवाद अथवा अरूपी सृष्टिकर्ता ईश्वरवाद का समावेश है 2-दूसरे जिन्होंने

उस मार्ग का स्वयं अवलम्बन लेकर सही मार्ग जाना और प्राप्त किया है तत्पश्चात् जनता जनार्दन के सम्मुख बतलाया है जो इस मार्ग के स्वयं पथगामी है वे वीतराग सर्वदर्शी सर्वज्ञ तीर्थंकर देव ही हैं। उन्हें अरिहंत, जिन, जिनेश्वर, जिनेन्द्र, अहंत, अरहंत, अरुहंत भी कहते हैं। इसके सिवाय अन्य कोई नहीं है। अरिहंत किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है। अरिहंत आत्मा की एक ऐसी अवस्था है जो काम-राग-द्वेषादि आभ्यंतर तथा बाह्य शत्रुओं पर विजित है। अन्य किसी भी व्यक्ति (ईश्वर) में ऐसी योग्यता नहीं है।

कहा भी है कि—

ये स्त्री-शास्त्राक्ष-सूत्रादि, रागाद्यङ्क कलंकिताः ।

गिग्रहानुग्रहपरास्ते देवाः स्युर्नमुक्तये ॥6॥

नाट्याट्टहास-संगीताद्युपलव विसंस्थलाः ।

लम्भयेयुः पवं शान्तं, प्रपन्ना-प्राणिनः कथम् ॥7॥

जो देव (ईश्वर) स्त्री-कामिनी, शस्त्र-त्रिशूलादि, अक्षसूत्र-जपमालादि, राग-द्वेष आदि चिन्हों से कलंकित हैं। निग्रह बध-बन्धनादि और अनुग्रह-वरप्रदानादि देने वाले हैं। ऐसे देव (अवतार आदि) मुक्ति प्राप्त करने में निमित्तभूत नहीं हो सकते। जो नाट्य, अट्टाहास (तांडवनाच) और संगीत आदि उपपन्न-उपद्रवों से स्वयं अस्थिर चित्त वाले हैं वे आश्रित जनों को उपद्रव-रहित मुक्ति-कैवल्य आदि शब्दों से वाच्य ऐसे परमशांति स्वरूप मुक्ति को प्राप्त कराने में कैसे सहयोगी हो सकते हैं ?

ब्रह्मा, विष्णु, शंकर कृष्ण आदि सर्वज्ञ भी नहीं हैं, वीतराग भी नहीं हैं उन का स्त्रियों का संग राग और काम होने का चिन्ह है, शस्त्रादि उनके द्वेष के चिन्ह हैं, जपमाला आदि अज्ञान के चिन्ह हैं तथा कमंडल आदि अशौच चिन्ह हैं। रुद्र को गौरी, शिव को पार्वती, ब्रह्मा को सावित्री, विष्णु को लक्ष्मी, इन्द्र को रति, सूर्य को रत्नदेवी, चन्द्र को रोहिणी, वृहस्पति को तारा, अग्नि को स्वाहा, काम को रति, राम को सीता, कृष्ण को राधिकादि गोपियां, श्राद्ध देवता को घूमोर्णा इत्यादि सब देव स्त्रियों सहित हैं, सब को शस्त्रों का सम्पर्क है। सब मोह से मोहित हैं ऐसे देव जिन्होंने स्वयं मोह, राग-द्वेष कामादि को नहीं जीता वे सर्व कर्मक्षय रूप भुक्ति प्रदाता कैसे हो सकते हैं ?

रागोऽङ्गना संगम मनानुमेगो, द्वेषो द्विषद्वारणमनाहेतिगम्यः ।

मोहा कुवृत्तागमदोषसाध्यो नो यस्य देवः स चैवमर्हन् ॥

स्त्री का संग हो तो समझना चाहिये कि इस में रग और काम है। हाथ में हथियार और आयुध (शास्त्रास्त्र) हो तो समझना चाहिए कि इस में द्वेष है। हाथ में जपमाला हो तो समझना चाहिए कि अज्ञानी है श्री अहंन् (तीर्थङ्कर) देवों में इन में से एक भी दोष नहीं है। अर्थात् उपयुक्त चिन्हों वाले सभी रागी-द्वेषी मोही, कामी-अज्ञानी होने से संसारी प्राणियों के लिये कर्म-बन्धन से मुक्त कराने में सहयोगी नहीं

हो सकते क्योंकि वे स्वयं कर्मबद्ध हैं। श्री जिनन्द्रदेव (तीर्थंकर) परमात्मा में उपर्युक्त एक भी दोष न होने से सर्वथा दोष रहित हैं और घाती कर्मों के क्षय होने से वे वीतराग सर्वदर्शी-सर्वज्ञ भी हैं। अतः यही वीतराग, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी सर्वगुण सम्पन्न तीर्थंकर परमात्मा ही भव्य जीवों को इस भव अटवी से उद्धार करने में समर्थ हैं। अन्य कोई नहीं।

कारण यह है कि ऐसे जिनेश्वरदेव का वचन ही एकान्त हितकारी है क्योंकि असत्य भाषण के कारण अज्ञान, राग-द्वेषादि दोषों का सर्वथा अभाव है। मनुष्य तीन कारणों से असत्य बोलता है। राग से, द्वेष से अथवा अज्ञान से।

1-यदि किसी के प्रति राग होगा तो उस में चाहे कितने भी दोष होंगे तो भी रागी व्यक्ति को वे दिखलाई नहीं देंगे अथवा उन दोषों पर उस का लक्ष्य ही नहीं जावेगा। अतः वह उसको प्रशंसा ही करेगा उसे दुगुणों की प्रशंसा करने से असत्य का प्रयोग करना पड़ा।

2-यदि किसी के प्रति द्वेष होगा तो उसमें चाहे कितने सद्गुण क्यों न हों तो भी द्वेषी व्यक्ति का उसके सद्गुणों की ओर लक्ष्य नहीं रहेगा। किन्तु द्वेषी तो उसकी निन्दा ही करेगा। सद्गुणों की निन्दा करने से उसे झूठ का सहारा लेना पड़ा।

3-कोई व्यक्ति अज्ञानी हो। आत्मा-परमात्मा के स्वरूप को न जानता हो सत्य-झूठ का विवेक न हो तो वह भी असत्य का प्रयोग किये बिना नहीं रह सकता जैसे आत्मा-परमात्मा के वास्तविक स्वरूप को न जानने वाला व्यक्ति अज्ञानवश अवास्तविक स्वरूप बतलावेगा। अतः उस का रचित साहित्य भी सत्य पर आधारित नहीं हो सकता। तो वह आत्म कल्याणकारी कैसे हो सकता है ?

किन्तु जिसमें अज्ञान, राग-द्वेष आदि नहीं हैं उसे असत्य बोलने का कोई प्रयोजन नहीं है।

परमार्थिक देव (ईश्वर)

यस्य संकलेशजननो रागो नास्त्येव सर्वथा ।

न च द्वेषोऽपि सत्त्वेषु शर्मन्धन दावानलः ॥1॥

न च मोहोऽपि सञ्ज्ञानाच्छानोऽशुद्ध-वृत्त-कृत ।

त्रिलोक-ख्यात-महिमा महादेवः स उच्यते ॥2॥

जिस के संकलेशजनक (आत्मा के स्वाभाविक स्वभाव को हानि पहुंचाने वाला) राग अभिष्वंग का अंशमात्र भी सर्वथा नाश हो गया है तथा प्राणियों को उपशम (शांति) रूपी ईंधन को जलाने के लिए दावानल समान द्वेष (अप्रीति-वैर-भाव) भी नहीं है। पाप-फल से कलंकित व्यवहार (बर्ताव) करने वाला तथा सद्भूत अर्थ के ज्ञान को आच्छादित करने वाला मोह अज्ञान का अंश भी नहीं है। ऐसे तीनलोक में प्रसिद्ध महिमा वाले व्यक्ति विशेष को महादेव कहते हैं। (वह जिनन्द्र-

यानी जो देव (ईश्वर-परमात्मा) राग, द्वेष, मोह, अज्ञान से रहित है उसे देवाधिदेव-महादेव कहते हैं ।

यो वीतरागः सर्वज्ञो यः शाश्वत-सुखेश्वरः ।

क्लिष्ट-कर्म-कलातीतः, सर्वथा निष्कलस्तथा ॥3॥

यः पूज्यः सर्वदेवानां यो ध्येयः सर्वयोगिनां ।

यः स्रष्टा सर्व-नीतीनां महादेवः स उच्यते ॥4॥ (युगम्)

जो वीतराग (राग-द्वेष-काम-मोह आदि रहित), सर्वज्ञ (सर्वघाती कर्म-वरण के क्षय हो जाने से उत्पन्न हुए समस्त द्रव्य-गुण-पर्याय को विषय करने वाले केवलज्ञान को तथा केवलदर्शन को धारण करने वाले) शाश्वत सुख (निरन्तर रहने वाला निर्वाण-जनित सुख), सर्व क्लिष्ट (घाती) कर्मों को नाश करने वाले, सब दोषों से रहित, सब देव-दानवों के पूज्य हैं, सब योगियों के ध्येय हैं, सर्व नीतियों के स्रष्टा हैं, उन्हें महादेव (देवाधिदेव) कहते हैं ।

यस्य निखिलादच दोषा न सन्ति सर्वे गुणाश्च विद्यन्ते ।

ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥5॥

जिस के सब दोष नष्ट हो गये हैं, जिस में सर्व गुण विद्यमान हैं, वह नाम से चाहे ब्रह्मा, हर (महादेव-शिव-शंकर), विष्णु, जिन (अर्हत्) अथवा कोई भी हो, उसे नमस्कार है ।

सर्वज्ञो जितरागादि-दोषस्त्रैलोक्य-पूजितः ।

यथावस्थितार्थवादी स देवोऽर्हन्त-परमेश्वरः ॥6॥

अर्थः सर्वज्ञ¹—जीव अजीव आदि तत्त्वों के ज्ञाता²—जितरागादि दोष-आत्मा को दूषित करने वाले समस्त राग-द्वेषादि अठारह दोषों को जीतने वाले³—त्रैलोक्य पूजित-देव, दानव, मानव, तिर्यंच आदि (ऊर्ध्व, मध्य, अधो) तीन लोक के उत्तम प्राणियों से वन्दन, सेवा, पूजा, स्तोत्रादि द्वारा) पूजित और यथावस्थितार्थवादी-सत्य तत्त्व रूपी अमृत का धर्मदेशना द्वारा पान कराने वाले ऐसे श्री अरिहन्त परमात्मा ही देव हैं ।

ध्यातव्योऽयमुपास्योऽयमेव शरणमिच्छताम् ।

अस्यैव प्रतिपेक्ष्यं शासनं चेतनाऽस्ति चेत् ॥7॥

यदि आप में सद्-असद् का विचार करने की चेतना-विवेक बुद्धि है तो ऐसे देव (ईश्वर परमात्मा) का ध्यान करना, उपासना करना, उनकी शरण में जाना और उन्हीं के शासन (धर्ममार्ग) को स्वीकार कर आवरण में लाना (ताकि इधर-उधर भटकने की बजाय सपथगामी बनकर आत्म कल्याण करने के भाग्यशाली बन सकें) ।

2-इसमें तीर्थंकर देव के चार अतिशयों का संकेत है । 1-सर्वज्ञ से ज्ञाना-तिशय, 2-अपायापगमातिशय, 3-पूजातिशय, 4-वचनातिशय ।

जिस व्यक्ति को जैसे गुणों को प्राप्त करने की इच्छा होती है उसे वैसे ही आदर्श के आलम्बन की आवश्यकता रहती है। जैसे क्षत्रियोचित वीरता पाने के लिए, युद्ध में शत्रुओं को जीतने के लिए, देश की तथा परिवार की रक्षा के लिए चक्रवर्ती राजा, छत्रपति शिवाजी, महाराणा प्रताप, नेपोलियन, किंगड्यू आदि युद्धवीरों के आदर्श की आवश्यकता रहती है। कामी पुरुषों को कामशास्त्र-कोकशास्त्र आदि के अध्ययन की आवश्यकता है। वैश्वोचित व्यापारादि में योग्यता और उत्कर्ष प्राप्त करने के लिए टाटा, बाटा, मोदी आदि से कुछ सीखने की आवश्यकता है। ब्रह्म ज्ञानाति इति ब्राह्मणः अर्थात् जो ब्रह्म (परमात्मा) को जानता है वह ब्राह्मण है। जो आत्मा और परमात्मा के स्वरूप को जानकर मोक्षाभिलाषी है और स्वयं तथा विश्व के प्राणियों को आध्यात्मिक शांति प्राप्त करने कराने का अभिलाषी है उसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चरित्र का तथा अहिंसा, अनेकान्तवाद एवं अपरिग्रह का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य है। इस के लिए अर्हंतों (तीर्थंकरों) द्वारा प्ररूपित सम्यग् तत्त्वज्ञान, उस पर पूर्ण सम्यग् श्रद्धा एवं सम्यक् शुद्ध आचरण की परमावश्यकता है। इस के लिए जिनेन्द्रदेव द्वारा उपदेशित जैनागमों (शास्त्रों) के अभ्यास-स्वाध्याय से ज्ञानाजन करना तथा तदानुकूल चरित्र ग्रहण करना है। वीतराग सर्वज्ञदेव, पंचमहाव्रतधारी गुरु तथा सद्धर्म की वन्दना, सेवा, पूजा आराधना का संबल उपासक के लिए परमावश्यक है। हम लिख आये हैं कि अर्हत् तीर्थंकर में ही ईश्वर परमात्मा के वास्तविक गुण हैं। वीतराग-सर्वज्ञ होने से उन्हीं का बतलाया हुआ धर्ममार्ग सम्यग् धर्म है। ऐसे धर्म का पालन करने से ही विश्व के प्राणि मात्र को आध्यात्मिक व आधिभौतिक शांति प्राप्त हो सकती है। इसी के प्रचार-प्रसार और आचरण से अन्तर्द्वंद्व तथा बाह्यद्वन्द्वों से छुटकारा मिल सकता है जिन (तीर्थंकर) के द्वारा बतलाया हुआ धर्म जैनधर्म कहलाता है और इसका पालन करने वाले जैन कहलाते हैं इस धर्म का पालन करने से सच्चा ब्राह्मणत्व-जैनत्व प्राप्त हो सकता है और विश्व में शांति का बोलबाला संभव हो सकता है। जो मुमुक्षु मोक्ष प्राप्त करने का अभिलाषी है वही वास्तविक जैन है। अतः आत्मा और विश्व कल्याण के लिए चिरस्थायी शांति पाने के लिए वीतराग सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेवों, इन्द्रभूति-गौतम सुधर्मा आदि जैसे निर्ग्रन्थ गणधरों (मुनिवरों, सद्गुरुओं) तथा जिनेश्वर भगवन्तों द्वारा प्ररूपित जैनागमों (द्वादशांग-वाणी) का सेवन करने की परमावश्यकता है। इसका एक मात्र आदर्श तीर्थंकर प्रभु की भक्ति, उपासना, वन्दना, पूजा, स्तुति ध्यानादि; निर्ग्रन्थ मुनियों सुगुरुओं का सानिध्य, उनके द्वारा सदागमों के प्रवचनों का श्रवण, तथा स्वाध्याय-निदध्यासन एवं आगमानुकूल धर्म का आचरण करना; आराध्य की अविद्यमानता में उनके प्रति आदर का परिणाम होने के लिए स्थिर और सुदृढ़ भक्ति की जरूरत है। भक्ति की ऐसी स्थिरता-सुदृढ़ता आराधक को अत्यन्त शुभ फल को देने वाली है। इस में लेशमात्र भी विवाद को अवकाश नहीं है।

इन महापुरुषों के अभाव में उनकी मूर्ति-प्रतिमा से ही उनके साक्षात् दर्शन संभव हैं तथा उनके उपदेशों तथा चरित्रों का जिनमें संकलन है ऐसे सद्-आगम (शास्त्र-समूह) ही उनके सिद्धान्त और आचार का बोध करा सकते हैं। कहने का आशय यह है कि तीर्थंकर भगवन्तों की प्रतिमा, उनके संघ में निर्ग्रन्थ जैन श्रमण-श्रमणियां एवं उन के द्वारा कथित जैनागम ये तीनों ही इस काल में आत्म-कल्याण की साधना के लिये परम-उपयोगी साधन हैं। इन तीनों के सद्भाव तथा सम्पर्क से ही मुमुक्षु आत्माएं परम-कल्याणकारी ध्येय को पा सकती हैं।

दूसरी बात यह है किसी भी आराधना के लिए चित्त की एकाग्रता, स्थिरता और निर्मलता की परमावश्यकता है। उसके बिना कार्य की सफलता सम्भव नहीं। आत्म-स्वरूप के चिन्तन तथा उसे कर्मों के बन्धन से मुक्त कराने के लिए ध्यान और कायोत्सर्ग की नितान्त आवश्यकता है। चित्त की निर्मलता, स्थिरता, एकाग्रता के बिना ध्यान संभव नहीं है। ध्यान की एकाग्रता से ही ध्याता-ध्येय को पा सकता है। किसी भी कार्य की सफलता के लिये गम्भीर चिन्तन की जरूरत रहती है। यहाँ तो आत्मा के वास्तविक स्वरूप को समझ कर उसे प्राप्त करने का ध्याता का ध्येय है। ऐसी अवस्था प्राप्त करने के लिए ऐसे महापुरुषों का बाह्य और आभ्यन्तर स्वरूप एवं उनके चरित्र की भी जानकारी परमावश्यक है। जिसके आदर्श को सामने रखकर आत्म-स्वरूप को साक्षात् करके घातिकर्मों को क्षय करने में सफलता मिल जावे। ऐसा होने से ही वीतरागता, केवलदर्शन, केवलज्ञान पाने का सौभाग्य मिल सकता है। ऐसा आदर्श ध्यान साक्षात् तीर्थंकर अथवा उनकी प्रतिमा के सिवाय अन्य किसी में नहीं पाया जाता। वर्तमान में तीर्थंकर के न होने से मात्र उनकी पद्मासना सीन अथवा खडगासनासीन प्रतिमा (जिनप्रतिमा) के दर्शन पूजन से ही साक्षात्कार हो सकता है। कहने का आशय यह है कि ध्याता को ध्यान में जिस ध्येय की प्राप्ति का लक्ष्य होता है उसी के अनुरूप आदर्शवाली आकृति, उनका सिद्धांत और चरित्र ही साधक के सम्मुख होने चाहिए। हमारा ध्येय आत्म-कल्याण का है, कर्म-बन्धन से मुक्त होकर आत्मा के शुद्ध स्वरूप को पाकर शाश्वत सुख रूप मोक्षपद प्राप्ति का है। इस अवस्था को पाने के लिए तीर्थंकर भगवन्तों की प्रतिमा भी एक अनिवार्य साधन है।

जैनधर्म की मान्यता है कि विश्व अनादिकाल से है और अनन्तकाल तक विद्यमान रहेगा। मानव भी अनादिकाल से है और अनन्तकाल तक रहेगा। इस पृथ्वीतल पर जब से मानव है तभी से उसका आचरण भी है। जबसे आचरण है तब से उसे परिष्कृत करने का लक्ष्य तथा उसके साधन भी हैं। वे उपाय और साधन बाह्य भी हैं आभ्यान्तर भी हैं। आचरण के परिष्कार से ही मानव मानवता को पाता है। मानवता ही विश्व में चिरस्थायी शांति स्थापित कर सकती है। आचरण

को सम्पूर्ण परिष्कृत कर लेने पर ही आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को पा सकता है। ऐसे आचरण और साधनों को ही धर्म की संज्ञा दी है। इस धर्म का आचरण करने वाले भी अनादिकाल से हैं। धर्म के आचरण से केवलज्ञान पाकर सर्वज्ञ-तीर्थंकर भी अनादिकाल से हैं। इसी धर्म के आचरण से सब कर्मबन्धनों से छुटकारा पाकर मोक्ष पाने वाले सिद्ध परमात्मा भी अनादिकाल से हैं। शरीरधारी तीर्थंकर अनादिकाल से होने से रूपी ईश्वर भी अनादिकाल से हैं। तो उनके उपासक भी अनादिकाल से हैं। यदि उपासक अनदिकाल से है तो उपासकों की उपासना के लिये तीर्थंकरों और सिद्धों की प्रतिमाएँ भी अनादिकाल से हैं। यदि प्रतिमाएँ अनादिकाल से हैं तो उन्हें स्थापित करने के लिए जिनमंदिर भी विश्व में अनादिकाल से हैं। उन तीर्थंकरों के च्यवन, जन्म, क्रीडा-स्थली, दीक्षा, तप, विहार, ध्यान, केवलज्ञान स्थान, समवसरण, निर्वाणस्थान भी अनादिकाल से हैं। अतः जैनधर्म भी अनादिकाल से है। इसी प्रकार विश्व अनन्तकाल तक विद्यमान रहेगा तो जैनधर्म, जिन मन्दिर, जैनतीर्थ भी अनन्तकाल तक विद्यमान रहेंगे इसमें संदेह नहीं है। हाँ स्थान समय-समय पर परिवर्तित होते रहते हैं। प्रतिमाएँ, मंदिर, तीर्थस्थल भी ध्वंस और नवनिर्मित होते रहते हैं। जैसे कि प्रत्येक तीर्थंकर के कल्याणक-स्थल अलग-अलग हैं। अनेक आततायियों ने, धर्म द्वेषियों ने, प्राकृतिक प्रकोपों ने प्राचीन मंदिरों मूर्तियों, तीर्थस्थलों को नष्ट-स्रष्ट, ध्वंस किया, साथ ही साथ अनेक उपासकों द्वारा जिनप्रतिमाओं, मंदिरों, तीर्थों का निर्माण तथा स्थापनाएँ भी निरन्तर चालू रहते आ रहे हैं। इसलिये ये सब वस्तुएँ अनादि और अनन्तकालीन हैं। इन मन्दिरों, प्रतिमाओं, तीर्थों की पूजा, उपासना भी भगत लोग सदा करते आ रहे हैं। अतः अनादिकाल से जिन प्रतिमाओं का आर्हत्—(जैन) लोग निर्माण, स्थापन, प्रतिष्ठा तथा पूजन करते चले आ रहे हैं। यह निःसन्देह है।

मोक्ष प्राप्ति और जिन प्रतिमा

प्रतिमा ध्यान की एकाग्रता के लिए मुख्य साधन है। साक्षात् तीर्थंकर किसी साधक के लिए बन्धे हुए नहीं है कि वे उसके साधनकाल तक उसके सामने स्थिर रूप से उपस्थित रहें। जिससे यह उनकी आकृति पर अपनी दृष्टि और ध्यान को स्थिर बनाये रखे। उनके उपासक तो लाखों करोड़ों की संख्या में होते हैं और वे अपने-अपने निवास स्थानों पर अलग-अलग मकानों, स्थानों, मुहल्लों, ग्रामों, नगरों, देशों आदि में रहते हैं : अपने जीवित काल में, एक समय में, एक क्षेत्र में एक तीर्थंकर उपस्थित होते हैं। हर समय सब उपासकों के सामने सब स्थानों में वे विद्यमान रहें यह कदापि संभव नहीं है। अतः तीर्थंकर की जीवित अवस्था अथवा निर्वाण पा जाने के बाद भी उनकी अविद्यमानता में साधक को अपनी उपासना के लिए तीर्थंकर प्रभू की प्रतिमा, चित्र, फोटो आदि का आलंबन परमावश्यक है। क्योंकि प्रमत्त-प्राप्त के लिए तीर्थंकर प्रतिमा ही ध्यान तथा कायोत्सर्ग में एकाग्रता के लिए मुख्य

साधन है। यही कारण है कि तीर्थकरों के जीवितकाल से ही जिनप्रतिमाओं की स्थापनाएं चालू हैं। इसका प्रमाण प्रभु श्री महावीर के जीवितकाल में ही सिन्धु-सौवीर के राजा उदायी की पट्टरानी भूभावती अपने राजमहल में प्रभु महावीर की प्रतिमा स्थापित कर उसकी वन्दना, भक्ति, उपासना, पूजादि नित्यप्रति किया करती थी। इसका उल्लेख जैनागमों में स्पष्ट पाया जाता है। स्पष्ट है कि प्राचीन काल से ही जैन धर्मानुयायी जिनमन्दिरों में जाकर जिन प्रतिमाओं की वन्दना, पूजा, भक्ति, उपासना करके अपने आत्म-कल्याण की साधना करते आ रहे हैं। प्रतिबिम्ब, प्रतिमा, मूर्ति, बिम्ब, चित्र, फोटो आदि का अर्थ प्रतिकृति ही है। फिर वह चाहे पाषाण, धातु, मिट्टी, बालु, काष्ठ, हाथीदांत, सोना, चाँदी, मणि, माणिक्य, जवाहरात, पत्र, कागज, वस्त्र आदि किसी भी पदार्थ से निर्मित हो।

मानव शरीरधारी है, प्राथमिक अभ्यासी के लिए उसके अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए शरीरधारी का ही आदर्श चाहिए। मानव-शरीर के द्वारा ही उन आदर्श महापुरुषों ने आत्मस्वरूप को प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त किया है। मूर्ति भी शरीरवाले रूपवाले की ही बन सकती है अरूपी की नहीं बन सकती। तीर्थकर प्रभु शरीर-धारी है, रूपी हैं और मानव शरीर से ही उन्होंने मुक्ति प्राप्त की है अतः मुमुक्षु के लिए उनके रूप के अनुरूप ही प्रतिमा होती है और उसी की उपासना से आत्म-कल्याण संभव है।

मूर्ति-सम्यक्ता कला तथा इतिहास का अंग

किसी भी परम्परा का काल निर्णय करने के लिये उस के द्वारा निर्मित स्मारक मंदिर, मूर्तियाँ, तीर्थ ही प्रामाणिक साधन हैं। यदि जैन परम्परा में से जिन प्रतिमा तथा जिनमंदिर की मान्यता को निकाल दिया जाय तो उसकी ऐतिहासिक प्राचीनता की ढोंडी पीटना सम्यक् समाज में वैसा ही उपहासजनक होगा जैसा कि जंगल में कई दिनों से पड़े हुए प्राणी के चेतनाशून्य निर्जीव कलेवर को उठाकर उस से बात-चीत करने का उद्योग करना। तात्पर्य कि जैसे निर्जीव कलेवर बात-चीत करने में सर्वथा असमर्थ होता है उसी प्रकार जैन परम्परा में मूर्ति, मंदिर, स्मारक, स्तूप, गुफाओं आदि इतिहास के प्रमाणभूत साधनों को निकाल देने से उस की प्राचीनता रूप चेतना भी साथ में ही लुप्त हो जाती है। यदि आज भूगर्भ से निकली हुई अथवा यत्र-तत्र-सर्वत्र बिखरी हुई प्राचीन पुरातत्त्व सामग्री (मोहन जो दड़ो आदि सिंधुघाटी से पाँच हजार वर्ष पुराने जैन प्रतीक तथा मथुरा आदि अनेक स्थानों से प्राप्त दो-ढाई हजार वर्ष प्राचीन स्तूप, मंदिर, मूर्तियाँ) एवं इन से भी प्राचीन अर्वाचीन विशालकाय जिनमंदिरों में विराजमान जिनप्रतिमाएँ, तीर्थस्थल विद्यमान न होते।

यदि आगम में वर्णित मथुरा का देवनिर्मित जैनस्तूप कंकाली टीले को खोदने से उसके गर्भ में से न निकाल पाते अथवा पंजाब में जेहलम नदी तटवर्ती मूर्ति-गाँव से अनेक मंदिरों के अवशेष एवं काँगड़ा आदि अनेक स्थानों से पुरातत्त्वज्ञों को

प्रतिभाएं प्राप्त न होती तो कौन ऐसा व्यक्ति होता जो केवल हमारे कथन मात्र से ही जैनधर्म की प्राचीनता को स्वीकार कर लेता। अतः भेरे ख्याल से तो यह बात निर्विवाद है कि जैन परम्परा से मूर्ति, मंदिर, स्तूप⁶ आदि के अस्तित्व को छोड़ कर उस की प्राचीनता का दावा करना बालबेष्टा के सिवाय और कुछ भी महत्व नहीं रहता।

ये मूर्ति मंदिर आदि मात्र ऐतिहासिक प्राचीनता के साधन ही नहीं हैं परन्तु हमारी सम्यता के भी महत्वपूर्ण प्रतीक हैं। कला का उच्च आदर्श और शांत स्वच्छ वातावरण का अनुपम आदर्श का उदाहरण अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगा। हमारे पूर्वज कितने त्यागी, भवभीरू, प्रभु-भक्त, गुरुजनों के प्रति श्रद्धालु, शास्त्रज्ञ, षट्दर्शनवेत्ता थे ये, जिन प्रतिभाएं, मंदिर, तीर्थ इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण उपस्थित करते हैं। अतीत के अज्ञानी तथ्यों के थपड़े, विधर्मियों के प्रलयकारी कठोर आघात तथा समय-समय पर आनेवाले प्राकृतिक प्रकोपों को बरदाश्त करते हुए भी वे आज तक अपनी ज्ञानशौकत को अक्षुन्न रूप से कायम रखते हुए विद्यमान है। मात्र इतना ही नहीं अपितु इससे भी बढ़कर घर के (जैन परम्परा में जिनप्रतिमा के) विद्रोहियों ने भी इन प्रतिमाओं, मंदिरों, तीर्थों को नुकसान पहुंचाने में कोई कमी नहीं रखी। जिस से जैन सम्यता, इतिहास, कला, धर्म श्रद्धा-भक्ति उपासना के साधनों, इन की महत्ता और प्रतिष्ठा को आघात पहुंचा। किन्तु इन प्रतिमाओं, मंदिरों, तीर्थों, गुफाओं, स्तूपों स्मारकों ने तो भारती कला के विकास में अनन्य चारचांद लगा दिये हैं। अतः ऐसे आघातों, प्रत्याघातों, प्रकोपों, हथकंडों, विरोधी प्रचारों, प्राकृतिक प्रकोपों को सहन करते हुए आज भी जैन समाज तथा भारत के गौरव को बढ़ाने वाले हमारे बीच ये मन्दिर तीर्थ आदि विद्यमान हैं। और सूर्य के समान चमक रहे हैं।

धार्मिक भावनाओं के प्ररक, रक्षक और प्रवर्धक

यदि विचार किया जावे तो पता चल ही जावेगा कि ये मंदिर आदि ऐतिहासिक, कला तथा सम्यता के प्रतीक तो हैं ही। परन्तु हमारे हृदय में परमात्मा, धर्म-गुरुओं तथा धर्म के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा पैदा करने वाले, वीतराग सर्वज्ञ कथित धर्म का साक्षात्कार तथा श्रद्धा कराने वाले एवं मोक्षमार्ग के आचरण केलिये प्रेरणादायक हैं। दूर दुर्गम स्थानों में जहां साधु-साध्वियों का पहुंचना और आवागमन दुष्कर भी है, जहां धर्म के अन्य साधन भी उपलब्ध नहीं हैं वहां केवल इन मंदिरों आदि की कृपा से ही जैनधर्म का अस्तित्व टिक रहा है। कहां काश्मीर, कहां कन्याकुमारी, कहां आसाम और कहां पंजाब, सीमाप्रांत, सिंध, कहां गुजरात, सौराष्ट्र, महाराष्ट्र, कच्छ राजस्थान मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, नेपाल, भुटान, बंगाल, उड़ीसा आदि क्षेत्रीय भाग; कहां पर्वतों की दुर्गम घाटियां, कहां खाईयां, पार्वतीय कन्वराएं, गुफाएं, कहां यातायात की असुविधाएं और कहां वन, जंगल, अटवियां, ऐसे-ऐसे स्थानों में आज भी इन्हीं की

6-विशेष जानकारी के लिये देखें—मध्य एशिया और पंजाब में जैन धर्म की इतिहास पुस्तक (हमारी कृति)

कृपा से आर्हत-जैनधर्म का दीपक जगमगा रहा है। समुद्रपार जहां आज जैन निर्ग्रंथ श्रमण-श्रमणियों की पहुंच नहीं, वहां भी हमारे मंदिर-मूर्तियां ही वहां के लोगों की धर्मदृढ़ता के साधन रहे हैं। इन्हीं की बदौलत हमें जैन होने का गौरव है! धर्म को कायम रखने के लिए वर्तमान में तीन मुख्य साधन हैं। 1. साधु साध्वी श्रमण संघ 2. धर्मशास्त्र तथा 3. जिनप्रतिमा, मंदिर, तीर्थोदि। 1. धर्मग्रंथ तो पढ़े-लिखे लोगों की रुचि, ज्ञान और अवकाश की वस्तु है। 2. धर्मगुरु सदाकाल एक जगह नहीं रह पाते, सदा सर्वत्र पहुंच भी नहीं पाते। दुर्गम घाटियों में, बड़ी-बड़ी नदियों और समुद्रपार दूर देशांतरों में जाना, पहुंचना तो इन केलिये असंभव ही है। 3. जहां शास्त्रों के वाचने. पढ़ने वाले ज्ञाता विद्वान नहीं हैं, जहां साधु-साध्वियों का आवागमन नहीं है, वहां केवल इन्हीं मंदिरों, मूर्तियों, तीर्थों की कृपा से ही जैनधर्म की रक्षा हुई है। ये मंदिर आदि तो पढ़े लिखों-अनपढ़ों, विद्वानों, बुद्धिमानों, अल्पज्ञों मूर्खों, गरीबों, धनियों, बच्चों-बूढ़ों, स्त्री-पुरुषों सबके लिये भक्ति उपासना और देव, गुरु, धर्म के स्वरूप को जानने का सहज साधन तथा उनकी धर्माराधना में प्रेरणा-दायक हैं। मात्र इतना ही नहीं किन्तु उनके बाप-दादा आदि पूर्वज किस धर्म के अनुयायी थे उसकी याद तथा ज्ञान केलिये भी अचूक साधन और प्रत्यक्ष प्रमाण है। ये पुण्योपार्जन, अनन्त शाश्वत सुख प्राप्ति अथवा मोक्ष प्राप्ति के अमोघ साधन हैं। मनुष्य भव एक तरफ विवेकी बनने में अत्यन्त महत्वपूर्ण है तो दूसरी तरफ अविवेकी बनकर खतरनाक भी है। ऐसी स्थिति में देव, गुरु, शास्त्र के संबल से मानव को विवेकी, धर्मशील बनाकर मोक्षमार्गी बना सकते हैं। जैन समाज का गौरव है कि इसके पूर्वजों ने अपने सब तीर्थंकरों के गर्भ-जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान, मोक्ष प्राप्ति करने वाले सब स्थानों पर मंदिरों का निर्माण करके तीर्थों की स्थापनाएं कर अक्षुन्न रूप से सुरक्षित रखा है। जो अन्य किसी भी धर्म-संप्रदाय ने अपने माने हुए महापुरुषों के ऐसे स्थानों को सुरक्षित नहीं रख पाये। अतः उन्हें पता ही नहीं कि उनके असली स्थान कहाँ हैं।

जिन पंथों, मतों, संप्रदायों ने अपने आप को जैन मानते हुए भी जिनप्रतिमा की मान्यता, उपासना का निषेध किया है अथवा जैन जैनैतर समाज ने मूर्तिपूजा के विरोध के प्रचार से जैनधर्म की संस्कृति, धर्म श्रद्धा, कला, इतिहास आदि को धक्का पहुँचाया है, ऐसे लोगों को सदबुद्धि प्राप्त हो, इस बात को लक्ष्य में रखते हुए उनकी भ्रांत मान्यताओं के समाधान केलिए यहाँ पर प्रकाश डालना परमागश्यक है। जिससे भटके हुए सरल स्वभावी, सत्याभिलाषी, विवेकी मुमुक्षुजिन विवेक पूर्ण गंभीरता से मनन तथा चिन्तन करके सोचेंगे, समझेंगे तो उन्हें अपने तथा अपने पूर्वजों पर इस दुष्कृत केलिए अवश्य पश्चाताप होगा और वे विवेकी विचारक सत-पथ-गामी बनकर जिनप्रतिमा पूजन को स्वीकार करेंगे तथा उनके संरक्षण, प्रवर्धन आदि में निष्ठावान बनकर सदा अग्रसर होकर अपना और अपने सहयोगियों का आत्मकल्याण करने में कृतसंकल्प बनेंगे।

तीसरा प्रकाश

प्रतिमा : विभिन्न दृष्टिकोण

आत्मकल्याण हेतु उपासना की अवधारणा में मूर्ति की आवश्यकता पर विभिन्न धर्मों में अलग-अलग मान्यताएँ हैं।

सब प्रतिमा पूजा विरोधी भी किसी न किसी रूप में मूर्तिपूजक अवश्य हैं। पर उससे आत्मकल्याण संभव नहीं। निराकार अरूपी ईश्वर को मानने वालों के लिए तो उनके ईश्वर की मूर्ति बनाना सर्वथा असंभव है क्योंकि मूर्ति तो साकार की ही बन सकती है साकार का ही चित्र, फोटो मूर्ति आदि बनाना संभव है। जिस का कोई आकार ही नहीं है सदा निराकार अरूपी है, ऐसे ईश्वर का ध्यान, उस की उपासना उस परमात्मा के आचार, विचार का सर्वथा अभाव होने से उस का मनन चिंतन-ध्यान कदापि संभव नहीं है। परन्तु फिर भी उन्हें उपासना के लिए किसी न किसी आकार को माध्यम बनाना ही पड़ा है।

1-सर्व प्रथम—मुसलमानों ने अपने उत्पत्तिकाल से ही बूत (मूर्ति) विरोधी होते हुए भी पीरों-पेगम्बरों के मकबरों, कब्रों, ताजियों, इमामवाडों, मस्जिदों को पूज्य मानकर उनकी उपासना चालू की। एक मुसलमान को अपने इष्ट की मूर्ति को प्रत्यक्ष नहीं तो अप्रत्यक्ष रूप में अपने इष्ट के साथ कुछ वस्तुओं के आकारों द्वारा भक्ति को मान्य रखना ही पड़ता है। मस्जिद, मस्जिद का समस्त आकार तथा उस की एक-एक ईंट को ईश्वर की मूर्ति जैसी पवित्रता की नजर से देखता है। उसके रक्षण के लिए प्राणों की बाजी लगा देता है। मस्जिद भी एक आकारवाली जड़ वस्तु है। अरब देश के मक्का नगर में हजरत मुहम्मद साहब के अनुयायी मुसलमानों ने उनके स्मारक रूप में एक बिल्डिंग में एक बड़े काले पत्थर की स्थापना कर रखी है, उसे सगे अस्वद कहते हैं। उसकी पूजा उपासना के लिए विश्व के कोने-कोने से मुसलमान

4-इस पर प्रकाश डालते हुए जे मुर्रेमिचलस-दी ग्रेट रिलिजन्स आफ इंडिया नामक पुस्तक में लिखता है कि—मुसलमान जब हज करते हैं। तो

“In Pilgrim garb they walk seventimes round the sacred Mosque they kiss the black stone seven times, they drink the water in tensely brakish of the wall of Yenzem, they shave their heads and pair their nails and have their hair and nails burried. They then ascent mount Arafat, throw showers of stones at the pillars. This is understood to be stining the devil.

अर्थात्-यात्री (हाजी) लोग पवित्र पोशाक पहनकर मस्जिद की सात बार प्रदक्षिणा देते हैं तथा वहाँ पर जो काला पत्थर स्थापित किया हुआ है उसे सातवार चूमते हैं। यमजम कुए का पानी जो बिल्कुल खारा है उस का आचमन करते हैं। वहाँ वे अपना सिर मुँडवाकर और नाखुनों को कटवाकर कटे हुए बालों और नाखुनों को घरती में गाड़ देते हैं बाद में आराफत पहाड़ पर चढ़ते हैं वहाँ जो तीन स्तम्भ दिखलाई देते हैं उन की तरफ पत्थर फेंकते हैं। ऐसा करने से उनका इरादा शैतान को भगा देने का रहता है ॥

चहाँ यात्रा करने जाते हैं। यह यात्रा हब के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ के हज करने वाले को हाजी कहते हैं। मक्के शरीफ में जाकर हाजी उस पत्थर की सातबार प्रदक्षिणा लेकर सातबार बोसा (चुम्बन) ले कर अपने आप को कृत-पुण्य मानता है। ऐसे व्यक्ति मुसलिम जगत में हाजी साहब का पद पाकर सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं।

पुनश्च विश्व भर के सब मुसलमान जब नमाज पढ़ते हैं तो उनके निवास स्थान से सैकड़ों, हजारों मील की दूरी पर रखे हुए इसी संगे असवद की तरफ मुँह करके उसे सजबा (नमस्कार) करते हैं। अपने धर्म ग्रन्थों कुरान शरीफ आदि को भी बड़ा पूज्य मानते हैं जब कि वे भी कागज पर स्याही से लिखे हुए जड़ पौद्गलिक है।

2-ईसाई—(क्रिश्चियन) अपने गिरजाघर (Church) को बड़ा परित्र पूज्य मानते हैं और इसे खुदा का घर कहते हैं। यह भी ईंटों, चूने आदि जड़ पदार्थों से निर्मित एक इमारत है। उन के धर्मप्रवर्तक ईसा को सूली पर चढ़ाने के प्रतीक रूप कास को बड़ी श्रद्धा और भक्ति से सिर भुकाते हैं। ईसा, ईसा की मां मरियम की मूर्तियां स्थापन करके उसे बड़ी श्रद्धा भक्ति से सिर भुकाते हैं। जहाँ ईसा की पाथिब लाश को दफनाया गया था वहाँ योरोस्लम नगर में विद्यमान उसकी कबर पर जाकर बड़ी श्रद्धा से फूल चढ़ाते हैं।

3-सिख अपने गुरुओं के जन्मस्थानों, शहीदी स्थानों तथा उनके चमत्कार स्थानों पर बनाये हुए गुरुद्वारों में जाकर बड़ी श्रद्धा से सिर भुकाते हैं। उन के चित्रों को भी बड़ी श्रद्धा और भक्ति से सिर भुकाते हैं। गुरुवाणी के संकलन रूप श्री गुरु ग्रन्थसाहब को तथा जहाँ श्री ग्रन्थसाहब को विराजमान किया जाता है उन्हें भी बड़े भक्तिभाव से नमस्कार करते हैं। उस घरती की धूल को भी सिर आँखों पर चढ़ाते हैं। ये सब भी मूर्ति पूजा के प्रकारांतर ही हैं।

4-कबीरपंथी—अपने धर्म संचालक कबीर साहब के समाधी स्थल, उनके पहनने की लकड़ी की खड़ाऊँ तथा उन के अन्य उपकरणों को पूज्य मानकर बड़ी श्रद्धा और भक्ति से सम्मान करते हैं।

5-आर्य समाजी—आर्य समाज मंदिरों की स्थापना करते हैं अपनी समाज का प्रतीक कपड़े आदि का ओझ् का झंडा, उस में अरुही ईश्वर की स्थापना, अपने मत प्रवर्तक स्वामी दयानन्द के चित्रों पर बड़ी श्रद्धा से पूज्य भावना रखते हैं। वेद धर्म-शास्त्र (जो कागज और स्याही जैसे जड़ पदार्थों से निर्मित है) आदि सब मूर्तिमान जड़ पदार्थ होते हुए भी उन की अवहेलना-अपमान करना अथवा अन्य को करते खकर बरदाशत नहीं करते। अंग्रेजों के राज्यकाल में निजाम हैद्राबाद का राजधानी हैद्राबाद में इनके धर्मशास्त्र सत्यार्थप्रकाश की कुछ प्रतियां

खलाये जाने पर आर्य समाजियों ने अपना रोष प्रगट करने के लिए देशव्यापी आन्दोलन चलाया था। अब तो इन लोगों ने स्वामी दयानन्द के जन्मस्थान पर उन के स्मारक का निर्माण कर उसे तीर्थ की संज्ञा दी है। इसी मत के संन्यासी स्वामी श्रद्धानन्द की खड़ी मूर्ति को दिल्ली के चाँदनी चौक में खड़ी करके उनके प्रति श्रद्धा का प्रदर्शन भी किया है। देशनेता आर्य समाजी लाला लजपत राय की मूर्ति (बुत) के गजे में फूँ मालाएँ पहनाने में अने विले गौरव का अनुभव करते हैं। यह सब जड़ मूर्तिपूजा ही तो है।

6-राधास्वामीमत—अपने मतप्रवर्तक राधास्वामी का स्मारक आगरा के दयाल बाग में बनाकर उस में अपने मतप्रवर्तक राधास्वामी की समाधि का निर्माण किया है तथा उस में दर्शनार्थियों के लिए बहुत बड़ा चित्र भी रखा है। इस मत के अनुयायी इस समाधि स्थल को बहुत पवित्र मानते हैं और बड़ी श्रद्धा से नत मस्तक होते हैं।

शिक्षण शास्त्रियों तथा वैज्ञानिकों के लिये भी अने कार्य की सिद्धि के लिये चित्रों, नक्शे (Maps) आदि का आलम्बन अनिवार्य है। इस के बिना विषय को समझना-समझाना नहीं हो सकता।

8-वैष्णव सनातनी—अपने अवतारों की प्रतिमाओं का निर्माण कर उन की मन्दिरों में स्थानाएँ करके उनका पूजन करते हैं।

9-इसी प्रकार अने भी मत-मतांतर तथा शिक्षणादि संस्थाएँ और कार्य-प्रणालियाँ हैं। सबको जड़ पदार्थों का सहयोग लेना ही पड़ता है।

मूर्ति मान्यता पर एक अंग्रेज विद्वान के विचार

Lagicians may reason about abstractions, but the great mass of men must have images. The strong tendency of the multitude in all ages and nations to idolatry can be explained on no other principle. There is every reason to believe, that the first inhabitants of Greece worshipped one invisible Deity, but the necessity of having something more definite to adore produced in a few centuries, the innumerable crowd of Gods and Goddesses. In the manner, the ancient Persians thought impious in exhibit, the creator under a human form. Yet, even these transferred to the sun worship which, in speculation be considered due only to the supreme mind. The history of the Jews, is the record of continued struggle between pure Theism supported by the most terrible sanctions, and the strongly fascinating desire of having visible and tangible object of adoration.

God, the uncreated, the incomprehensible the invisible attracted few worshippers. A philosopher might admire so noble a conception but the crowd turned away in disgust from words which presented no image to their minds.

Soon after Christianity had achieved its triumph, the principle which has assisted it, began to corrupt. It became Paganism. Patron saints assumed the offices of household Gods. St Geoze took the place of Mars. St Elano and Polcus consoled the mariner for the loss of castor and Pullut. The virgin mother and Cicelia succeded to Venus and the Muses.

Reformers have often made a stand against these feelings but never with more than apparent and partial success. The more who demolished the images in cathedrals have not always been able to demolish these which were enshrined to their minds (Lord Mecollay)

अर्थात्-ताकिक चाहे इस विषय का हलका संवाद करें, पर जनसमुदाय को तो मूर्ति की जरूरत होगी ही। सब जमानों में समस्त प्रजा का झुकाव मूर्तिपूजा की तरफ रहा है और उसका कोई अन्य बदल भी नहीं है।

10—ग्रीस (युनान) के निवासियों के लिए ऐसा मानने के बहुत कारण हैं कि वे पहले एक अदृश्य-रूपी देव की पूजा करते थे। थोड़ी ही सदियों में एक अव्यक्त अरूपी की जगह व्यक्त रूपी वस्तु की आवश्यकता ने अनेक देवियों और देवताओं का झुंड का झुंड खड़ा कर दिया।

11—इसी तरह प्राचीन पारसी भी जगतकर्ता को मनुष्याकार में प्रस्तुत करना बहुत अधार्मिक कृत समझते थे। आखिर उनका भी यह विचार सूर्यदेव की उपासना में परिवर्तित हुआ और उसकी पूजा को खूले दिल से मानने लगे।

12—अब यहूदियों का इतिहास एक ओर लें तो एक शुद्ध अरूपी ईश्वरवाद से जो कि राज्य कानूनों से परिपुष्ट है और दूसरी तरफ पूजा भक्ति के लिए स्पष्ट रूपी वस्तु दिखलाई देती है और हाथ से स्पष्ट हो ऐसी वस्तु के लिये आश्चर्यकारक उत्पन्न बलवती इच्छा उन दोनों के आपसी झगड़े का एक प्रमाण है।

13—जिसे किसी ने उत्पन्न नहीं किया, जो अदृश्य है और जिसे कभी किसी ने नहीं देखा। ऐसा परमेश्वर अपनी तरफ शायद ही किसी को आकर्षित कर सकता है। उसे शायद कोई तत्त्वज्ञ पुरुष भले ही इस विचार की तारीफ करें परन्तु साधारण जन-समूह तो ऐसे शब्द जोकि उनके मन में कुछ भी प्रतिबिम्बित न कर सकें उनसे घृणा कर दूर भागेंगे।

14—ईसाइयों ने जो अपनी एक अरूपी ईश्वरवाद आदि की सैद्धांतिक विजय शीघ्र ही पा ली थी और उसमें जो उन्हें सिद्धान्त सहायक हुए थे वे (वापिस)

विकृत होने लगे और एक नवीन मूर्तिपूजा जन्मी । ईसाई पादरियों ने घर-देवताओं की जगह सम्भाल ली । सेंट ज्योज ने मंगल का स्थान लिया । सेंट एलनो और पोलकस मछुओं की सान्त्वना देने वाले के पद पर कायम हुए । कुमारिका माता और सिसीलिया गौरी तथा सरस्वती के स्थान पर मानी गई ।

सुधारकों ने उपयुक्त अनेक बातों पर कई दफा जोरदार प्रहार किये । परिणाम क्षणिक विजय के सिवाय कुछ न हुआ । भले ही वे लोग मन्दिरों की मूर्तियों को नष्ट-भ्रष्ट करने में अपनी शक्ति का प्रदर्शन कर पाये हों पर मूर्तियों को मानव समाज के हृदय पर से उखाड़ फेंकने के लिए किसी के पास कोई शक्ति नहीं है ।

(लाडं मेकोले के निबन्ध का अभिप्राय)

15—वेद धर्मानुयायियों को भी अदृश्य-अरूपी ईश्वरवाद के स्थान पर अवतारवाद की कल्पना करनी पड़ी । मात्र इतना ही नहीं परन्तु अनगिनत देवी-देवताओं यक्ष-यक्षिनियों के साकार रूपों ने उनके दिलो-दिमाग पर अपना आधिपत्य जमा लिया ।

कहने का आशय यह है कि सभी अदृश्य-अरूपी ईश्वरवादियों के सामने उनके ईश्वर का न तो कोई स्वरूप है व रूप है और न ही कोई चरित्र है । इसलिये उन्हें भी अपनी उपासना और भक्ति के लिये किसी न किसी साकार की शरण लेनी पड़ी । परन्तु जो आकृतियाँ उन्होंने स्वीकार कीं अथवा जिस जीवित साकार व्यक्ति अथवा व्यक्तियों को पूज्य मानकर उनका आलम्बन लिया ऐसे प्रतीकों में उन के माने हुए ईश्वर का अभाव ही रहा है । अतः ऐसी मूर्तियों, चित्रों फोटो, स्मारकों, उपासनागृहों, आकारों आदि में उनके माने हुए ईश्वरों अथवा उन के स्वरूप का आभाव ही है । ईश्वर अरूपी निराकार होने से वे सब आकार न तो ईश्वर के हैं और न ही निर्गुण ईश्वर की उन में स्थापना ही संभव है । ऐसे यक्षों-गणियों के प्रतीकों द्वारा तकियों, पीरों, पैगम्बरों, गुरुओं, ग्रन्थों, देवियों-देवताओं, आदि की उपासना ही संभव है परन्तु ईश्वर परमात्मा की नहीं । अतः ऐसी भक्ति उपासना से ईश्वर की भक्ति उपासना असंभव होने से ईश्वरत्व-मोक्ष की प्राप्ति भी असंभव है । अग्नि कुंडों में याग-यज्ञ आदि करने से अथवा सूर्य, नाग आदि की उपासना से भी आत्मकल्याण होता संभव नहीं । जिनके वे प्रतीक हैं वे और उनके द्वारा जिन की उपासना की जाती है, वे सब स्वयं कर्मबन्धनों से जकड़े हुए हैं । रागी छेपी, कामी, अल्पज्ञ, जन्म-जरा-मृत्यु के चक्र में उलझे हुए हैं । इच्छाएं, बाधाएं उन्हें घेरे हुए हैं । मोह माया के पाश में फंसे हुए हैं । उन की उपासना से वीतरागता सर्वज्ञता और मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती । ऐसे संसारियों की उपासना से संसार की वृद्धि ही संभव है ।

सामात् जिनेन्द्र तथा उनकी अनुपस्थिति में जिन प्रतिमा द्वारा ही आत्मकल्याण संभव है

हमारे सामने जैसा आदर्श होगा वैसा ही हम बनेंगे ! चित्रकार के सामने अथवा कल्पना में जैसा चित्र होगा, वैसा ही वह चित्रित कर पायेगा । अतः मोक्ष प्राप्ति के लिए वीतराग सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बनने के लिए वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकरों की भक्ति उपासना से ही आत्मकल्याण संभव है अन्यथा नहीं । क्योंकि मात्र तीर्थंकर ही जीवित साकार परमात्मा हैं उन्होंने अपने पुरुषार्थ से ईश्वरत्व प्राप्त किया है । वे स्वयं शुद्ध निर्मल पवित्र अनन्तगुण सम्पन्न परमात्मा बने हैं । उन्होंने स्वयं ही इस मार्ग का आचरण करके जाना है इसलिए उन्हीं का उपदेश धर्मत्व का सच्चा मार्ग है । रागी, द्वेषी, कामी, छद्मस्थ की स्वयं वस्तु-तत्त्व का यथार्थ ज्ञान नहीं होता इसलिए उसके उपदेश में भी यथार्थता नहीं होती । मात्र वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकर परमात्मा का बतलाया हुआ मार्ग, आचार और विचार, चारित्र्य और उपदेश ही सदा सर्वथा सत्य हैं, सम्यक् हैं, यथार्थ हैं, संसार सागर में भटकते प्राणियों के लिए शाश्वत सुख मोक्ष का दाता हैं । वह स्व-पर प्रकाशक है । तीर्थंकर परमात्मा के अभाव में उनकी वाणी रूप आगम हैं और उनके साक्षात् दर्शन पाने के लिए प्रशांत-रस-निमग्न उनकी प्रतिमाएँ हैं । जो व्यक्ति सदा श्रद्धा पूर्वक स्वयं तीर्थंकर भगवन्तों की वाणी को सब्गुहर्षों के मुख से श्रवण करता है उसका स्वाध्याय करता है उन का ज्ञान निर्मल परिष्कृत होते हुए वृद्धि को प्राप्त करता है । जिससे उसे सम्यक् श्रुतज्ञान की प्राप्ति होती है । मोहनीय, ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय अन्तराय चारों घातीया कर्मों का क्षयोपशम निर्मल बन जाता है । तीर्थंकर भगवन्तों की प्रतिमाओं की श्रद्धा और भक्ति पूर्वक वन्दना-दर्शन पूजनादि करने से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति और उत्तरोत्तर निर्मलता पवित्रता में वृद्धि होती रहती है । अन्त में क्षयोपशम सम्यक्त्व क्षायिक होकर अनन्तता को प्राप्त कर लेता है सम्यग्दर्शन (श्रद्धा) तथा सम्यग्ज्ञान से वीतराग सर्वज्ञ के स्वरूप को जानने पर उनके प्रति हमारी श्रद्धा भक्ति जाग्रत होगी । श्रद्धा भक्ति जाग्रत होने से उनके बतलाये हुए मार्ग-धर्म को आचरण में लाने की भावना जाग्रत होगी और उनके बतलाये हुए आचार और विचार को आचरण में लाने के सौभाग्यवान बन पायेंगे । सम्यक् आचरण से ही आत्मा का कल्याण संभव है । विनय की सज्ज्हाय में मुनि श्री उदय वाचक ने कहा है कि—

नाण विनय थि पामिये जी, नाणे दर्शन शुद्ध ।

चारित्र दर्शन थि हुए जी, चारित्र थि गुण सिद्ध ॥१॥

अर्थात्-विनय से ज्ञान की प्राप्ति होती है और ज्ञान से दर्शन (श्रद्धा) की वृद्धि होती है एवं सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन से सम्यक् चारित्र के पालन करने की

भावना जाग्रत होती है और चारित्र्य की आचरणा से ही मुक्ति मिलती है ।

कहने का आशय यह है कि सम्यग्दर्शन प्राप्ति, उसकी शुद्धि निर्मलता के लिए जिन प्रतिमा की वन्दना, पूजा, उपासना करने से और ज्ञान प्राप्ति के लिए जैन आगम-शास्त्रों को गीतार्थ जैन मुनियों द्वारा सुनने तथा स्वयं स्वाध्याय करने से ज्ञान प्राप्ति और वृद्धि के साथ-साथ उन में बतलाये हुए आत्मकल्याणकारी मार्ग का आचरण करने से सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र्य की प्राप्ति होगी । अतः यह बात निर्विवाद है कि साक्षात् तीर्थंकर भगवन्तों तथा उन की अनुपस्थिति में उन की प्रतिमा की उपासना भक्ति से ही जीव की मुक्ति पाना संभव है । अन्य किसी भी प्रतीक मूर्ति (Symbol) अथवा दृश्य-अदृश्य व्यक्ति की उपासना से मुक्ति पाना संभव नहीं है ।

कहा भी है कि—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्याणि मोक्ष मार्गः

अर्थात्—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र्य तीनों मिलकर मोक्ष का मार्ग है ।

व्याख्या

- 1 जिनवस्त्रस्य यथावदवगमः सम्यग्-ज्ञानम् ।
- 2 इवमित्यमेव इति तस्य श्रद्धाणं सम्यग्दर्शनम् ।
- 3 तद्वृत्तस्य यथावदनुष्ठानं सम्यक् चारित्र्यम् ।

एतद् रत्नत्रय नाम । अस्य सम्प्राप्तौ सर्वकर्मविप्रमोक्ष-लक्षणो मोक्षः (यापनीय शाकटायनाचार्य स्त्री-निर्वाण केवली-भुक्ति प्रकरणे) ।

अर्थात् 1—श्री वीतराग सर्वज्ञ जिनेश्वर परमात्मा के वचन यथावत् जानना सम्यग्ज्ञान है ।

2—श्री वीतराग सर्वज्ञ जिनेश्व-प्रभुने जैसे फरमाया है वह सर्वथा सत्य है । ऐसी श्रद्धा सम्यग्दर्शन है ।

3—श्री वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकर प्रभु ने जैसा फरमाया है वैसा ही आचरण में लाना सम्यक् चारित्र्य है ।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र्य का नाम रत्नत्रय है । इस (रत्नत्रय) की प्राप्ति से सर्व कर्मों का क्षय हो जाना मोक्ष है ।

इन तीन कारणों के बिना व्यक्ति वस्तु के सत्य-स्वरूप को समझने अथवा कहने में अयोग्य होता है ।

1—अज्ञान से, 2—राग और द्वेष, 3—अज्ञान और राग-द्वेष से ।

1—कोई भी व्यक्ति अज्ञानी है, वस्तु के स्वरूप को ठीक-ठीक नहीं जानता । वह अज्ञानवश वस्तु के स्वरूप को यथावत् कदापि न जान पायेगा और न वह कह ही पायेगा ।

2. (अ) कोई भी व्यक्ति चाहे वह ज्ञानवान क्यों न हो, रागवश असत्य को सत्य, अशुद्ध को शुद्ध, बुरे को भला कहेगा । अथवा—

(आ) द्वेषवश सत्य को असत्य, शुद्ध को अशुद्ध, भले को बुरा कहेगा :

3—जो व्यक्ति रागी-द्वेषी और अज्ञानी भी है अर्थात् न तो जिस को शुद्ध ज्ञान है और न समता ही है, वह भी तत्त्व के शुद्ध स्वरूप को नहीं जान सकता और न ही कह पायेगा। ऐसे व्यक्ति का कथन भी सत्य से बहुत परे है। अतः वीतराग (राग-द्वेषरहित) सर्वज्ञ (शुद्ध ज्ञानवान) व्यक्ति ही तत्त्व के स्वरूप को ठीक-ठीक जानता है और जैसा जानता है वैसा कहता भी है और वैसा ही आचरण में लाता भी है। अतः यह स्पष्ट है कि वीतराग-सर्वज्ञ द्वारा जाना हुआ, कहा हुआ वचन ही सत्य है। इसीलिये वह सम्यग्ज्ञान है और ऐसा ज्ञानवान वीतराग-सर्वज्ञ-तीर्थंकर परमात्मा (अहंत्) के सिवाय अन्य कोई ही नहीं सकता।

इसीलिए तो 1444 ग्रन्थों के रचयिता महत्तरा-सुनु आचार्य श्री हरिभद्र सूरि फरमाते हैं कि—

पक्षपातो न मे बीरे, न द्वेषः कपिलादिषु ।

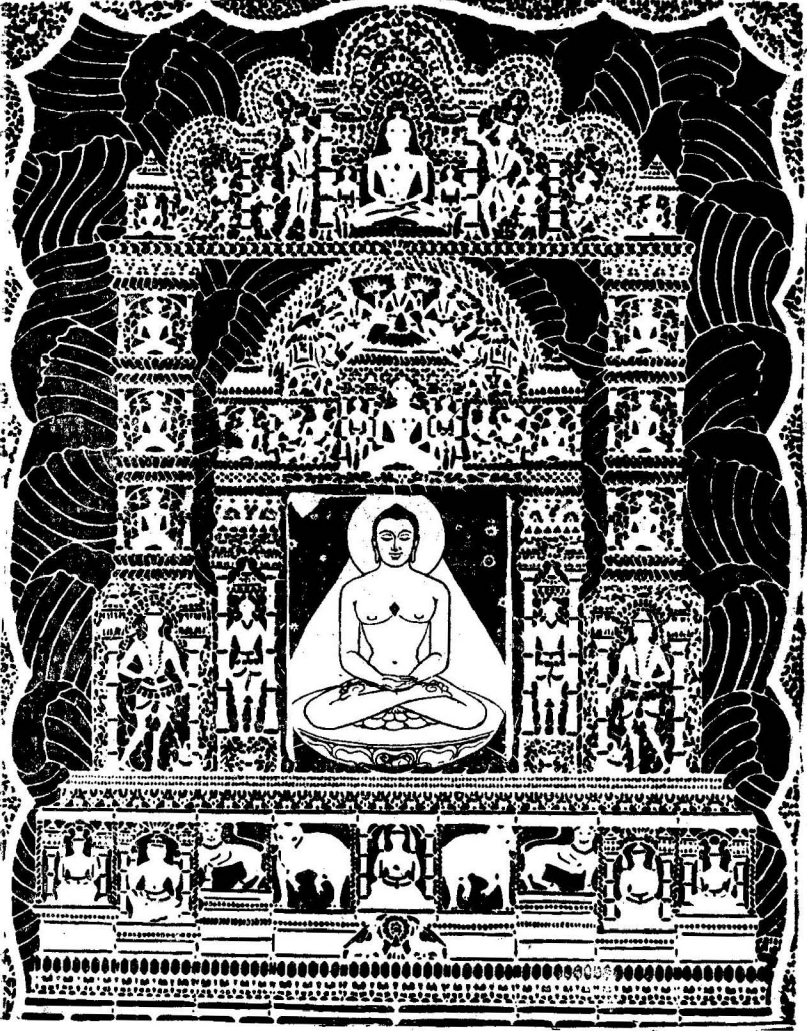
युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ॥ 1 ॥

अर्थात्-मुझे न तो महावीर तीर्थंकर से कोई पक्षपात है और न कपिलादि अन्य दार्शनियों से द्वेष है। क्योंकि वीतराग-सर्वदर्शी-सर्वज्ञ श्री महावीर (वर्धमान) का वचन युक्ति पुरस्सर सत्य है, इसी लिए मैंने उनके शासन (धर्म-मार्ग) को स्वीकार किया है।

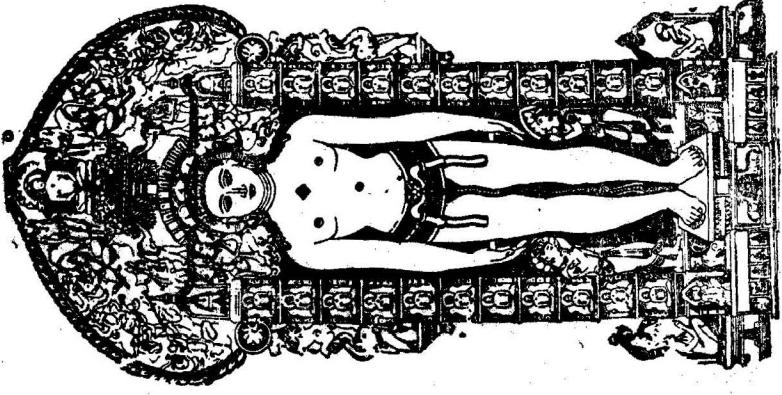


चौथा प्रकाश

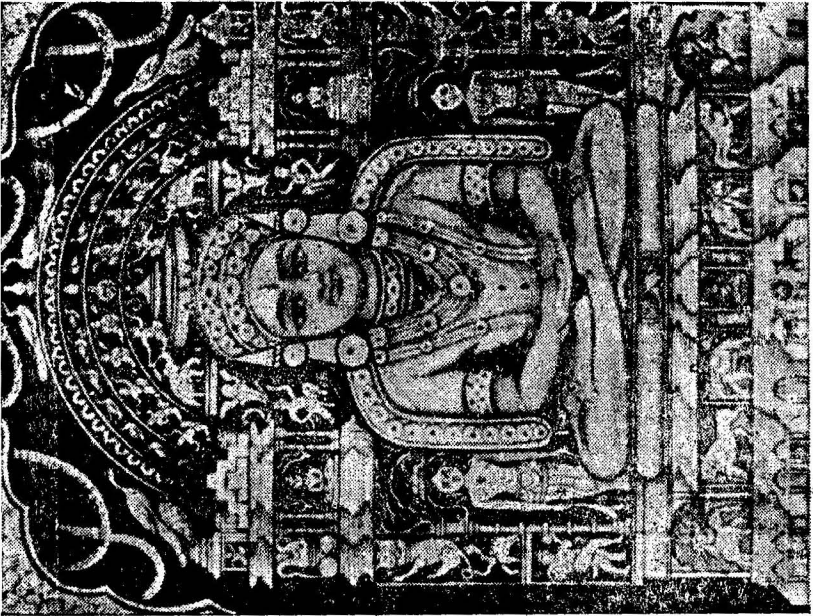
प्रतिमा : पूजा और विरोध



चैत्यगृह में विराजमान जिनचैत्य



केवलज्ञानी अष्ट-प्रातिहार्यं सहित



ब्रह्म-कल्याणक, जीवित स्वामी, दीक्षा कल्याणक-निर्गमन-

सर्वप्रथम आज से चौदह शताब्दियाँ पहले मुसलमान मत संस्थापक पैगम्बर हज़रत मुहम्मद साहब ने अरब देश में मूर्तिपूजा का विरोध प्रारम्भ किया। उनके अनुयायियों ने संख्यातीत मन्दिरों को ध्वंस करके धराशायी किया। तत्पश्चात् अन्य देशों पर इन लोगों ने आक्रमण करके अपने पांव जमाकर वहाँ भी संख्यातीत मन्दिरों, मूर्तियों, स्तूपों, स्मारकों को ध्वंस किया और उन्हीं के पत्थरों आदि से अपनी मस्जिदों, इमामवाड़ों, मकबरों, दरगाहों की स्थापनाएँ व निर्माण करके प्रकारांतर से तथ्यहीन जड़-पूजा को स्वीकार किया।

भारत में भी बड़े जोर-शोर से जिन-मन्दिरों, जिन-मूर्तियों, जिन-स्तूपों, जिन-स्मारकों तथा धर्मस्थानों को ध्वंस किया गया और उनको खंडित करके उन्हीं की ईंटों पत्थरों आदि सामग्री से अपनी मस्जिदों, मीनारों आदि का निर्माण किया। उदाहरण रूप से अजमेर में ख्वाजा की दरगाह के पीछे इन्द्रकोट में ढाई-दिन का झोपड़ा नामक मस्जिद को जैनमन्दिर को ही तोड़कर उसी की ध्वंस सामग्री से ढाई-दिनों में निर्माण किया गया तथा दिल्ली की कुतुबमीनार को 24 मन्दिरों को ध्वंस करके तैयार किया गया ऐसे अनेक जीते-जागते सबूत हैं।

जैनधर्म में विक्रम संवत् 139 (महावीर प्रभु के 609) वर्ष बाद एकान्त नगम्ब के सिद्धान्त को लेकर एक नये दिगम्बर पंथ का प्रादुर्भाव हुआ। पर प्राचीन परम्परा से मूर्तिपूजा पद्धति में कोई मतांतर बयबा भेदभाव नहीं हुआ। श्वेतांबर-दिगम्बर दोनों आम्नायों की जिनप्रतिमा तथा उसकी पूजापद्धति विधि-विधान एकदम समान रूप से चलते रहे।

विक्रम की 15वीं शताब्दी में मुग़लसत्ता के पैर जमे तथा विक्रम की 16वीं शताब्दी में जैनों के श्वेतांबर आम्नाय में विक्रम संवत् 1531 में श्वेतांबर श्रमणों के साथ विरोध होने पर तथा मुसलमानों के प्रभाव से प्रभावित होकर लुंका नामक गृहस्थ ने मूर्तिपूजा में हिंसा बतलाकर समाज में विरोध और विक्षोभ पैदा किया तथा इसकी पुष्टि के लिये कुछ अन्य सिद्धांतों में विरोध खड़ा करके लुंकापंथ की शुरुआत की। विक्रम की 18वीं शती (विक्रम संवत् 1709) में इसी पंथ के लवजी नाम के एक यति ने जैनों में मूर्ति तथा उसकी पूजा का विरोध करके एवं साधु-साधवी चौबीस घंटे एक कपड़े के टुकड़े में डोरा डालकर दोनों कानों में लटकाकर मुंह पर बंधना प्रारम्भ कर ढूँढकपंथ की स्थापना की। ये लुंकामती लौकागच्छीय स्थानवासी कहलाये और लवजी के अनुयायी ढूँढक कहलाये। यह नाम इस मत के प्रवर्तक लवजी ने स्वयं घोषित किया था।

लुंकामती यति प्रतिमा पूजन, जिनमंदिर निर्माण तो मानते थे परन्तु पूजा में सचित वस्तु के प्रयोग में हिंसा मानकर विरोध करते थे। ढूँढकपंथी जिन-

प्रतिमा (तीर्थंकर भगवन्तों की प्रतिमाओं) के कट्टर विरोधी हुए। विक्रम की 16 वीं शताब्दी में (जहाँगीर के राज्यकाल में) आगरा में बनारसीदास श्रीमाल तथा भैया भगवतीदास ओसवाल दोनों ने अन्य तीन दिगम्बर श्रावकों के साथ मिलकर (पांचों) ने दिगम्बरों की पूजापद्धति में हिंसा बतलाकर जिनप्रतिमा की पूजा में फल, फूल, नैवेद्य आदि सञ्चित सामग्री का निषेध करके उसके बदले में लवंग, नारियल के गोले के टुकड़ों आदि सामग्री का प्रयोग चालूकर तेरहपंथ मत की स्थापना की (जो बनारसीमत के नाम से भी प्रसिद्ध था) इस प्रकार लुं कामत और बनारसीमत का प्रादुर्भाव पूजापद्धति के विरोध में हुआ। दिगम्बर पंथ में 18वीं शती में तारणस्वामी ने मूर्तिमान्यता के निषेध में तारणपंथ की स्थापना की तथा उसके कुछ समय बाद ढूँढक पंथ के साधु रघुनाथ जी के शिष्य भीखन जी ने मूर्तिमान्यता के विरोध के साथ दया और दान को भी अधर्ममान कर तेरापंथ मत की स्थापना की।

इस प्रकार जैनों में विक्रम की सोलहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी के बीच में मूर्ति पूजापद्धति के विरोध में दो और मूर्ति मान्यता के विरोध में तीन पंथों की स्थापनाएँ हुई। यदि ये पंथ मूर्तिपूजा को अस्वीकार करके ही चुप रहते तो भी गृहीत होता। पर इन लोगों ने यहाँ तक विरोध खड़ा किया कि 1- जैनागमों में मूर्ति तथा उसकी पूजा के पाठों को तोड़-मरोड़कर अर्थ बदल कर और कुछ आगमों की मान्यता का ही निषेध करके यह प्रचार शुरू कर दिया कि तीर्थंकर भगवन्तों ने अपनी वाणी (आगमों) में कहीं भी मूर्तिपूजा का उपदेश नहीं दिया इसलिए मूर्तिपूजा में हिंसा होने से जैन सिद्धान्त का अपलाप मात्र है। मात्र इतना ही नहीं, किया परन्तु इन लोगों ने अपने मत के प्रचार में जैन प्रतिमाओं को मंदिरों से हटाकर अपने साधुओं के निवास स्थानों के रूप में परिवर्तित कर डाला। अनेक मंदिरों, मूर्तियों को क्षति भी पहुँचाने में कमी नहीं रखी। जहाँ-जहाँ श्वेतांबर श्रमण-श्रमणियों का आवागमन बन्द हो गया वहाँ-वहाँ इन मंदिरों-प्रतिमाओं के उपासकों को अपने पंथों के अनुयायी बनाकर बचे खुचे मंदिरों को ताले लगवाकर बन्दकर दिया। ऐसा करने से जैनधर्म, इसकी संस्कृति को कल्पनातीत क्षति हुई जिसका वर्णन हम आगे प्रसंगानुसार करेंगे।

इन लोगों ने आगमों में आये हुए मूर्ति तथा उनकी पूजा के अर्थों को कैसे तोड़-मरोड़ कर विपरीत अर्थ किये हैं। इस पर भी आगे प्रकाश डालेंगे।

1. **आक्षेप**—मूर्तिपूजा के विरोध में यह दलील दी जाती है कि ईश्वर निराकार है, फोटो, चित्र, मूर्ति, प्रतिबिम्ब आकृति आदि तो किसी रूपवाले के ही बन सकते हैं। परन्तु अरूपी के नहीं बन सकते। यह मूर्ति ईश्वर की भक्ति

5-वर्तमान में श्वेतांबर जैन 45 आगम मानते आ रहे हैं। ढूँढक लुं कामती व तेरापंथी इन में से 13 को छोड़कर 32 मानते हैं। दिगम्बरों ने इस आगम साहित्य का एकदम निषेध ही कर दिया।

पासना में उपयोगी कैसे हो सकती है जब कि इस में अरूपी ईश्वर की स्थापना असंभव है ।

2. समाधान—जो मत-मतांतर, पंथ-संप्रदाय आदि ईश्वर को मात्र अरूपी ही मानते हैं वे तो निराकार ईश्वर की मूर्ति आदि का निर्माण कर ही कैसे सकते हैं यानी वे कर ही नहीं सकते—यह बात उनकी सत्य है और उन्हीं पर लागू भी होती है । ऐसा होते हुए भी वे सब किसी न किसी रूप में मूर्ति को मानते अवश्य है । उन मूर्तियों को सन्मान और श्रद्धापूर्वक सिर भी झुकाते हैं, उनकी पूजा उपासना भी करते हैं । उनके नाम पर बड़े-बड़े मन्दिरों, मस्जिदों, गिरजाघरों का निर्माण भी करते हैं । मठों की स्थापनाएँ करके लाखों और करोड़ों के चढ़ावे भी चढ़ाते हैं । उनको प्रसन्न करने के लिए पशु, पक्षी, नर आदि की बलियाँ भी चढ़ाते हैं । मात्र इतना ही नहीं, यदि उनकी मान्य मूर्तियों, मन्दिरों, मस्जिदों चित्रों आदि का कोई अपमान करता है तो उसकी हत्या करने पर भी उतारू हो जाते हैं । ताजिए, पीर-पैगम्बरों की कबरों, मस्जिदों, अमामवाड़ों तथा मक्के-मदीने के पत्थरों के कण-कण को नतमस्तक होने में महान पुण्य मानते हैं । यद्यपि ये स्वयं इस बात को मानते हैं कि ये ईश्वर-परमात्मा, खुदा-अल्लाह के प्रतीक नहीं हैं तो भी इस मान्यता के पीछे आत्म-कल्याणकारक धर्म मान कर चलने में कितनी आत्म-वंचना है और कितनी निःसारता है । इसका विवेचन हम पहले कर आये हैं ।

जहाँ तक जैनों का प्रश्न है वे तो तीर्थंकर को ही ईश्वर-परमात्मा मानते हैं और वे सब मानव शरीरधारी ही होते हैं । वे रूमी-साकार होते हैं इसलिए वे रूपी और मूर्तिमान थे । उनकी मूर्ति-चित्रादि बनाने संभव होने से उनके उपासकों-देव-दानवों, मनुष्यों, नरेन्द्र-देवेन्द्रों ने उनकी मूर्तियों चित्रों आदि का निर्माण कर-करा कर उनके माध्यम से दर्शन, वन्दन, नमस्कार, पूजा, उपासना, ध्यान आदि द्वारा अपना आत्म-कल्याण करने में सफल हुए और होते हैं ।

अन्त में सशरीरी परमात्मा अर्हत्-देव सर्व कर्म क्षय करने के बाद शरीर को छोड़कर अरूपी सिद्ध हो जाते हैं पर उनकी अरूपी आत्मा का आकार तो कायम रहता है । जिस शरीर आकृति से वे निर्वाण प्राप्त करते हैं निर्वाण अवस्था में अरूपी होते हुए भी उनकी आत्मा का आकार उसी शरीर की आकृति में कायम रहता है । इसलिए अरूपी साकार सिद्ध परमात्मा की मूर्ति का निर्माण करके भी सशरीरी तीर्थंकरों तथा अशरीरी साकार सिद्धों की प्रतिमाओं का निर्माण कराकर मन्दिरों, मूर्तियों, गुफाओं, तीर्थों, स्मारकों आदि की स्थापनाएँ करके धार्मिक उत्क्रान्ति के प्रेरक, संरक्षक, प्रवर्द्धक और चिरस्थायी रखने में सहायक बने । जो जैनधर्म का गौरव बढ़ाने में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए । मात्र इतना ही नहीं स्थानीय सकल श्री जैनसंघ तथा दूर-देशांतरों से आने-जाने वाले तीर्थयात्रियों के

सर्षों को भी एक कड़ी में पिरोकर रीढ़ की हड्डी के समान संगठित रहने में वर्णनातीत सहयोग दिया है और परिचय में अभिवृद्धि भी की है ।

मूर्ती द्वारा मूर्तिवाले का ज्ञान

जब तीर्थंकर विद्यमान होते हैं तब भी उन का दर्शन करने वाले उन के भौतिक शरीर का ही दर्शन कर पाते हैं और वे मान लेते हैं कि हमने तीर्थंकर के दर्शन किये हैं । वास्तव में तो उनकी आत्मा में ही तीर्थंकरत्व के गुण विद्यमान हैं । उनकी आत्मा तथा गुण दोनों ही अरूपी हैं । उनकी आत्मा के दर्शन तो चर्मचक्षुओं से हो ही नहीं सकते और न ही उनके आत्मिक गुणों के दर्शन संभव है । इनकी आत्मा ने जिस शरीर को धारण किया है उसी के दर्शन होते हैं । उनके शरीर का दर्शन करते हुए उसके अन्दर अरूपी आत्मा तथा उसके गुणों का विचार करते हैं । उनकी प्रशम-रस-निमग्न सौम्य आकृति का आधी-खुली नासाग्रदृष्टि से पद्मासन अथवा खड़ी जिनमुद्रा में विराजमान अष्ट-प्रतिहार्य सहित के दर्शन करके वीतराग सर्वज्ञभाव-जन्य गुणों को अनुमान द्वारा जान कर नतमस्तक होते हैं । मात्र इतना ही नहीं परन्तु समवसरण में पूर्व दिशोन्मुख साक्षात् तीर्थंकर के विराजमान होने पर उनके शरीर रूप सजीव-प्रतिमा तथा उत्तर, पश्चिम, दक्षिण तीन दिशाओं में तदानु-रूप विराजमान अष्ट-प्रातिहार्य सहित तीन निर्जीव प्रतिमाओं का जिन में तीर्थंकर की आत्मा का सद्भाव नहीं होने पर भी साक्षात् तीर्थंकर मान कर ही वहाँ आने वाले देव-दानव, नरेन्द्र-देवेन्द्र मानव-तिर्यंच बड़ी श्रद्धा और भक्ति से उनके दर्शन, वन्दन नमस्कार, सत्कार, पूजन, कीर्तन आदि करते हैं । आगम में कहा है कि—

मूल रूपं प्रभोः प्राच्या-अन्यास्त्रिदक्षु नाकिनः ।

तन्वन्ति भगवत्तुल्यं प्रभोमहिम्नैव तत् ध्रुवं⁶ ॥१॥

अर्थात्—सम सरण में स्वयं प्रभु का रूप पूर्व दिशा की तरफ होता है । बाकी तीन दिशाओं में देवता प्रभु के समान आकृतियों की निश्चय ही स्थापना करते हैं । मूल सजीव शरीर तथा तीन प्रतिमाओं (चारों) के मुख से उन की वाणी को सुनकर उनके केवलज्ञान-केवलदर्शन आदि गुणों को जान लेते थे । क्योंकि केवलज्ञानादि पांच ज्ञानों में से मात्र एक श्रुतज्ञान ही ऐसा है कि जिससे शब्दों द्वारा पाँचों अरूपी ज्ञानों का परिचय प्राप्त होता है । बाकी के चार (मति, अवधि, मन-पर्यव, केवल) ज्ञान तो स्वसंवेदक हैं । उन से मात्र उस ज्ञानवान व्यक्ति को ही अपने योग्य लाभ है दूसरों को नहीं । श्रुतज्ञान ही शब्दों, ध्वनियों, इंगतों, लिपियों आदि द्वारा दूसरों को लाभ पहुंचा सकता है । वाणी, लिपि, ध्वनि आदि सब पौद्गलिक जड़ हैं, मूर्त हैं । वे भी शरीर द्वारा ही प्रगट होते हैं । अतः तीर्थंकर के शरीर तथा वाणी द्वारा हम भगवान के

6-देखें समवसरण का चित्र पृष्ठ एक पर

दर्शन होना मान लेते हैं। किन्तु वास्तव में भगवान के साक्षात् दर्शन तो उनकी आत्मा तथा आत्मिक गुणों का है शरीर का नहीं। जिस प्रकार उनके शरीर को देखकर उसके अन्दर रही हुई आत्मा और उन के आध्यात्मिक गुणों के दर्शन करना अपनी कल्पना से मान लेते हैं उसी प्रकार तीर्थंकर तथा सिद्ध की मूर्ति को देखकर उस मूर्ति वाले परमात्मा की कल्पना की जाती है तथा साक्षात् तीर्थंकर तथा सिद्ध के समान ही उन की मूर्ति से उनके दर्शन हो जाते हैं।

मान लीजिये अभी कुछ मूर्तियाँ—बुद्ध, राम, कृष्ण, हनुमान, महादेव, तीर्थंकर, विष्णु, ब्रह्मा, महेश, दुर्गा, भवानी, प्रताप, शिवाजी, चोर, डाकु, स्त्रोलम्पट, वेश्या आदि की लाकर आपके सामने रखदी जावें तो उन्हें देखकर आप क्या कहेंगे। जिस मूर्ति का जैसा आकार और नाम होगा उस का वैसा ही नाम लेंगे और जिसे आप पूज्यदृष्टि से देखते हैं, उस के सामने भावविभोर होकर झट नत-मस्तक हो जावेंगे तथा जिस से आप घृणा करते हैं उस की तरफ से मुंह फेर लेंगे और निन्दा के दो चार शब्द बोल ही बैठेंगे।

इस से स्पष्ट है कि मूर्ति से मूर्तिवाला याद आता है। यदि मूर्तिवाले का ज्ञान न हो तो आप नहीं कह सकते कि यह मूर्ति किसकी है।

ज्यों ही आप सुदर्शन-चक्रधारी बंसी सहित मूर्ति को देखते हो तो झट कह देते हो कि यह श्री कृष्ण है। जिस मूर्ति के हाथ में धनुषबाण देखने में आता है तो पहचान जाते है कि यह श्री राम हैं। पद्मासन अथवा खड़ी ध्यानावस्था में नासाग्र दृष्टि से प्रशांत-रस-निमग्न मूर्ति को देखते ही पहचान जाते हैं कि यह तीर्थंकर परमात्मा हैं। यदि मूर्ति पर जनऊ आदि का आकार हो तो जिसे ज्ञान होगा वह झट कह देगा कि यह गौतम बुद्ध हैं। इसी प्रकार अन्य मूर्तियों के लिये भी यही बात है।

मूर्ति मानने वाले जड़ मूर्ति को नमस्कार या उसका पूजन नहीं करते, पर वे उस मूर्ति द्वारा मूर्तिवाले का पूजन, वन्दन, नमस्कार करते हैं। जब तीर्थंकर शरीर विद्यमान होते हैं तब भी उनके शरीर का पूजन नहीं होता पर उनके शरीर के माध्यम से उन के पवित्र आत्मिक गुणों की पूजा की जाती है।

जनों में मूर्तिपूजा की मान्यता कब से ?

2-आक्षेप—जनों में मूर्तिपूजा प्राचीन नहीं, अर्वाचीन है क्योंकि आगमों में इसका कहीं उल्लेख नहीं है। यह तो पीछे के शिथिलाचारी यतियों ने अपने निवाह केलिये प्रचलन किया है।

समाधान—हम लिख आये हैं कि जब से विश्व है तभी से जैनधर्म है तथा तभी से तीर्थंकर भी होते आये हैं, तभी से उनकी मूर्ति की मान्यता भी है। जैनागमों में स्पष्ट उल्लेख है कि—

जब तीर्थंकर का जन्म होता है तब देवेन्द्र देवी-देवताओं सहित प्रभु का जन्म महोत्सव मनाने के लिए तुरन्त के जन्मे हुए बालक-तीर्थंकर को मेरु पर्वत के शिखर पर ले जाने के लिये पृथ्वीतल पर आता है। तब शक्रेश्वर तीर्थंकर की माता के पास आकर बालक तीर्थंकर के शरीर के बराबर एक पूतले का निर्माण करता है और उसे माता की बगल में रखकर बालक-प्रभु को अपने साथ ले जाता है। जन्माभिषेक के बाद बालक को माता के पास लाकर लिटा देता है और वहां से पूतले को वापिस ले जाता है।

2. केवलज्ञान के बाद समवसरण में अशोकवृक्ष के नीचे स्वर्ण-सिंहासन पर जब तीर्थंकर परमात्मा विराजमान होते हैं तब देवेन्द्र अन्य तीन दिशाओं में तीर्थंकर के अनुरूप तीन प्रतिबिम्बों को तीनों दिशाओं में स्थापन करता है। इस का उल्लेख हम पहले कर आये हैं।

3. जहां प्रभु विहार करते थे, आहार लेते थे, ध्यान करते थे, दीक्षा, केवल-ज्ञान, निर्वाण प्राप्त करते थे वहां-वहां उनके अनुयायी भगत उनके चरण-बिम्ब (चरण पादुका-चरण चिन्ह) स्थापित करते थे। अथवा उनकी प्रतिमाओं का निर्माण कराकर वहां मंदिरों में स्थापित करते थे।

4. उनकी तपस्या के स्थानों पर, चिताओं पर उनकी यादगार में स्तूपों का निर्माण करके बड़ी श्रद्धा और भक्ति से उनकी पूजा उपासना करते थे। यह बात आगमों के अभ्यासी से छिपी नहीं है। उदाहरण-1 आदिदेव श्री ऋषभदेव ने दीक्षा लेकर 400 दिनों के निर्जल उपवास के बाद हस्तिनापुर में आकर अपने प्रपौत्र राजकुमार श्रेयांसकुमार द्वारा वंसाख सुदिं तुतीया को इक्षु रस से पारणा किया था, वहां उनकी स्मृति में श्रेयांसकुमार ने एक स्तूप का निर्माण करा कर वहां उनके पाषाण निर्मित चरण बिम्ब की स्थापना की थी।

5. तत्पश्चात् जब आप अपने द्वितीय पुत्र बाहुबली की राजधानी तक्षशिला में पधारे तब रात्री के समय जहां आप ध्यानरूढ़ रहे वहां बाहुबली ने उसकी स्मृति में आपके पाषाणमय चरणबिम्ब स्थापित किये और धर्मचक्र तीर्थ की स्थापना की।

6. जब प्रभु श्री का निर्वाण अष्टापद (कैलाश) पर्वत पर हुआ तब आपके, गणधरों के तथा अन्य मुनियों के चितास्थानों पर देवताओं ने तीन स्तूपों का निर्माण कर उनमें चरणबिम्बों को स्थापित किया।

7. उनके समीप आपके पुत्र भरत चक्रवर्ती ने श्री ऋषभदेव से वर्धमान तक चौबीस तीर्थंकरों तथा श्री ऋषभदेव के निन्यानवें पुत्र-श्रमणों की रत्नों की तथा उन्हें वन्दन नमस्कार करते हुए अपनी स्वयं की कुल एक सौ प्रतिमाएं बनवाकर सिंहनिषद्या नामक मंदिर में स्थापना की थी।

8. अंतिम तीर्थंकर वर्धमान-महावीर के निर्वाण स्थान, दाह-संस्कार

आदि स्थानों पर पावापुरी (विहार प्रदेश) में निर्वाण मंदिर तथा जल में मंदिर का उनके भाई नन्दीवर्धन ने निर्माण कराकर तीर्थों की स्थापनाएं कीं ।

9. इसी प्रकार सभी तीर्थंकरों के समय में भी उनकी अमुह-अमुक घटनाओं के स्थानों पर उनकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं की मूर्तियों का निर्माण कराकर मंदिरों और तीर्थों की स्थापनाएं होती रही ?

इन सब का आगमों में उल्लेख पाया जाता है और इन आगमों की सत्यता के प्रमाण रूप आज भी सम्मैतशिखर, पावापुरी आदि तीर्थों में विद्यमान मंदिर आदि प्रत्यक्ष देखने में आ रहे हैं ।

ये तीर्थ आज भी उस प्राचीन इतिहास के मुंह बोलते प्रतीक हैं । इन सब तीर्थस्थानों का दर्शन पाते ही मूमुक्षु आत्माओं का मनमोर नाच उठता है और हाथ उनके चरण स्पर्श करने केलिये, पूजा करने केलिये विह्वल हो उठते हैं । अनायास श्रद्धा और भक्ति से सिर झुक जाता है । उनके गुणों का स्मरण होते ही मुख से बरबस उनके अलौकिक गुणों का कीर्तन होने लगता है और उनके विश्व पर किये हुए उपकारों की याद करके हर्ष और उल्लास से सारे शरीर में रोमांच हो जाता है, प्रसन्नता से गद्-गद् होकर शरीर मस्ती से झूमने लगता है और चरण नृत्य करने केलिये विवश हो जाते हैं । नेत्र दर्शनों केलिये ललचा उठते हैं । एक अजीब सा समा बन्ध जाता है । इन स्थानों पर पहुंच कर उपासक मंत्रमुग्ध होकर एक अलौकिक आनन्द का अनुभव करने लगता है । यह तो हुई इन पवित्र तीर्थों की बात । जहां का कण-कण उन महापुरुषों की चरणरज से पवित्रता प्राप्त किए हुए है ।

10. इसके अतिरिक्त आगमों में भक्तजनों द्वारा जिनप्रतिमाओं तथा मन्दिरों के निर्माण के अनेक उल्लेख मिलते हैं । वे अपने-अपने नगरों में, गिरि-गुफाओं में अपने द्वारा और अनगर श्रमण-श्रमणियों के द्वारा उपासना के लिये, आराधना, साधना, ध्यानादि के लिए जिनप्रतिमाओं का निर्माण तथा उनको मन्दिरों आदि में स्थापित कर मन्दिरों और तीर्थों की स्थापना पुरातन काल से ही करते चले आ रहे हैं । जीर्ण-शीर्ण धर्मयतनों का जीर्णोद्धार आदि कर-करवा कर उनके खर्च के निर्वाह के लिये भूमिदानादि भी करते रहे हैं ।

अष्टापद तीर्थ पर सिंहनिषद्या मन्दिर की यात्रा कर लंकापति रावण ने तीर्थंकर नाम कर्म का बन्धन किया था अर्थात् तीर्थंकरत्व प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त की । इसी तीर्थ की यात्रा कर महावीर प्रभु के प्रथम गणधर श्री इन्द्रभूति गौतम ने 1503 तापसों को निर्ग्रन्थ श्रमण की दीक्षाएँ दीं और उन्हें केवलज्ञान प्राप्त कराने में सहयोगी बने तथा अन्त में वे सब निर्वाण पाये । स्वयं भी यहाँ की यात्रा करके आत्मकल्याण किया ।

11. जिन प्रतिमा की उपासना या मूर्तिपूजा के आगमों के प्रमाण तथा उन्हें

आगमसम्मत प्रमाणित करने के लिए सर्वप्रथम तीन बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। यथा—

1—चैत्य शब्द के अर्थ की विचारणा। 2—आगमगत पाठों की प्रकरण विषयानुसारी अर्थ-संगति तथा उन पर लिखे गये प्राचीन आचार्यों के नियुक्ति, भाष्य चूर्ण और टीका के पाठों की गवेषणा। 3—इनके अतिरिक्त प्रस्तुत विषय से संबन्ध रखने वाली सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि आगमों की वर्णन शैली का ज्ञान।

इसके बिना प्रस्तुत विषय में जो निर्णय होगा वह अधिक संतोष जनक प्रमाणित नहीं हो सकेगा।

जैनागमों में जिनप्रतिमा के लिए विशेषरूप से चैत्य शब्द का प्रयोग हुआ है। 2—मन्दिरों के लिए जिनघर, जिनमन्दिर, चैत्यालय, सिद्धायतन आदि नामों का उल्लेख मिलता है।

जैनों में मूर्ति पूजा के निषेधक तथा मन्दिर मूर्तियों के विरोधक पंथों के जो आचार्य साधु-साध्वियां आदि प्रचारक हैं वे 1-जिन पडिमा 2-चैत्य, 3-सिद्धायतन आदि शब्दों के मनमाने अर्थ करके मूर्तिपूजा को आगम विरोधी और मिथ्या बतलाते हैं और यह बात सिद्ध करने के लिये जैनागमों में जिनमन्दिर, जिनमूर्ति, चैत्यालय तथा जैनतीर्थों का एवं उनकी पूजा उपासना का कोई उल्लेख न होने का दावा करते हैं। इस मान्यता के प्रचार के लिए साहित्य, एवं प्रवचनों द्वारा सदा कटिबद्ध रहते हैं।

इस लिये हम यहां आगमों के इन्हीं उल्लेखों का सही अर्थों से स्पष्टिकरण करना चाहते हैं कि मूर्ति मान्यता तथा उनकी पूजादि विधि-विधानों का वर्णन आगमों में अवश्य विद्यमान है। इसलिये निःसदेह-जैनधर्म में मूर्तियों, मन्दिरों, तीर्थों आदि की स्थापनाएं तथा उनकी पूजा उपासना आगमानुकूल हैं।

12-चैत्य जिनपीडमा का अर्थ : तीर्थंकर की प्रतिमा-मूर्ति

(1) चैत्य—चित्त अर्थात् अन्तःकरण उनका भाव अथवा क्रिया वे चैत्य कहलाते हैं। चैत्य बहुत होने से चैत्य बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है।

(2) अरिहंतों की प्रतिमाएं प्रशस्त समाधि वाले चित्त भावनाओं को उत्पन्न करती हैं। इस लिए उन्हें चैत्य कहा जाता है।

(3) चैत्यों के रहने के स्थान को भी चैत्य (जिनमन्दिर-जिनगृह) कहते हैं।

(4) जैनागम प्रश्नव्याकरण सूत्र के मूलपाठ में आया है—“अइयट्टे निज्ज-रट्टीए” इस का अर्थ है—चैत्य के निमित्त वैयाधच्च करें। कौन करे? निर्जराथी यानी कर्म की निर्जरा करने वाला व्यक्ति। मूर्ति को माननेवाले चैत्य शब्द का अर्थ जिनप्रतिमा करते हैं। मूर्ति विरोधी जहाँ-जहाँ आगम में चैत्य शब्द का प्रयोग हुआ है वहाँ कहीं ज्ञान, कहीं साधु, कहीं बगीचा आदि भिन्न-भिन्न अर्थ

करते हैं। ऐसे अर्थ करने में इनकी न तो कोई एक पद्धति है न एक शैली है। परन्तु यह बात विशेष रूप से ध्यान में रखने की है कि मूर्ति मानने वाले चैत्य शब्द का अर्थ सर्वत्र मूर्ति ही करते हैं। यह अर्थ उनका मनःकल्पित नहीं है। ऐसा अर्थ गीतार्थ जैन पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित है और बहुत प्राचीन काल का है।

(5) जैनाचार्य श्री अभयदेव सूरि ने द्वादशांगों (बारह अंगों) में से नौ अंगों (आगमों) पर टीकाएं लिखी हैं। प्रश्नव्याकरण के मूल पाठ में जो चैत्य शब्द आया है वहां उन्होंने इसका अर्थ प्रतिमा ही किया है। तथा देवकुलिका और 'शिखरबद्ध देवप्रासाद' (मंदिर) भी किया है। श्री अभयदेव सूरि विक्रम की 11वीं शताब्दी में हुए हैं। उन्होंने तीसरे आगम ठाणांग (स्थानांग) सूत्र की टीका विक्रम संवत् 1120 में समाप्त की थी। उन्हें हुए नौ सौ साल से अधिक हो गये हैं। अभी विक्रम की 21वीं शताब्दी है।

(6) यदि इस से भी पहले का प्रमाण देखा जावे तो श्री अभयदेव सूरि से पहले श्री शीलकाचार्य हुए हैं। उनका समय विक्रम की नवीं शताब्दी है। उन्होंने प्रथमांग-आचारांग तथा द्वितीयांग-सूत्रकृतांग पर टीकाएं लिखी हैं उन्होंने भी जिन प्रतिमा का अर्थ जिनप्रतिमा ही किया है। आप वनराज चावड़ा के समय में हुए हैं। उन्हें हुए 12 सौ वर्ष व्यतीत हो गये हैं।

(7) इस से पूर्व जैनाचार्य श्री हरिभद्र सूरि विक्रम की छठी शताब्दी में हो गये हैं। उन्हें पंद्रह सौ वर्ष हो गये हैं। उन्होंने आवश्यक सूत्र की चूर्ण पर टीका लिखी है। उस में भी चैत्य शब्द का अर्थ जिनप्रतिमा ही किया है। चूर्णकार इनसे भी बहुत पहले हो चुके हैं।

(8) यदि चैत्य या जिनप्रतिमा का अर्थ साधु, ज्ञान अथवा बगीचा किया जावे तो जिनागम के सूत्र पाठों में जहाँ चैत्य शब्द का प्रयोग किया गया है वहाँ यह अर्थ ठीक नहीं बैठता।

(9) चैत्य शब्द का वास्तविक अर्थ पंचमांग श्री भगवती सूत्र में कहा है—
चारण ऋद्धिवाले साधु-मुनि नंदीश्वरद्वीप में जाते हैं और वहाँ जाकर चैत्यों को वन्दन करते हैं। यह मूलपाठ इस प्रकार है—

गौतम स्वामी प्रभु वीर से प्रश्न करते हैं जिस का समाधान प्रभु करते हैं।

प्रश्न— विज्जाचारणस्स णं मंते तिरियं गति विसए पन्नत्ते ?

उत्तर— गौयमा ! से णं इओ एगेणं उप्पाएणं माणुसुत्तरे पव्वए समोसरणं करेति, माणुसुत्तरे पव्वए समोसरणं करेत्ता तहिं चेइआइं वंदति, तहिं चेइआइं

7. भवणघर सरण लेण आवण 'चित्तिय देवकुलिका' चित्तसभा वा आयातण वसह भूमिधर मंडवाणए कए (समिति पृष्ठ 93)

चैत्यानि प्रतिमाः देवकुलिका स शिखर-देवप्रासादाः (इति अभयदेव सूरि पादः)

वंदित्वा वि ति एण उप्पाएणं नंदीसवर वरे दीवे समोसरणं करेति, नंदीसवररे दीवे समवसरणं करेत्ता तर्हि चेइआइं वंदति, विज्जाचारणस्स णं गोयसा ! तिरियं एकं ति ए गति-विसए पन्नत्तं ।⁸

(सूत्र 683 भगवती सूत्र मूल शतक 2 उद्देशा 9)

अर्थ—श्रमण भगवान महावीर स्वामी से उनके प्रथम गणधर श्री इन्द्र भूति गौतम पूछते हैं कि हे भगवन् । विद्याचारण (मुनि) की तिर्यग् गति का विषय कितना कहा है ?

भगवान् फरमाते है कि—हे गौतम ! वे विद्याचारण उत्पात से मानुषोत्तर पर्वत पर समवसरण (स्थिरता) करते हैं और वहां जाकर वहां के 1 चैत्यों को बन्दन करके वहां से दूसरे उत्पात द्वारा नंदीश्वर द्वीप में समवसरण करते हैं और 2-वह रहे हुए चैत्यों को बन्दन करके वापिस वहां से लौट कर यहां आते हैं और 3-यहां के चैत्यों को बन्दन करते हैं । हे गौतम ! विद्याचारण (मुनियों) की तिर्यग् गति का विषय इतना ही है ।

इस पाठ में तीन बार चेइआणि का प्रयोग चेइय (चैत्य) केलिये बहु वचन में हुआ है । अर्थात् बहुत चैत्य हैं, एक नहीं ।

इस पर आचार्य अभयदेव सूरि कृत टीका—

तत्र चरणं गमनमतिशय वदाकाशे इति चारणः । विद्याश्रुतं तच्चपूर्वगतं-
तत्कृतोपकाराश्चारणा विद्याचारणाः प्रथमेन मानुषोत्तर नमं, द्वितीयेन नंदीश्वरं
स एति ततस्तृतीयेनेहे ति कृत चैत्यवन्दनः ।

अर्थ—टीकाकार श्री अभयदेव सूरि ने इस उपर्युक्त पाठ में चेइआइं वदति” जो यह पाठ तीन बार आया है उसका अर्थ किया है—“चैत्यवन्दना करता है ।” यानी विद्याचारण अथवा जंबाचारण मुनि मानुषोत्तर पर्वत पर जाकर वहां चैत्यों को बन्दन करते है, वहां से नंदीश्वर द्वीप में जाकर वहां के चैत्यों को बन्दन करते हैं और वहां से लौट कर यहां के चैत्यों को बन्दन करते है ।

जैनधर्म की मान्यता है कि मनुष्य की उत्पत्ति और मृत्यु डार्ड द्वीपों के अन्दर ही होती है । 1-जम्बूद्वीप, 1-घातकीखंड तथा 1/2 (आधा) पुष्करवरद्वीप एवं इन द्वीपों के बीच के लवणोदधि तथा कालोदधि दो समुद्र और आधे

8-इसी प्रकार भगवती सूत्र में विद्याचारण मुनियों की ऊर्ध्व गति, जंबा-
चारण मुनियों की तिर्यग् और ऊर्ध्वगति के वर्णन में भी चैत्यों को बन्दन करने का जिक्र आया है । यह सब वर्णन भगवती सूत्र के इसी प्रकरण में इसी स्थल पर क्रमशः दिया गया है । देखे भगवती सूत्र श० 2 उद्देश 9)

शुष्करवर्द्धीप के अन्त में स्थित मानुषोत्तर पर्वत समेत—यानी दो समुद्रों, ढाई द्वीपों तथा मानुषोत्तर पर्वत सब मिलकर पैंतालीस लाख योजन की लम्बाई चौड़ाई वाले क्षेत्र में ही मानव जन्म लेता और मरता है। इसलिए इसे ढाईद्वीप अथवा मनुष्यक्षेत्र कहा है। इसके बाहर मनुष्य के जन्म-मृत्यु नहीं होते। मानव जाति में से ही तीर्थंकर, सामान्य-केवली, पांच महाव्रतधारी साधु-साध्वी होते हैं, इस लिये तीर्थंकरों का जन्म तथा निर्वाण भी मनुष्यक्षेत्र में ही होता है।

नदीश्वर द्वीप जो कि उपर्युक्त ढाई द्वीप के बाहर साढ़े चार द्वीप और पांच समुद्रों (कुल सात द्वीपों-सात समुद्रों) से आगे आठवां द्वीप है।

1-यदि चैत्य शब्द का अर्थ-बगीचा किया जावे तो—जैन साधु नदीश्वर द्वीप में बाग-बगीचे को बन्दना करने क्यों जावेंगे ? बन्दना तो पूज्यों को की जाती है। सिर झुकाया जाता है अपने पूज्यों को। बाग-बगीचे को न तो आज तक किसी ने पूज्य माना है और न आज भी पूज्य मानते हैं। अतः यहां चैत्य शब्द का अर्थ बाग-बगीचा सभव नहीं है। यदि यह समझा जाये कि नदीश्वरद्वीप में चारण मुनि बाग-बगीचे की सैर सपाटे के लिए जाते हैं तो यह भी सर्वथा असंभव है। क्योंकि जैन मुनियों का यह आचार ही नहीं है कि वहां सैर-सपाटे के लिये जावें।

यहां पर चैत्य शब्द के विषय में बाग-बगीचे के अर्थ पर भी विचार कर लेना चाहिये। आगमों में जिस उद्यान में, जिस बाग-बगीचे में, जिस वनखंड में किसी न किसी देव की प्रतिमा और उसका मंदिर हो, उसी मूर्ति या मंदिर को लक्ष्य में रखते हुए उस उद्यान, बाग-बगीचे अथवा वनखंड को भी चैत्य कहा है। जैसे “गुणभद्र चेड्ड” आगम में ऐसा सूत्र पाठ है।

जहाँ भगवान महावीर समवसरे थे उस वनखंड में पूर्णभद्र (गुणभद्र) नामका मंदिर था। यह यक्ष ब्रजा प्रत्यक्ष और प्रसिद्ध था। इस यक्ष की प्रसिद्धि के कारण यह बाग भी पूर्णभद्र चैत्य के नाम से प्रसिद्ध हो गया था। किसी निमित्त से भी किसी का नाम पड़ जाता है। यहाँ भी ऐसा ही हुआ है। जिस बाग, उद्यान, वनखंड में यक्ष अथवा देवता का मंदिर नहीं है, उसे चैत्य के नाम से जैन शास्त्रों में कहीं भी वर्णन नहीं किया गया। वहाँ तो उद्यान शब्द का ही प्रयोग हुआ है ? जैन वाङ्मय में ऐसे उल्लेख भी मिलेंगे। परन्तु चैत्य शब्द देव अथवा यक्ष के मंदिर के अभाव वाले उद्यान आदि में कहीं नहीं मिलेगा। इससे भी सिद्ध होता है कि उस यक्ष आदि की प्रतिमा को लक्ष्य में रखकर ही बाग-वनखंड आदि का नाम चैत्य हुआ है। इस की पुष्टि विदेशी विद्वान भी करते हैं।

Such establishment consists if a park or a garden enclosing a temple and rows of cells for the accomodation of monks some thing also a stup or a sculpchral monoments. The whole complex is Un-usually called a chatya (Prof Hornel)

अर्थात्—इस नाम वाली जगह का बागीचा या उद्यान का समावेश होता है जिसके अन्दर एक मंदिर होता है और साथ में कई एक कोठड़ियां भी होती हैं। जिन में साधुओं का निवास होता है। इसके उपरांत कभी एक स्तूप या समाधि स्तंभ भी होता है। उस समुच्चे स्थान को चैत्य के नाम से ठीक ही विभूषित किया जाता है। (प्रो० हार्नल)।

यदि यह माना जावे कि नंदीश्वर द्वीप में जैन चारण मुनि यक्षों के मंदिरों को वन्दन करने जाते हैं तो ऐसा कभी संभव नहीं है, क्योंकि जैन मुनियों का ऐसा आचार ही नहीं है। मुनि तो क्या अविरति-सम्यग्दृष्टि, देशविरति गृहस्थ भी अथवा अविरति सम्यग्दृष्टि देवी-देवता भी यक्षादि को वन्दना करने से मिथ्यात्व के भागी बनने के दोष से दूषित नहीं होना चाहते तो सम्यग्दृष्टि महाव्रतधारी निर्ग्रन्थ अनगारी चारण मुनि ऐसी सिद्धान्त और आचार के विरुद्ध चेष्टा क्यों करेंगे? कदापि नहीं करेंगे।

2-मुनि भीष्म जी के तेरापन्थ अनुयायी मुनि जीतमल जी (जयाचार्य) ने यहाँ पर चेडयाह्न शब्द का अर्थ रुचक नंदीश्वरद्वीप में बहुत जिनेन्द्र अथवा बहुत जिन भी किया है। यथा—

बहु जिनेन्द्र वा जिन कहै, रुचक नंदीश्वर मांय ।
भाव कहा तिमहिज सह, देखी हिये हुलास ॥18॥
धन्य जिनेन्द्र धन्य केवली, गिरिक्टाविक जेह ।
जेह कहा तिमहिज ए, इम तसु स्तुति करहे ॥19।

(जयाचार्य कृत-प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध-जंघाचाराणाधिकार)

अर्थात्—यहाँ चेडयाणि का यह अर्थ है कि रुचक-नंदीश्वरद्वीप में जंघाचाराण, विद्याचाराण मुनि साक्षात् बहुत भाव जिनेन्द्रों को अथवा बहुत जिनों को वंदन करने जाते हैं, जिन प्रतिमाओं को नहीं।

यदि यहाँ पर चैत्य का अर्थ भाव-जितेन्द्र किया जावे तो—

जब आठवें द्वीप में मनुष्य ही नहीं है तो वहाँ तीर्थंकर अथवा बहुत तीर्थंकर भी नहीं हो सकते। तथा एक काल में एक विजय अथवा एक क्षेत्र में एक तीर्थंकर ही होता है अधिक नहीं। यदि ऐसा माना जावे कि रुचक नंदीश्वर द्वीप में मनुष्यलोक से गये हुए तीर्थंकर को वहाँ चारण मुनि वन्दन करने जाते हैं तो भी यह सिद्धान्त और आगम विरुद्ध है क्योंकि किसी भी जैनागम में ऐसा कोई उल्लेख नहीं है कि ढाईद्वीप—मनुष्यलोक से कदापि कोई जिनेन्द्र अथवा जिन भरतक्षेत्र, ऐरावत-क्षेत्र अथवा महाविदेह क्षेत्र के अपने क्षेत्र को छोड़कर अन्य क्षेत्र में गया हो। यदि कोई ऐसा उल्लेख हो तो बतलायें। इसलिये चैत्य शब्द का अर्थ स्वयं जिनेन्द्रदेव भी नहीं है। अतः नंदीश्वर द्वीप में जाकर चारण मुनि वहाँ की शाश्वत जिनप्रतिमाओं की अवश्य चैत्यवन्दन करते हैं।

3. यदि यहां पर चैत्य शब्द का अर्थ साधु किया जावे तो —

जब घाठवें द्वीप में मनुष्य ही नहीं है तो वहां साधु भी नहीं हो सकते। यदि यह मान भी लिया जावे कि मनुष्यलोक से गया हुआ कोई साधु वहां होगा उसे वन्दन करने के लिये जाते हैं तो यह भी संभव नहीं है। क्योंकि पहली बात तो यह है कि वहां मानव का जन्म न होने से साधु का अभाव है। दूसरी बात यह है यदि यह कहें कि ढाईद्वीप से गये हुए वहां साधु को वन्दन करने के लिये जाते हैं, तो यह भी उचित नहीं है क्योंकि वहां ढाईद्वीप के साधु बाग-बगीचे के संर स्पाटे के लिये गये हो ऐसा कभी नहीं हो सकता। यह साधु के आचार के एकदम विरुद्ध है यदि जाता है तो वह साधु ही नहीं है और शुद्ध आचरण वाले साधु को वहां बाग बगीचों की संर करने जाने का कोई प्रयोजन ही नहीं है। कदापि कोई लब्धिधारी साधु वहां के शाश्वत जिनमदिरों (चैत्यों) को वन्दन करने के लिये जावे तो वहां वह चिरकाल तक रहता भी नहीं है और यह जरूरी भी नहीं है कि जब वह साधु वहां जावे उस समय इधर से कोई साधु वहां गया हुआ ही हो। अथवा अवश्य विद्यमान होगा ही। अतः इस सूत्र पाठ में दिये गये तीन बार 'चेइयाइ' (चैत्यों) शब्द का अर्थ साधु भी संभव नहीं है। कारण यह है कि जब भी चारण लब्धिधारी मुनि नदीश्वर द्वीप जाते हैं तब वहां वे श्रवण चैत्यवन्दन करते ही हैं। स्पष्ट है कि यहां पर सदा विद्यमान कायम रहने वाले चैत्य होने चाहियें और वे शाश्वती (सदाकाल विद्यमान रहने वाली) जिनेन्द्र (तीर्थंकर) भगवन्तों की प्रतिमाए ही हैं और उन्हें ही वन्दन किया जाता है।

चैत्य शब्द का अर्थ साधु नहीं है, इस पर विशेष प्रकाश डालना भी आवश्यक है। यदि साधु शब्द चैत्य का पर्यायवाची मान लिया जावे तो भी घटित नहीं होता। शास्त्रों में जहां-जहां साधुओं का वर्णन आया है, वहां-वहां साधू, भिक्षू, समण, निगमंठ आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। पर इन शब्दों की तरह साधु को कहीं चेइय कहकर संबोधन नहीं किया गया? ऐसा उल्लेख कहीं भी जैन-जैनेतर साहित्य में नहीं मिलता। ऐसा अर्थ मानने वालों को चाहिये कि चैत्य शब्द का प्रयोग साधु के लिये कहीं पर हुआ है एकाध जगह पर तो बतला दें कि कहीं ऐसा भी कहा है। भगवान् महावीर के चौदह हजार साधुओं की संख्या थी, उनके स्थान पर चौदह हजार चैत्यों का प्रयोग कहीं नहीं हुआ है।

4. यदि यहां पर चैत्य शब्द का अर्थ ज्ञान किया जावे तो —

जैनागमों में जहां-जहां भी ज्ञान का वर्णन आया है, वहां-वहां ज्ञान के लिये 'नाण' शब्द का प्रयोग हुआ है। कम से कम एकाध जगह तो 'नाण' शब्द के बदले 'चैत्य' शब्द का प्रयोग आगम में होना चाहिये था। परन्तु ऐसा कहीं भी नहीं पाया जाता।

श्री नन्दी सूत्र में ज्ञान का वर्णन आया है। वहां लिखा है कि "नाणं पंचविह"

“पन्नत्” अर्थात् ज्ञान पांच प्रकार का कहा है। यदि चैत्य शब्द का अर्थ ज्ञान होता तो कहीं भी ऐसा पाठ अवश्य होता कि—“चैद्यं पञ्चविहं पन्नत्”। मइ चैद्यं, सुय-चैद्यं, ओहि चैद्यं इत्यादि। सारे जिनागमों को ढूंढो तो भी कहीं ज्ञान के वर्णन में ‘नाण’ के बन्ने चैत्य शब्द का प्रयोग हुआ हो ऐसा कदापि नहीं मिल पावेगा। यदि हो तो बतलाइये ?

पुनश्च ज्ञान एक है, एक वचन है। ‘चैद्याइ’ शब्द बहु वचन है। जिसका अर्थ है बहुत चैत्य। माना कि ज्ञान के भी भेद हैं पर वे सब अपूर्ण ज्ञान हैं। पूर्ण ज्ञान तो मात्र केवलज्ञान ही है और वह एक है। चैत्य भिन्न-भिन्न हैं। प्रतिमाएं-मूर्तियां जुदी-जुदी हैं। यहाँ एक वचन कह रहा है कि ज्ञान एक है और बहु वचन कह रहा है कि चैत्य अनेक हैं। जब अर्थों में मतभेद होता है तभी उसके वास्तविक अर्थों के निर्णय केलिये सत्य-ग्राही-सत्यान्वेषक व्यक्ति को जिज्ञासा उत्पन्न होती है। उसी जिज्ञासा की सदुष्ठी केलिये यहाँ हमने आज से पंद्रह सौ वर्ष के पहले तक के गीतार्थ पूर्वाचार्यों द्वारा किये हुए चैत्य शब्द के अर्थों के प्रमाण दिये हैं और साथ ही उन अर्थों में फेर-फार करने से हुई आगमों की उत्सृज्य प्ररूपणा का दिग्दर्शन कराया है। भव-भीरुओं, सत्यान्वेषियों, सत्य-ग्राहियों, एवं सम्यग्दृष्टियों को तो गीतार्थ पूर्वाचार्यों द्वारा किये गये अर्थों को ही स्वीकार करना चाहिये। ऐसा स्वीकार करने से ही तीर्थंकर भगवन्तों द्वारा किये गये अर्थों को ही मानना होगा। इसी से ही तीर्थंकर भगवन्तों द्वारा प्रतिपादित सत्य वस्तु का बोध होगा। इसी से ही जैन संस्कृति तथा सत्य इतिहास का परिचय मिलेगा। यही अर्थ कसौटी पर भी सच्चे उतरते हैं। यह बात ऊपर किये गये विवेचन से स्पष्ट हो जाती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि चारण मुनि नंदीश्वर द्वीप में 52 सिद्धायतनों (जिनमंदिरों) में विद्यमान चार-चार, श्री ऋषभ श्री चंद्रानन, श्री वारिषेण तथा श्री वर्धमान की शाश्वत (अकृत्रिम) प्रतिमाओं की वन्दना और नमस्कार केलिये ही जाते हैं किसी अन्य कार्य के लिये नहीं जाते।

इसलिये सम्यग्दृष्टि केलिये फिर वह चाहे 1-प्रविरति, इन्द्र, नरेन्द्र, सुरेन्द्र-असुरेन्द्र, देवी-देवता, स्त्री-पुरुष हों, 2-चाहे देशविरति श्रावक-श्राविकाएं हों, चाहे सर्वविरति साधु-साध्वी हों सबके लिये जिनप्रतिमा पूजनीय है। अतः भगवती सूत्र के उपर्युक्त पाठानुसार सही अर्थ न करके स्वकपोलकल्पित (मनमाना) अर्थ करके जिनशासन के विद्रोही न बनें। तिह्व न बनें

आगमों में यह भी स्पष्ट उल्लेख पाये जाते हैं कि—तीर्थंकरों के जन्म आदि कल्याणकों, फाल्गुण, आषाढ़ तथा कार्तिक आदि अष्टाह्निकाओं में इन्द्रादि देव-देवियों, विद्याधर आदि नंदीश्वर द्वीप में जाकर वहाँ के सिद्धायतनों में विराजमान अकृत्रिम जिनप्रतिमाओं की वन्दना नमस्कार, पूजा, अर्चा, भक्ति आदि से अट्टाई महोत्सव मनाने के लिये जाते हैं।

जो लोग जैनागमों में जिनप्रतिमा को मानने, वंदन पूजन करने से इन्कार करते हैं वे वि० सं० 1500 अर्थात् छह सौ वर्षों से पुराने माने हुए ऐसे आगम पाठों को दिखला देवें तो उसे किसी को मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। पर ऐसा कहीं भी नहीं है। अतः लुं कामत की स्थापना के बाद विक्रम की सोलहवीं शताब्दी से इनके द्वारा किये और माने हुए चैत्य शब्द के अर्थ आगम के अर्थों के विपरीत होने से कितनी मखलना हुई है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट ज्ञात है।

10) चैत्य शब्द का प्रयोग जैनागमों में—

अब यहाँ पर चैत्य शब्द का प्रयोग जैनागमों में जिनमूर्ति, जिनमन्दिर, सिद्धायतन, जैनस्मारक आदि केलिये कहाँ-कहाँ पर हुआ है उसका भी संक्षेप रूप से दिग्दर्शन किया जाता है। यथा—

1. चेइअ —(चैत्य) तपुं० चितापर बनाया हुआ स्मारक (स्तूप, समृति-चिन्ह)। (आवश्यक सूत्र 2, 2, 3)
2. चेइअ—(चैत्य) व्यंतर का मन्दिर (आगम भगवती, उववाई, रायप-सेणी, निर्यावली 1, 1; विशेषावश्यक 1, 1, 2)
3. चेइअ—(चैत्य) जिनमन्दिर, जिनगृह, अहंमंदिर (आगम ठाणांग, ठाणा 4 पत्र 430, पंचमांग भगवती, महानिशीय)।
4. चेइअ—(चैत्य) इष्टदेव की मूर्ति, अभिष्ट देवता की मूर्ति, [कल्लाण मंगलं चेइयं पज्जुवासाभि] (श्रीपपातिक, भगवती आगम)।
5. चेइअ—(चैत्य) अहंत् प्रतिमा, जिनेश्वरदेव की मूर्ति (ठाणांग 3, 1 उववाई, पण्ह 2, 3; आवश्यक 2 पिड) [विइपणं उप्पाएणं नन्दीसरे दीवे समोसरणं करेइ तहि चेइयाइ वंदेइ—भगवती 2, 9]। [जिनबिबं मंगलं चेइयंति समयन्नुणं विति पव० 9] मंगल तीर्थं कर प्रतिमा।
6. चेइअ—(चैत्यतरुः) पु० वह वृक्ष जिसके नीचे बैठकर तीर्थंकर उपदेश देते हैं और जिस वृक्ष के नीचे भगवान को केवलज्ञान होता है उसे चैत्यतरु कहते हैं (ठाणांग 8; समवायांग 10, 156)।
7. चेइअ—(चैत्य) पु० स्तूप, थूभ, स्तम्भ (समवायांग, रायपसेणी, सूर्य-प्रज्ञप्ति 18)
8. चेइअघर—(चैत्यगृह) जिनमन्दिर, अहंमंदिर (पउम० 2, 12, 64, 29)।
9. चेइअ-जत्ता—(चैत्य यात्रा) अहंनप्रतिमा सम्बन्धी महोत्सव (धर्म० 3)
10. चेइय थूभ—(चैत्य स्तूप) जैनमन्दिर के समीप का स्तूप। (ठाणांग 4, 2; ज 1)

11. चेइअ दव्व—(चैत्य द्रव्य) देवद्रव्य, जिनमन्दिर सम्बन्धी चल-अचल सम्पत्ति (वव० 9 पंचमा उप० 40, द्र० 4)

12. चेइअ परिवाडी—(चैत्य परिपाटी) क्रमसे जिनमन्दिरों की यात्रा (धर्म० 2)।

13. चेइअ मह—मन्दिर सम्बन्धी उत्सव (आचार० 2, 1, 2)

14. चेइअ वृक्ष—(चैत्य वृक्ष) जिनेश्वरदेव को जिस वृक्ष के नीचे केवल-ज्ञान होता है, ऐसा वृक्ष (समवायांग)

15. चेइअ वंदण—(चैत्यवन्दन) जिनेश्वरदेव की प्रतिमा की मन-वचन-काया से स्तुति की एकाग्रता (पर्व 1, संघ 1; 3)।

चैत्य शब्द का प्रयोग-दिगम्बर ग्राम्नाय द्वारा (जिनेन्द्रदेव पूजा विधान में)

16. अकृत्रिम चैत्य-निलय—शाश्वत जिनेन्द्रदेव का मन्दिर यथा—

कृत्यं-अकृत्यं चारू चैत्यनिलयो नित्यं त्रिलोकी-गतान् वन्दे।

अर्थात्—तीनलोक में विद्यमान जिनेन्द्रदेव के सुन्दर मन्दिरों की वन्दना करता हूँ।

17. चैत्यायतन—जिनेन्द्रदेव का मन्दिर। यथा—

चैत्यायतनानि सर्वानि वन्दे जिन पुंगवानां।

अर्थात्—जैनमन्दिरों में विद्यमान सब जिनेन्द्रदेवों की प्रतिमाओं को वन्दना करता हूँ।

18. चेइय भक्ति-जिनेन्द्रदेव की मूर्ति की भक्ति। यथा—

इच्छामि भक्ते चेइयभक्ति काओसग्गो कओ।

अर्थात्—हे भगवन् ! मैं जिनेन्द्रदेव की मूर्ति की भक्ति के लिए कायोत्सर्ग करता हूँ।

19. जिन-चेइय—जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा। यथा—

किट्टिम-अकिट्टिमाणं जाणि जिणचेइयाणि ताणि सर्वाणि अहमवि इह संतो तत्थ संताइं णिच्चकालं अच्चेमि पुज्जेमि वंदामि णमंसामि।

अर्थात्—तीनलोक में जहाँ कहीं भी कृत्रिम (निर्मित) अकृत्रिम (शाश्वत) जिनेन्द्रदेव की प्रतिमाएँ विद्यमान हैं। मैं भी यहाँ रहता हुआ उन सब की सदा सर्वदा अर्चना करता हूँ, पूजा करता हूँ, वन्दन करता हूँ, नमस्कार करता हूँ।

(अकृत्रिम शाश्वत चैत्यनिलय अर्ध्यपूजा विधान)

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन श्वेतांबर-दिगम्बर शास्त्रों में चैत्य शब्द का प्रयोग जिनप्रतिमा, जिनमन्दिर, अथवा सिद्धायतन के लिये हुआ है और यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि जिस बाग, उद्यान, वृक्ष, आदि का नाम 'चैत्य' शब्द के साथ आया है वह भी किसी देव के निमित्त से ही आया है।

(1) चैत्य शब्द का अर्थ कोषकारों की दृष्टि में—

1. कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य श्री हेमचन्द्र जी ने अपने अभिधान चिन्तामणि कोष तथा हेमीनाममाला में चैत्य शब्द का अर्थ-तीर्थंकर भगवान की मूर्ति, जिन-प्रतिमा और मन्दिर किये हैं। यथा—

“चैत्य नपुंसक लिंग) —जिनबिंब, जिनोकः, जिनालयः अर्थात्—चैत्य शब्द नपुंसक लिंग है। इसका अर्थ—जिनेश्वर प्रभु की मूर्ति, जिनेश्वर का घर-जिनमन्दिर होत है।

चैत्य (पुल्लग) —चैत्य तरुः। अर्थात्—जिस वृक्ष के नोचे तीर्थंकर उपदेश देते हैं अथवा केवलज्ञान प्राप्त करते हैं उसे चैत्यतरु (चैत्यवृक्ष) कहते हैं।

अतः यहाँ पर चैत्य शब्द का अर्थ जिनमन्दिर, जिनप्रतिमा सिद्धायतन मानना ही सही है।

1. शब्द कोष सम्मत, 2. गीतार्थ पूर्वाचार्यों द्वारा सम्मत, 3. आगम शास्त्र सम्मत, 4. तर्क सम्मत, 5. युक्तिपुस्पर, 6. तथा इतिहास-पुरातत्त्व सम्मत सब दृष्टियों से यही अर्थ सही है इस उपयुक्त विवेचन से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है।

तथा अत्यन्त प्राचीन काल से जिनप्रतिमाएँ जिनमन्दिर, सिद्धायतन, स्तूप जिन-गुफाएँ विद्यमान होने से “चैत्य” शब्द के उपयुक्त अर्थ की प्रत्यक्ष प्रमाण से भी पुष्टि होती है।

9—आगमों में जिनप्रतिमा के पूजने की चर्चा

आक्षेप—जैन आगमों में मूर्ति को पूज्य मानने और उसकी पूजा का कोई उल्लेख नहीं है। चैत्यवासियों (यतियों) ने अपनी उदरपूर्ति का साधन बनाने के लिए मूर्ति की मान्यता तथा उसकी आडम्बरमय पूजाओं को प्रचलन किया है।

समाधान—मूल जैनागमों, उनपर नियुक्ति, भाष्य, चर्णि, टीकाओं में तथा पूर्वाचार्य गीतार्थ महर्षियों द्वारा रचित शास्त्रसमूह में ठौर-ठौर पर मूर्तिपूजा के उल्लेख विद्यमान हैं। यथा—

1. श्री आचारांग सूत्र (प्रथमांग) में प्रभु महावीर के पिता राजा सिद्धार्थ को श्री पाश्वनाथ संतानीय जैन श्रावक कहा है। उसमें वर्णन है कि उसने श्री जिनेश्वरदेव की पूजा केलिये लाखों रुपये खर्च किये और अनेक जिन प्रतिमाओं की पूजा की। इस अधिकार में “आयन्न” शब्द आया है। जिसका अर्थ देव-पूजा है।

2. श्री सूयगडांग सूत्र की नियुक्ति में श्री जिनप्रतिमा को देखकर आर्द्रकुमार को प्रतिबोध हुआ और जब तक उसने दीक्षा ग्रहण नहीं की तब तक वह प्रतिदिन उस प्रतिमा की पूजा करता रहा।

3. श्री समवायांग सूत्र में समवसरण के अधिकार के लिये कल्पसूत्र का उदाहरण दिया है। इसी प्रकार श्री बृहत्कल्पसूत्र के भाष्य में वर्णन है कि

समवसरण में अरिहंत स्वयं पूर्व दिशा सम्मुख विराजते हैं और दक्षिण, पश्चिम, उत्तर तीन दिशाओं में उनके तीन प्रतिबिम्ब (जिनमूर्तिप्रा) इन्द्रादि देवता विराजमान करते हैं। यहाँ आनेवाले श्रोतागण जैसे साक्षात् तीर्थंकर को वन्दन करते हैं वैसे ही उन प्रतिमाओं को भी वन्दन करते हैं। (देखें चित्र पृष्ठ 1 पर)

4. श्री भगवती सूत्र में कहा है कि जंघाचारण, विद्याचारण मुनि मन्दीश्वर द्वीप की, मानुषोत्तर पर्वत की तथा यहाँ की शाश्वती जिनप्रतिमाओं को वन्दन करते हैं। (इस का उल्लेख मूलपाठ के साथ पहले भी कर आये हैं)।

5. श्री भगवती सूत्र में तुंगिया नगरी के श्रावकों द्वारा जिनप्रतिमा पुजने का अधिकार है।

6. श्री ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र में श्राविका द्रोपदी (पांडव राजा की पुत्र-वधु) ने जिनप्रतिमा की सत्तरहमेदी पूजा की, पश्चात् नमस्कार रूप नमुत्थुणं का पाठ पढ़ने का भी वर्णन है।

7. श्री उपासकदशांग सूत्र में आनन्द आदि दस श्रावकों का जिनप्रतिमा को वन्दन पूजन करने का अधिकार है। मात्र इतना ही नहीं पर आनन्द श्रावक का अन्य मतावलम्बियों द्वारा ग्रहण की हुई जिनप्रतिमा को वन्दन न करने का विवरण भी मिलता है।

8. श्री प्रश्नव्याकरण सूत्र में पांच महाव्रतधारी साधु द्वारा जिनप्रतिमा की श्रेयाश्चक्र करने का वर्णन है।

9. श्री उववाई सूत्र में बहुत जिनमन्दिरों का अधिकार है।

10. इसी सूत्र में अम्बुद श्रावक का जिनप्रतिमा पूजने का अधिकार है।

11. श्री रायपसेणीय सूत्र में सारथी तथा प्रदेशी राजा (इन दोनों) श्रावकों के जिनप्रतिमा पुजने का वर्णन है।

12—इसी सूत्र में सुरियाभ देवता का जिनप्रतिमा के वन्दन-पूजन का वर्णन है।

13—श्री जीवाभिगम सूत्र में विजय आदि देवताओं के जिनप्रतिमा पूजने का वर्णन है।

14—श्री जम्बुदीपपण्णति में यमक देवता आदि के जिनप्रतिमा पूजने आदि का वर्णन है।

15—श्री दशवैकालिक सूत्र की नियुक्ति में शयंभव सूरि का श्री शांतिनाथ की प्रतिभा को देखकर प्रतिबोध पाने का वर्णन है।

16—श्री उत्तराध्ययन सूत्र की नियुक्ति के दसवें अध्ययन में श्री गौतम स्वामी के अष्टापदतीर्थ की यात्रा का वर्णन है।

17—इसी सूत्र में 29वें अध्ययन में थय थुई मंगल में स्थापना को वन्दन-करने का वर्णन है।

18. श्री नन्दी सूत्र में विशाला नगरी में मुनिसुव्रतस्वामी तीर्थंकर का महाप्रभावी थुभ (स्तूप) कहा है ।

19. श्री अनुयोगद्वार सूत्र में स्थापना माननी कही है ।

20—श्री आवश्यक सूत्र में भरत चक्रवर्ती के (अष्टापद पर्वत पर) जिन मन्दिर बनवाने का वर्णन है ।

21—इसी सूत्र में बगुर श्रावक के श्री मल्लिनाथ (19 वें तीर्थंकर) का मन्दिर बनवाने का वर्णन है ।

22—इसी सूत्र में कहा है कि—सिधु सीवीर के राजा उदायन की पट्टरानी चेटक राजा की पुत्री, भगवान महावीर की (भामा की पुत्री) बहन प्रभावती श्राविका ने अपने राज-महल में जिनमन्दिर बनवाकर श्री महावीर प्रभु की जीवितस्वामी (गृहस्थावस्था में ध्यानमुद्रा में) की मूर्ति स्थापित की थी और वह उसकी प्रतिदिन पूजा करती थी ।

23—इसी सूत्र में कहा है कि फूलों से जिनप्रतिमा को पुजने से मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

24—इसी सूत्र में कहा है कि श्रेणिक राजा प्रतिदिन 108 सोने के यवों से जिनप्रतिमा का पूजन करता था ।

25—इसी सूत्र में कहा है कि साधु कायोत्सर्ग में जिनप्रतिमा पूजने का अनुमोदन करे ।

26—इसी सूत्र में कहा है कि सर्वलोक में जिनप्रतिमाएँ हैं । उनकी आराधना के निमित्त साधु और श्रावक कायोत्सर्ग करे ।

27—श्री व्यवहार सूत्र के प्रथम उद्देशे में जिनप्रतिमा के सामने आलोचना करना कहा है ।

28—श्री महाकल्पसूत्र में कहा है कि यदि श्री जिनमन्दिर में साधु श्रावक दर्शन करने को न जावें तो प्रायश्चित्त आवे ।

29—श्री महानिशीथ सूत्र में कहा है कि श्रावक यदि जिनमन्दिर बनवाएँ तो उत्कृष्ठा बारहवें देवलोक तक जावे ।

30—श्री जीतकल्पसूत्र में कहा है कि यदि जिनमन्दिर में साधु-साध्वी दर्शन करने न जावे तो प्रायश्चित्त आवे ।

31—श्री प्रथमानुयोग में कहा है कि अनेक श्रावक-श्राविकाओं ने श्री जिनमन्दिर बनवाये और उनकी पूजा की ।

अतः राजाओं, महाराजाओं, चक्रवर्तियों, रानियों, महा-रानियों, अविरति सम्यग्दृष्ट देवताओं-देवियों, इन्द्रानियों-इन्द्रों, देशविरति श्रावक-श्राविकाओं, पाँच महाव्रतधारी साधु-सध्वियों, जवाचारण-विद्याचारण आदि लब्धिधारी मुनियों, गणधरों

आदि सबके द्वारा जैनागमों में जिनमन्दिर, जिन-प्रतिमाएँ बनवाने तथा उनकी बन्दना, पूजा, उपासना, नमस्कार करने के बहुत प्रमाण मिलते हैं ।

आगम और प्रतिमा पूजन

शंका — माना कि जिनप्रतिमा-मन्दिरों की स्थापना का जिक्र आगमों में है पर उनकी पूजा-रूढ़ि जैन आगम की मान्यता के अनुकूल नहीं हैं ।

समाधान — आगमों में जिनप्रतिमा पूजन के विधि-विधान के पाठों की कोई कमी नहीं है । यहाँ पर कतिपय पाठों के उद्धरण देना ही पर्याप्त होगा ।

1—अपने विवाह से पहले सम्यग्दृष्टि श्राविका द्रोपदी द्वारा जिनप्रतिमा पूजने का आगम पाठ श्री ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र में वर्णन है कि—

(अ) तए णं सा दोवइ रायवरकन्ना जेणेव मज्जणधरे तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता मज्जणधरमणुप्पविसइ ष्हाया कयबालिकम्मा कय-कोउ-मंगल-पायच्छित्ता सुद्धावेगाइं मगजाइं वत्थाइं पवरपरिहिया, मज्जणधराओ पडिनिक्खमइ पडिनिक्खम-इत्ता जेणेव जिणधरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता जिणधरं अणुपविसइ, अणुपव-सइत्ता जिणपडिमाणं आलोए पणामं करेइ, पणामं करइत्ता लोमहत्थयं परामुसइ, एवं जहा सूरियाभो जिणपडिमाओ अच्चेइ तहेव भाणियच्चं, जाव धूवं डहइ डहइत्ता वामं जाणूं अचेति दाहिणं जाणूं धरणियलं णिवेसेइ णिवेसइत्ता तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणियलंसि निवेसइ निवेसइत्ता इंसि वच्चुणमइ, करयल जाव कट्टुं एवं वयासि नमोत्थुणं अरिहं-ताणं भगवंताणं जाव संपत्ताणं वंदइ नमंसइ नमंसइत्ता जिणधराओ पडिमिक्खमइ, पडिक्खमइत्ता जेणेव अन्तेउरे तेणेव उवागच्छइ ॥ (ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र अ० 16)

अर्थ-तब वह द्रोपदी राजवर कन्या जहाँ स्नान करने का घर है, वहाँ गई और स्नानघर में प्रवेश किया । स्नान करके पूजा की सामग्री तैयार की । तिलकादि करके मंगल आदि द्रव्यों को लिया । शुद्ध पवित्र वस्त्र पहन कर स्नानघर से बाहर निकलकर जहाँ जिनेश्वर प्रभु का मन्दिर था वहाँ आई । वहाँ जिनधर (जिन मन्दिर) में प्रवेश करती है । प्रवेश करके दृष्टि पड़ते ही जिनप्रतिमा को प्रणाम करती है । मोरपीछी लेकर जैसे सूरियाभ देवता ने जिनप्रतिमा की पूजा की वैसे ही किया (अर्थात् वैसे ही सत्रहमेदी-17 द्रव्यों से पूजा की) फिर धूप पूजा करके वाम (बायाँ) घुटना ऊँचा करके दाहिना (जीमना) जानू (घुटना) धरती पर स्थापन कर तीन बार मस्तक को धरती पर स्थापन किया यानी तीन बार बन्दना करके थोड़ा नीचे झुक कर मस्तक को धरती पर लगाती है । दोनों हाथों की हथेलियों और दसों अंगुलियों के नखों को मिलाकर मस्तक पर अंजली करके ऐसा कहती है—“नमस्कार हो अरिहंत भगवन्तो को (यहाँ से प्रारम्भ करके) सिद्धगति को प्राप्त हुए हैं” तक अर्थात् पूरे नमोत्थुणं (शकस्तव) का पाठ करके जिनमंदिर बाहर गई और फिर अपने अतःपुर में आई ।

(नोट)—द्रोपदी ऐसी दृढ़धर्मी थी कि उसने विवाह के अवसर पर भी श्री जिनप्रतिमा की पूजा करना अपना प्रथम कर्तव्य समझा ।

इसी आगम में द्रोपदी को सम्यग्दृष्टि कहा है । देखिये—

(आ) “ते ए ण सा दोवइ देवी कच्छुल्लाणारयं असंजम अविरय अप्पडिहय अप्पच्चक्खाय पावकम्मं तिकट्टुणो आढाइ णो परियाणाइ णो अब्भुट्टे इ ।”

अर्थात्—जब नारद आया तब द्रोपदी देवी उस कच्छुल नामक नवमे नारद को असंयमी, अविरति, पापकर्म नहीं होने, नहीं पचक्खले (छोड़ें) जिसने (अर्थात्—जिस नारद ने पापकर्मों का त्याग करने के लिए पचक्खलाण नहीं किया) उसे आया हुआ जानकर भी न तो उसके आदर-सत्कार के लिए खड़ी हुई और न ही उसकी तरफ कोई ध्यान दिया । अर्थात् असंयमी नारद का सम्यग्दृष्टि द्रोपदी देवी ने कोई आदर सत्कार नहीं किया और न ही उसको निगाह उठा कर देखा ।

(इ) “त ए ण सा दोवई देवी छट्टं छट्ठेणं अणित्थेणं आयंबिलं परिग्गहिणं तवोकम्मेषं भावमाणी विहरइ ।

अर्थ—जब (पद्मोत्तर राजा ने द्रोपदी देवी को कन्या के अन्तःपुर में रखा) तब वह द्रोपदी देवी छठ-छठ (बेले-बेले-दो-दो उपवास) के पारणे आयंबिल करती हुई रहती है ।

इन तीनों आगम प्रमाणों से स्पष्ट है कि द्रोपदी देवी सम्यग्दृष्टि देशव्रत-धारिणी परम-तपस्विनी जैनश्राविका थी और वह प्रतिदिन श्री जिनेश्वर प्रभु के मन्दिर में श्री तीर्थंकर प्रभु की मूर्ति (स्थापना जिन) की पूजा करती थी । यहाँ तक कि अपने विवाह के अवसर पर अतिव्यस्त होते हुए भी जिनेश्वर प्रभु की भक्ति को नहीं भूली ।

प्रश्न 1—स्थानकवासी (डूँढक) आचार्य श्री अमोलक ऋषि ने तीर्थंकर की प्रतिमा की पूजा का निषेध करने के लिये “ज्ञाताधर्मकथांग आगम” में आये हुए इस सूत्र पाठ में “जिन पडिमाओ” का अर्थ कामदेव की मूर्ति किया है । अतः इस पर भी कुछ विचार करना आवश्यक है ।

समाधान—जैन शास्त्रों में कहीं भी जिन शब्द का अर्थ कामदेव नहीं किया गया । खेद का विषय है कि अपनी मिथ्या मान्यता की पुष्टि के लिए जिनप्रतिमा की पूजा के निषेध केलिये सूत्र के अर्थ को भी बदल डाला है । अतः यहाँ इस पर विशेष प्रकाश डालने की आवश्यकता है—

देखिये—स्थानांग सूत्र आगम का पाठ—

1—“तत्रो जिणा पं० तं० ओहि-नाण-जिणे, मण-पञ्जव-नाण-जिणे, केवल-नाण जिणे ।”

2—तत्रो अरहा पं० तं० ओहि-नाण अरहा, मण-पज्जव-नाण-अरहा, केवल-नाण-अरहा ।”

अर्थात्—1. अवधिज्ञानी जिन, 2. मनःपर्यवज्ञानी जिन, 3. केवलज्ञानी जिन (तीन प्रकार के जिन) ।

1—अवधिज्ञानी अरहंत, मनःपर्यवज्ञानी अरहंत, केवलज्ञानी अरहंत ।
(तीन प्रकार के अरिहंत) ।

(1) इसका मतलब यह है कि जब तीर्थंकर याता की कुक्षी में आते हैं तब पूर्वभव से अवधिज्ञान अपने साथ लाते हैं । इसलिये गर्भ में अवतार लेने के समय से लेकर दीक्षा लेने से पहले तक अवधि जिन और अवधि अरहंत कहलाते हैं ।

(2) दीक्षा लेने के समय उन्हें मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न हो जाता है । इस लिए दीक्षा के प्रारम्भ से लेकर केवलज्ञान होने से पहले तक वे मनःपर्यव जिन और मनःपर्यव अरहंत कहलाते हैं ।

(3) केवलज्ञान उत्पन्न होने से लेकर निर्वाण से पहले तक वे केवली-जिन और केवली अरहंत कहलाते हैं ।

पाठक स्वयं समझ गये होंगे कि अवधि, मनःपर्यव और केवल ये तीनों विशेषण उन्हीं जिनों और अरिहंतों के लिए हैं जिन्हें जैनधर्म में तीर्थंकर कहा है । परन्तु कामदेव के ये विशेषण कदापि नहीं होते और न ही किसी ने ऐसे विशेषण कामदेव के बतलाये हैं ।

इस बात की निश्चय सच्चाई के लिये विक्रम संवत् 1120 में श्री अभयदेव सूरि द्वारा की गई टीका को यहां उद्धृत करते हैं । यथा—

“तत्रो जिणे इत्यादि सुगमा नवरं राग-द्वेष-मोहान जयन्तीति जिनाः सर्वज्ञाः उक्ता च रागद्वेषश्च तथा मोहो जितोयेन जिताह्यसौ । अस्त्रो शस्त्रोश्मालत्वादहंने-वानुभीयते इति (स्थानांग सूत्र टीका) ।

अर्थात्—राग, द्वेष, मोह को जीतने वालों को जिन सर्वज्ञ कहा है ।

शास्वती जिनप्रतिमाओं का शास्त्रों में जो वर्णन आया है, वहाँ तीर्थंकरों के शरीरों की ऊँचाई, पद्यासन, तथा उनके नामों का ही उल्लेख है । जिस स्थान पर जिनप्रतिमाएँ विराजमान हैं उस स्थान का नाम शास्त्रकारों ने सिद्धायतन कहा है और यह है भी यथार्थ क्योंकि मूर्तियां तीर्थंकरों और सिद्धों की हैं यहाँ द्रोपदी देवी के जिनपडिमा पूजन के प्रसंग में नमोत्पुण द्वारा उन तीर्थंकरों और सिद्धों की ही उपासना स्तुति की है । कामदेव की नहीं की । क्योंकि नमुत्पुण में तीर्थंकर और सिद्ध के गुणों का ही वर्णन है ।

चैत्य शब्द के अर्थ की चर्चा भी की जा चुकी है और यहाँ जिन शब्द के अर्थ का खुलासा भी कर दिया है । अतः दोनों शब्दों का अर्थ अरिहंत-तीर्थंकर ही

है। इसलिये जिन-चैत्य और जिनप्रतिमा का अर्थ अरिहंत-तीर्थ कर और सिद्ध की मूर्ति ही है।

भीखन जी मतानुयायी जेरापंथी जयाचार्य ने द्रोपदी द्वारा प्रतिमा पूजन स्वीकार करके भी उसे मिथ्यादृष्टि कह कर पापाचरण कहा है जो कि अपने मिथ्या पक्ष की पुष्टि के निमित्त मनमाना विवेचन करने का दुःसाहस मात्र है। द्रोपदी देवी सम्यग्दृष्टि थी, आगम का मूल पाठ अर्थ सहित हम पहले लिख आये हैं।

2—देवलोक में उत्पन्न सूरियाभ देव ने अपने निकाय में रहे हुए शाश्वत जिनबिम्बों की पूजा की—यथा—

स एणं स सूरियाभे देवे चउर्हि सामाणिय-साहस्सीहि जाव अनेहि य बहूहि य सूरियाभ जाव देवेहि य देवीहि सद्धि संपरिवुडे सध्विडडोए, जाव णा (वा) तियरवेणं जेणेव सिद्धायतणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता सिद्धायतणं पुरस्थिमिल्लेणं दारेणं अणुपविसइ, अणुपविसइत्ता जेणेव देवच्छइए जेनेव जिणपडिमाओ तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता जिणपडिमाणं आलोए पणामं करेइ, करेइत्ता लोमहत्थगं गिण्हइ, गिण्हइत्ता जिणपडिमाणं लीमहत्थएण पमज्जइ, पमज्जइत्ता जिणपडिमाओ सुरभिणा गन्धोदएण ण्हावेइ ण्हावित्ता सुभिगन्धकासाइएण गायाइ लूहेत्ति, लूहित्ता जिणपडिमाणं सरसेणं गोसीसच्चन्दणेणं गायाइ अणुलिपइं अणुलिपइत्ता, अह्याइं देवदूस-जुयलाइं नियंसेइ, नियंसित्ता पुष्कारोहणं, मल्लारुहणं, गंधारुहणं, चुण्णारुहणं, वन्मारुहणं, वत्थारुहणं, आभरणारुहणं करेइ, करित्ता आसत्तोसत्तविउलवट्टवग्धारियमल्लदाम-कलावं करेइ, मल्लदामकलावं करित्ता कयगग्गहेय करयल पम्भट्ठ विप्पमुक्केणं दसद्धवणेणं कुनुमेणं सुषकपुष्पुंजोवयार कलय करेइ, करित्ता जिणपडिमाणं पुरतो अच्चेहिं, सण्हेहिं, ययामएहिं अच्छरसा तं दुत्तेहिं अट्टु मंगले आसिहइ, तं जहा-सत्थिय जाव दपणं तयाणं सरं यण च्चदपभरयणं कंइइरवेरुलियविमलदं उच्चणभणिरयणं भत्तिजित्तं कालागुरुपवर कुंदुरुकधूवमघमघं तंगधुत्तमाणुविद्धं च धूववट्टिं विणिम्भुयंत वेरुलियमयं कडुच्छुयं पगहिय पयत्तेणं धूव दाऊग जिणव्राणं अट्टसथिसुद्धगं थं जुत्तेहिं अत्थजुत्तेहिं अपुणरुत्तेहिं महावित्तेहिं संथुणइ संथुगित्ता सत्तट्टययाइं पच्चो-सवकइ पच्चोसविकित्ता वामजाणुं अच्चेइं अच्चेइत्ता दाहिणं जाणुं धरणितालंसि निहट्टुं तिवखुत्तो मुद्दाणं धरणितलसिनिवाडेइं, निवाडेइत्ता इंसि पच्चुणमइ, पच्चणमित्ता करयलपरिगहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलि कट्टुं एवं वयासी-नमोत्थुणं अरिहंताणं जाव संपत्ताणं, बंदइ, नमंसइ नमंसित्ता, जेणेव देवच्छइए जेनेव सिद्धायतणस्स बहुमज्ज वेसभाए तेनेव उवागच्छइ।।

अर्थ—उसके बाद वह सूरियाभ देव चार हजार सामानिक देवों के साथ यावत दूसरे भी अनेक सूरियाभ विमान में रहने वाले देव तथा देवियों के साथ परिवृत होकर, सर्व ऋद्धि से यावत वाजिन्न शब्द से जहाँ पर सिद्धायतन रहा हुआ है वहाँ आता है। आकर सिद्धायतन में पूर्वद्वार से प्रवेश करता है। प्रवेश कर जहाँ,

देवच्छंदक है और जहाँ जिनप्रतिमाएँ हैं, उस प्रदेश में जाता है, जाकर प्रतिमाओं को देखकर प्रणाम करता है, प्रणाम करके लोमहस्तक (मोरपिच्छी) हाथ में लेकर जिनप्रतिमाओं का उससे प्रमार्जन करता है। प्रमार्जन करके जिनप्रतिमाओं को सुगन्धोदक से स्नान कराता है। स्नान कराकर सुगन्धित काषायी (वस्त्रों) से मूर्तियों को पोंछता है। पोंछकर सरस गोशीर्ष चन्दन से उनके गात्रों पर विलेपन करता है। विलेपन करके देव-द्वय-वस्त्र-युगल पहिनाता है। पहिनाकर पुष्प चढ़ाता है, माला पहनाता है, गंध चढ़ाता है, सुगन्ध चूर्ण चढ़ाता है और वर्णक चढ़ाता है, आभूषण चढ़ाता है। चढ़ाकर चारों तरफ लम्बी-लम्बी पुष्प-मालाएँ लटकाता है। पुष्पमालाओं को लटकाकर छोटे पचवर्ण फूलों को हाथों में लेकर सर्वत्र बखेरता है। इस प्रकार पुष्पों के पुंज से सिद्धायतन को सुशोभित करके, जिनप्रतिमाओं के आगे स्वच्छ-रजतमय अक्षतों से आठ-आठ मंगलों (अष्टमंगलों) का आलेखन करता है। जैसे स्वस्तिक यावत् दर्पण। उसके बाद चन्द्रप्रभरत्न, हीरे, वैडूर्य रत्नों से जिस का दंड उज्ज्वल है ऐसा स्वर्ण मणि रत्नों की रचना से मंडित, कृष्णऽगुरु श्रेष्ठ कुन्दरूप तुष्क धूपों से मधमघन्त, उत्तम गंध से युक्त धूपबत्ती से सुगंधी को फैवाता है। ऐंसे वैडूर्यरत्न वाली धूपधानी को लेकर प्रयत्न पूर्वक जिनवरों को धूप खेवकर 108 विशुद्ध रचनावाले अर्थ युक्त महावृत्तों से उनकी स्तुति करता है। स्तुति करके सात आठ कदम पीछे हटता है। पीछे हटकर बायें जाणु (घुटने) को ऊंचे उठाकर दाहिने जाणु को भूमितल पर लगा कर पृथ्वी पर मस्तक लगाता है। फिर मस्तक को कुछ ऊंचा उठाकर दोनों हाथ जोड़कर मस्तक पर अंजलीकर इस प्रकार बोला—“नमस्कार हो अरिहंत भगवतों को यावत् सिद्धि गति को प्राप्त होने वालों को (पूरे शक्रस्तव से) इत्यादि वन्दन नमस्कार करके जहाँ देवच्छंदक है, जहाँ सिद्धायतन का मध्य भाग है वहाँ जाता है और वहाँ जाकर इत्यादि।

इस प्रकार सूरियाभ देव ने सिद्धायतन (जिनमंदिर में जाकर जिनप्रतिमाओं (तीर्थंकर भगवतों की मूर्तियों) की सुगन्धित जल, चन्दन, केशर, गंध तथा पुष्पों, पुष्प-मालाओं, धूपबत्तियों, अक्षतों, वस्त्र युगल, आभूषणों, अष्टमंगलों, स्तुतियों इत्यादि से सत्रहमेदी पूजा की।

वैसे ही राजकुमारी द्रोपदी देवी ने भी अपने विवाह वाले दिन शादी होने से पहले जिनमंदिर में जाकर जिनमूर्तियों की पूजा की।

३-सभ्यभृष्टि आनन्द श्रावक द्वारा जिनप्रतिमा को वंदन नमस्कार

श्रमण भगवान महावीर के दस मुख्य श्रावकों के उपासकदशांभ सूत्र में चरित्र वर्णन है। उनमें पहला चारित्र आनन्द श्रावक का है उसने भी जिनप्रतिमा की पूजा भक्ति की देखिये—

नो खलु मे भंते कप्पइ अज्जप्पभइओ, अण्णउत्थिए वा अण्णउत्थिय-देवाणि वा, अण्णउत्थिय परिग्गहियाणिइ वा, अरिहंत चेइयाइं वा वदित्तए वा नमसित्तए वा

पुर्वि अणालक्षणेन अलवित्तए वा तेति असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउ
 वा अणुपदाउं वा णणत्थ रायभिओणेणं, गणाभिओणेणं, बलाभिओणेणं, देवया-
 भिओणेणं, गुरुनिग्गहेणं, वित्तिकंतारेणं कप्पइ मे समणे निग्गथे फासुएणं एसणिज्जएणं
 असणं, पाणं, खाइमं, साइमेणं वत्थापडिग्गह कंबलं पायमुच्छणं पाडिहारिय पीढ
 फल्लग सेज्जा संथाएणं ओसह भेसज्जेण य पडिलाभे माणस्स विहरित्तए त्ति कट्टुइमं
 एयाणुरूवं अभिग्गहं अभिगिहइ” (उपा० अ० 1)

अर्थ—हे भगवन ! मुझे न कल्पे, क्या न कल्पे ? सो कहता हूं । आज से लेकर
 अन्य तीर्थियों, अन्य तीर्थियों के देवों की मूर्तियों अथवा अन्य तीर्थी (दूसरे मताव-
 लंबियों) द्वारा ग्रहण किये हुए अरिहंतों के चैत्यों (श्री तीर्थंकरदेवों की मूर्तियों) को
 वन्दन करना अथवा नमस्कार करना न कल्पे तथा प्रथम से किसी के बिना बुलाये
 बुलाना, बार-बार बुलाना, यह सब मुझे न कल्पे, और उन्हें अशन, पान, खादिम,
 स्वादिम यह चार प्रकार का आहार देना अथवा बार-बार देना न कल्पे ! परन्तु इतने
 कारणों को छोड़कर-1-राजा के आग्रह से 2-लोक-समुदाय (जनता) के आग्रह से,
 3-बलवान के आग्रह से, 4-क्षुद्रदेवता के आग्रह से, 5-गुरु-माता-पिताकलाचार्य के,
 आग्रह से, 6-जिनमंदिर को, जिनप्रतिमा को, गुरु को, दुष्ट लोगों द्वारा किये गये उपद्रव
 से उनकी रक्षा के लिये (इन छह कारणों से) छिड़ी (आगारों) को छोड़कर पूर्वकथित
 को वन्दनादि करने में दोष न लगे, जो न कल्पे सो कह !

अब जो कल्पे सो कहते हैं—“1-मुझे कल्पे श्रमण-निर्ग्रंथ (जैन साधु साध्वी)
 को प्रामुक (अचित्त) और एषणीय (दोषरहित) अशन, पान, खादिम स्वादिम (चार
 प्रकार का आहार) वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण, चौकी, पट्टा आदि, बसती (रहने
 का स्थान) संथारा (तृणादि) एवं औषध, मेषज आदि से प्रतिलाभते (देते) हुए
 जीवन यापन करना । ऐसी प्रतिज्ञा कर अभिग्रह ग्रहण किया ।

सारांश यह है कि अन्य मतावलम्बी द्वारा तीर्थंकर की प्रतिमा ग्रहण की हुई
 को वन्दना नमस्कार करने का आनन्द श्रावक ने त्याग किया है । तो यह फलितार्थ
 निकला कि इनके अतिरिक्त जो जिनप्रतिमाएं होंगी उनकी सदा वन्दन-मस्कार
 पूर्वक पूजा करूंगा । यदि जिनप्रतिमा को वन्दन-नमस्कार करना उसे अभिष्ट न
 होता तो वह ऐसा अभिग्रह (प्रतिज्ञा) करता कि—“मैं किसी भी जिनप्रतिमादि
 को नमस्कार नहीं करूंगा ।” पर ऐसा नहीं कहा

4-अम्बड श्रावक ने जिनप्रतिमा की भक्ति-पूजा की—

(अ) श्री उववाई सूत्र में वर्णन आता है कि—

अंबडस्स ण परिवायमस्स नो कप्पइ अणउत्थिए वा अणउत्थिय देवयाणि
 वा अणउत्थिय परिग्गहियाइं अरिहंतचेइयाइं वा वंदित्तए वा नमसित्तए वा णणत्थ
 वरिहंते वा अरिहंतचेइयाणि वा ॥”

अर्थ— अम्बड़ परिवाराजक को न कल्पे अन्य तीर्थी, अन्य तीर्थी को देव को और अन्य तीर्थी के ग्रहण किये हुए अरिहंतचैत्य (जिनप्रतिमाओं-तीर्थकरदेवोंकी मूर्तियों) को वन्दना नमस्कार करना परन्तु अरिहंतों और अरिहंतों की प्रतिमाओं को वन्दन-नमस्कार करना कल्पे ।

(आ) श्री स्थानांग सूत्र की नियुक्ति में वर्णन है कि श्रेणिक के पुत्र महामंत्री अभयकुमार द्वारा अनार्य देश के राजकुमार आर्द्रकुमार को मेजी हुई जिनप्रतिमा को देखकर उसे पूर्वजन्म का ज्ञान (जातिस्मरण ज्ञान) हो गया और प्रतिबोध पाकर जैनधर्मी बना एवं जब तक उसने मुनि दीक्षा ग्रहण नहीं की तब तक उस प्रतिमा की भक्ति-पूजा करता रहा ।

5- साधु साध्वी और जिनप्रतिमा —

प्रश्नव्याकरण सूत्र के तीसरे संवर द्वार में साधु को 15 बोलों की वेयावच्च करने का कहा है । उनमें पंद्रहवां बोल जिनप्रतिमा का है ।

ग्रह केरिए पुण आराहए वयामिणं ? जे से उवही भत्त-पाणे सँगदाणे कुसले-

1. अचत्त बाल, 2. दुब्बल, 3. गिलाग, 4. बुड्ढ, 5. खवगे, 6. पवत्त, 7. आयरिय, 8. उवज्जाए, 9. सीसे, 10. साहम्मिए, 11. तवस्सी, 12. कुल, 13. गण, 14. सँघ, 15. चेइयट्टे निज्जरट्टी, वयावच्चे अणिसियँ दसविहँ, बहुविहँ पकरेइ”

अर्थ— (शिष्य पूछता है) हे भगवन् ! कौन सा साधु (तीसरे अवत्तादान विरमण-अधौयँ) व्रत का आराधन करता है ? (गुरु कहते हैं) जो साधु उपकरण, आहार-पानी, यथोक्त (शास्त्रोक्त) विधि से लेने में और यथोक्त (शास्त्रोक्त) विधि से आचार्यादि को देने में कुशल है वह (साधु तीसरे व्रत का आराधन करता है ।

1-अत्यन्त बालक, 2-शक्तिहीन दुर्बल, 3-रोगी, 4-वृद्ध, 5-अपक, 6-प्रवर्तक, 7-आचार्य, 8-उपाध्याय, 9-नवदीक्षित शिष्य, 10-सार्धमिक, 11-तपस्वी, 12-कुल (चन्द्र कुलादि) 13-गण, (कुलों का समुदाय) 14-संघ (गणों और कुलों का समुदाय) 15-चैत्यों (अरिहंतों की मूर्तियों-मन्दिरों) की निर्जरा-कर्मक्षय की इच्छा वाला साधु-साध्वी मानादि की अपेक्षा रहित से, बहुत प्रकार की वेयावच्च (सेवा श्रूषा) करता है वह साधु-साध्वी तीसरे व्रत का आराधक है (प्रश्नव्याकरण सूत्र)

6. श्रावक अथवा साधु जिन मंदिर न जावे तो प्रायश्चित्त—

श्री महाकल्पसूत्र से कहा है कि—

से भयवं तहाख्वं समणं वा माहणं वा चेइएधरे गच्छेज्जा ? हँता गोयमा !
दिणे दिणे गच्छेज्जा । से भयवं ! दिणे न गच्छेज्जा तन्नो किं पायाँच्छत्त ह्वेज्जा ?
गोयमा ! पमायं पडुच्च तहाख्वं समणं वा माहणं वा जो जिणधरे न गच्छेज्जा तन्नो

छट्टुं अहवा दुवालसगं पायच्छित्तं हवेज्जा ! से भयवं ! समाणोवासगस्स पोससालाए पोसहिये पोसह बभयारी किं जिणधरे गच्छेज्जा ? हँता गोयमा ! गच्छेज्जा । से भयव केगट्टुणं गच्छेज्जा ? गायमा-नाणं दंसणं चरणट्टाए गच्छेज्जा । जे केइ पोसहसालाए पोसह बभयारी तओ जिणधरे न गच्छेज्जा तओ पायच्छित्तं हवेज्जा ? गोयमा ! जहा साहू तहा भणियव्वं छट्टुं अहवा दुवालसगं पायच्छित्तं हवेज्जा ।

अर्थ—हे भगवन् ! यथारूप श्रमण अथवा माहण-तपस्वी चैत्यघर अर्थात् जिनमंदिर जावे ? भगवन्त कहते हैं कि हे गौतम ! प्रतिदिन जावे । गौतम-हे भगवन् ! जिस दिन न जावे उस दिन क्या प्रायश्चित्त हो ? प्रमु-हे गौतम ! प्रमाद के वश से यथारूप साधु अथवा तपस्वी जो जिनमंदिर न जावे तो छठ (बेले) का अथवा दुवालस (पांच उपवास) का प्रायश्चित्त हो । गौतम-हे भगवन् ! श्रावक पौषधशाला में पौषध में रहा हुआ पौषध ब्रह्मचारी जिनमंदिर में जावे ? प्रमु-हां जावे । गौतम-क्यों जावे ? प्रमु-हे गौतम ! ज्ञान, दर्शन, चरित्र के अर्थ जावे ! गौतम-हे भगवन् ! जो कोई पौषध-शाला में रहा हुआ पौषध ब्रह्मचारी श्रावक जिनमन्दिर न जावे तो क्या प्रायश्चित्त हो ? प्रमु-हे गौतम ! जैसे साधु-तपस्वी को प्रायश्चित्त हो वैसे श्रावक पौषध ब्रह्मचारी को भी जानना ।

उपयुक्त विवरण से स्पष्ट है कि जैनागमों में जिनप्रतिमाओं, जैनमंदिरों की मान्यता, एवं तीर्थो-स्तूपों, गुहाओं की स्थापनाएँ तथा उनमें तीर्थंकर भगवन्तों की प्रतिमाओं की वन्दन, सत्कार, उपासना, पूजादि के संदर्भों की कमी नहीं है । 1-आंबिरति सम्यग् दृष्टि इन्द्र, नरेन्द्र, चक्रवर्ती, राजे-महाराजे, देव, दानव, देवियाँ, 2-देशविरति द्रोपदी आदि श्राविकार्ये, आनन्द, अम्बड जैसे श्रावक 3-सर्वविरति पांच महाव्रतधारी चारण मुनि अन्य साधु-साध्वी आदि सब ने जिनप्रतिमाओं की वन्दना, उपासना, सत्कार प्रतिष्ठाएँ तथा पूजा की हैं ।

जिन प्रतिमा पूजन से लाभ—

1. एवं कुणमाणण, एया दुरियक्खओ इह जम्मे परलोगम्मि य गौरव-भोगा परमं च निव्वानं ॥16॥

(हरिभद्रोय पूजाविधि विशिका)

अर्थ—इस प्रकार श्री तीर्थंकर भगवन्तों की पूजा के इस जन्म में पापों का क्षय करती है (और पुण्यानुबंधी पुण्य उपाजन करती है जिसके उदय से) इस भव और पर भव में गौरव और भोगों की प्राप्ति होती है । और अन्त में (सर्व कर्म क्षय रूप) परम निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त होता है ।

2. तम्हा जिणाण पूया, बुहेण सव्वापरेण कायव्वा ।

परमं तरंडमेसा, जम्हा संसार-जलहिम्भि ॥19॥

अर्थ—इसलिये विचक्षण बुद्धिमान विद्वान को मन-वचन-काया की उत्कृष्ट

भावना पूर्वक सर्वाङ्गर सहित श्री जिनदेवों की प्रतिमाओं की पूजा करनी चाहिये क्योंकि यह संसार रूप समुद्र को पार करने के लिये परम नौका रूप है।

3. श्री हरिभद्र सूरि ललितविस्तरा टीका में लिखते हैं कि —

पुष्प, नैवेद्य, स्तोत्र, प्रतिपत्ति (आत्म समर्पण) इन चार प्रकार की पूजाओं में यथोत्तर एक दूसरी का प्राधान्य है। देशविरत श्रावक को चारों प्रकार की पूजाएं करना चाहिए और सरागसंयमी सर्वविरत (पाँच महाव्रतधारी) साधु को स्तोत्र और प्रतिपत्ति नामक पूजाएं करना उचित है।

प्रतिमापूजन में संघट्टा

मूर्तिपूजा विरोधी एक तर्क यह भी करते हैं कि जिनेन्द्रदेव ने कहा है कि नर-मादा के परस्पर स्पर्श करने से चौथे ब्रह्मचर्य व्रत का मंग होता है। ऐसे स्पर्श को आगम की भाषा में संघट्टा कहते हैं। इसलिए जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा के पूजन में स्त्रियों के स्पर्श होने से संघट्टा लगता है इसलिये प्रतिमा के पूजन से चौथे व्रत का मंग होता है। (तेरापंथी जयाचार्य)

समाधान — सचेतन जीवित और मूर्ति-फोटो-चित्रादि में अन्तर है। सचेतन जीवित व्यक्ति ज्ञानादि उपयोगवान है और मूर्ति आदि चेतना रहित होने से उपयोग रहित है। जैनागमों में नर-मादा के संघट्टे का निषेध सदाचार-ब्रह्मचर्यादि की रक्षा के लिए किया गया है। क्योंकि कामविकार, राग-द्वेष, प्रमाद, अज्ञान, स्खलना आदि छद्मस्थ जीवित प्राणी में ही संभव है। चेतनारहित में अथवा मोहनीय आदि चार घाती कर्म रहित बीतराग सर्वज्ञ जीवित सचेतन तीर्थंकर-जिनेन्द्र में ऐसा संभव ही नहीं है। जीवित जिनेन्द्र से संघट्टे का निषेध व्यवहार नय से इसलिए किया गया है कि इसकी ओट में छद्मस्थ श्रमण-श्रमणियां सजीव संघट्टे को निर्दोष न मानें। परन्तु मूर्ति-चित्रादि के स्पर्श से यह दोष संभव नहीं। इसलिए प्रतिमाके स्पर्श से स्त्री तथा पुरुष को संघट्टे का दोष नहीं लगता।

यदि मूर्तिपूजा के विरोधी संघट्टा मानते हैं तो इन पन्थों के आचार्य, साधु, साध्वियां, ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारिणियां आदि भी नर-मादा मनुष्यों तथा पशु-पक्षियों के चित्रों आदि वाले ग्रन्थों, पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं को पढ़ते हैं, उन चित्रों को देखते भी हैं स्पर्श भी करते हैं। तब उसका संघट्टा क्यों नहीं मानते? उन की मान्यता के अनुसार उनके चौथे ब्रह्मचर्य व्रत का मंग क्यों नहीं मानते? इसलिए उनके इस आचरण से हो सिद्ध है कि मूर्ति-चित्रादि की संघट्टा मान्यता एकदम निराधार है।

10. जैनतर साहित्य और जिनप्रतिमा

1-आर्यसमाज मत प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती का कहना है कि विश्व

में सब से पहले मूर्तिपूजा का प्रारंभ जैनियों से ही हुआ है। अन्य घर्माबलम्बियों ने मूर्तिपूजा का अनुकरण जैनियों से ही किया है। (सत्यार्थ प्रकाश 12 वां सम्मुलास)।

पुरातत्त्व

2-सिंध देश में मोहन-जो-दड़ो, हड़प्पा; बलोचिस्तान, पश्चिमी पंजाब, कच्छ, पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत, अफगानिस्तान, सीराष्ट्र, राजपुताना आदि प्रदेशों में चन्द्रुदड़ों लोहुजदड़ो, कोहीरा नम्री, नाल, रोपड़, अलीमुराद सक्कर-जोदड़ो, काहु-जोदड़ो आदि भिन्न-भिन्न साठ स्थलों, सिंधु नदी तटवर्ती प्रदेशों, जेहलम और व्यास नदियों के प्रदेशों तक की विस्तृत भूमि की खुदाई से जिस प्राचीन संस्कृति की सामग्री प्राप्त हुई है, इस संस्कृति को पुरातत्त्वज्ञों ने सिन्धुघाटी की संस्कृति का नाम दिया है। इस के आधार पर बहुत पुरानी संस्कृति की जानकारी मिली है। इस संस्कृति को पुरातत्त्वज्ञों ने ईसा पूर्व 3000 वर्षों की स्वीकार किया है।

3-मोहन-जो-दड़ो से प्राप्त जैनों के प्रथम तीर्थंकर अर्हत् ऋषभ (आदिनाथ) की आकृतियों की मिट्टी की सीलें मिली है। (देखें चित्र पृष्ठ 84 पर)

4-हड़प्पा की खुदाई से, नग्न जैन तीर्थंकर की प्रतिमा का षड़ भी मिला है: यह मूर्ति पटना के समीप लुहानीपुरा की खुदाई से प्राप्त श्री ऋषमादेव की प्रतिमा के साथ मिलती जुलती है। जो कि बहुत प्राचीन है।⁹

5-मथुरा के कंकाली टीला के स्तूप तथा उसके आस-पास से प्राप्त जटाजूट वाली ऋषभदेव, पांच सर्पफाणों वाली सातवें तीर्थंकर श्री सुपाश्वनाथ, महावीर आदि तीर्थंकरों की अनेक पाषाण प्रतिमाएँ अखंडित-खंडित मिली हैं। इतिहासकारों का मत है कि यह स्तूप ईसा पूर्व 700 वर्ष में श्री पाश्वनाथ के समय में विद्यमान था। इस स्थान से ईसा पूर्वकाल से लेकर अनेक जैन प्रतिमाएँ, जैन शिलालेख आदि प्राप्त हुए हैं।

6-प्रभासपट्टन के भूमिखनन से प्राप्त एक प्राचीन ताम्रपत्र मिला है उसमें बेबीलोन के राजा नेबुचन्द्र नेजर के द्वारा सीराष्ट्र के गिरनार पर्वत पर स्थित नैमिनाथ के मंदिर के जीणोद्वार का उल्लेख है। बेबीलोन के राजा नेबुचन्द्र प्रथम का समय ई० पू० 1140 का है (यह श्री पाश्वनाथ के पहले हुआ।) द्वितीय का समय ईसा पूर्व 604 से 561 के लगभग कहा जाता है। (यह महावीर के केवलज्ञान से पहले हुआ)। दोनों में से किसी राजा ने अपने देश की उस आय को जो उसे नाविको के द्वारा कर से प्राप्त होती थी, जूनागढ़ के गिरनार पर्वत पर स्थित अरिष्ट-नेमि की प्रतिमा के पूजन के लिये प्रदान की थी। (यह मंदिर पाश्वनाथ से पहले का था)।

9. विशेष जानकारी के इच्छुक-हमारा ग्रंथ मध्य एशिया और पंजाब में जैनधर्म अवश्य पढ़ें।

7-पंजाब (वर्तमान में पाकिस्तान) में जेलहम नदी के दक्षिण तटवर्ती कटा-सराज्य के निकट मूर्तिगाँव (जिस का पहले नाम सिंहपुर था) में जैनमंदिरों के प्राचीन खंडों की खुदाई से प्राप्त जैनमूर्तियाँ आदि प्राचीन सामग्री को डा० स्टाइन ने लाहौर म्यूजियम में लेजाकर संग्रहित किया था। यह मूर्तियाँ ईसापूर्व की पुरातत्त्वज्ञों ने स्वीकार की हैं।

८-कांगड़ा आदि (हिमाचल प्रदेश) के अनेक नगरों में विद्यमान जैनमंदिरों के ध्वंसावशेषों से प्राप्त अनेक जैनमंदिर-प्रतिमाएँ मिली हैं जो ईसा पूर्वकाल से लेकर विक्रम की 15 वीं शती तक की हैं। कांगड़ा किले में महाभारतकालीन कटौचवंशीय राजा शिवशर्म ने आदिनाथ के जिनमंदिर की स्थापना की थी तथा उसके वंशज राजा रूपचन्द्र ने अपने राजमहल में चौबीस तीर्थंकरों की रत्नों की प्रतिमाएँ स्थापित कर जैनमंदिर का निर्माण किया था।

9-तक्षशिला—के खंडहरों से ईसापूर्व काल के समय की प्राप्त अनेक जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ पुरातत्त्वज्ञों ने प्राप्त की हैं।

10-उड़ीसा की खंडगिरि उदयगिरि की गुफा से प्राप्त जैन राजा खावेल का शिलालेख मिला है। उस में जैनमंदिरों तथा जिनप्रतिमाओं की स्थापित करने का उल्लेख है महामेघवाहन ने मगध के राजा नन्द पर युद्ध की चढाई कर विजय प्राप्त की और वहाँ से कलिंग-जिन (कलिंग से अपहृत करके श्री आदिनाथ भगवान की) प्रतिमा को कलिंग वापिस लाने का उल्लेख है। (यह शिलालेख ईसा पूर्व का है)

इसी प्रकार यत्र-तत्र सर्वत्र भारत तथा विदेशों में जैन मंदिरों, स्तूपों, प्रतिमाओं का प्राचीन काल से ही विद्यमान होने के प्रत्यक्ष प्रमाण विद्यमान है।

साहित्य-2

11-काश्मीर का इतिहास लेखक कवि कल्हण अपनी राजतरंगिणी में लिखता है कि—सत्यप्रतिज्ञ राजा अशोक ईसा पूर्व 1445 में काश्मीर के राज्य सिंहासन पर अरूढ़ हुआ। उसने जैनधर्म स्वीकार किया। कसबा विजवारह में इसने बहुत ही आलीशान और मजबूत जैनमंदिर बनवाये। शुष्कलेत्र तथा वितस्तात्र दोनों नगरों को इसने जैन-स्तूप मंडलों से आच्छादित कर दिया। अपने राज्य के अनेक नगरों में जैनमंदिरों का निर्माण किया जिन में से विस्तात्रपुर के धर्मारण्य विहार में इतना ऊँचा जैनमंदिर बनवाया था कि जिस की ऊँचाई देखने के लिये आँखें असमर्थ हो जाती थीं।

12-राजा जलोक—सत्यप्रतिज्ञ अशोक का पुत्र था यह भी अपने पिता के समान जैनधर्मी था। इस ने भी जैनधर्म का प्रचार-प्रसार खूब किया और काश्मीर में अनेक जैनमंदिरों का निर्माण भी किया।

13-राजा जैनेह—यह सत्यप्रतिज्ञ अशोक का भतीजा था। यह भी दृढ़ जैन धर्मी था और इस ने भी अनेक जैनमंदिरों का निर्माण किया।

14-राजा ललितादित्य—यह दृढ़ जैन धर्मानुयायी था। जैनधर्म का प्रचार और जैनमन्दिरों, विशाल जैनमूर्तियों का निर्माण कराकर स्थापनाएँ कीं। एक जैन मूर्तियों युक्त विशाल जैन राजविहार का निर्माण किया। इस मन्दिर के निर्माण में इस ने चौरासी हजार तोले सोने का उपयोग किया था (कल्हण राजतरंगिणी 4 : 200) 54 हाथ (81 फुट) ऊँचे जैनस्तूप का निर्माण करवा कर उस पर गरुड़ की प्रतिमा की स्थापना की (गरुड़ जैनों के प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव की शासनदेवी चक्रेश्वरी की सवारी है) (तरंग 4 राजतरंगिणि-कल्हण)

15-चंकुन मन्त्री—यह भी जैन धर्मानुयायी था। इस ने तुखार में जैनमंदिर बनवाया था। चंकुन-विहार में एक उन्नत जैनस्तूप का निर्माण कराकर उस में जिनेन्द्र भगवान की स्वर्णमयी प्रतिमाओं की स्थापना की थी (कल्हण 4:211)।

16-राजा कथ्य—(लाढ़ देश का मांडलीक) कथ्य राजा ने कथ्य स्वामी का एक अद्भुत जैनमन्दिर बनवाया था। (नं० 11 से 15 तक काश्मीरराज्य के शासक थे)

17-कलिगाधिपति चक्रवर्ती महामेघवाहन खारवेल के राज्य का विस्तार उड़ीसा से काश्मीर तक था, उस के वंशजों ने चार पीढ़ियों तक राज्य किया था। चार पीढ़ियों में अन्तिम शासक इस का प्रपौत्र राजा प्रवरसेन था यह विक्रमादित्य का समकालीन था। इन सब लोगों ने अपने सारे राज्य में जैनमन्दिरों-प्रतिमाओं की स्थापनाएँ की थीं। (कल्हण राजतरंगिणि 3:105, 106)

18-महात्मा गौतम बुद्ध सबसे पहले अपने धर्म का उपदेश देने के लिए जब राजगृह नगर में आये तब वहाँ जैनों के सातवें तीर्थंकर सुपाश्वनाथ के मन्दिर में ठहरे थे। महावग्ग बौद्ध ग्रन्थ 1, 22-23 में लिखा है कि सुप्पतित्थ (सुपाश्वनाथ के तीर्थ) राजगृही में ठहरे। इससे यह स्पष्ट है कि गौतम बुद्ध से पहले भी जैनमन्दिर और जिनप्रतिमाओं की स्थापनाएँ तथा उनमें पूजा होती थी।

19-विक्रम की पांचवीं-छठी शताब्दी में पावंतीपूर और स्यालकोट (पंजाब) में हूण सम्राट तोरमाण ने अपने राज्य में अनेक जैनमन्दिरों का निर्माण कराया था। (कुवलयमाला)

12-परमार्हन्त् सम्राट सम्प्रति मौर्य (राज्यकाल ई०पूर्व 224 से 184)

सम्राट अशोक मौर्य के पौत्र सम्राट सम्प्रति मौर्य ने भारत तथा भारत से बाहर अन्य देशों में सवा लाख नये जैनमंदिरों का निर्माण कराया, सवा लाख जैन प्रतिमाओं का निर्माण कराकर मन्दिरों में स्थापित किया। तेरह हजार पुराने जैन मन्दिरों का जीर्णोद्धार (मुरमत) कराया, अनार्य देशों में भी जैनधर्म का प्रचार तथा सैकड़ों जैनमन्दिरों की स्थापनाएँ कीं। तथा दानशालायें पौषधशालायें स्थापित कीं।

20-महामात्य वस्तुपाल-तेजपाल—(वि० सं० 1275 से 1303)

वस्तुपाल-तेजपाल दोनों सगे भाई थे। वे प्राग्वाट ज्ञातीय जैनधर्मानुयायी थे। घोलका के राजा वीरधवल के राज्य के वस्तुपाल महामंत्री और तेजपाल सेनापति थे। इन दोनों भाइयों ने राज्य का खूब विस्तार करके समृद्ध और सुदृढ़ किया तथा सारी प्रजा के लिए बहुत उपकार के कार्य किये।

इन्होंने 1304 नये जैनमन्दिरों का निर्माण कराया, सवा लाख जिनप्रतिमाएँ बनवाईं जिनमें पाषाण, धातु, स्वर्ण, चाँदी और रत्नों की प्रतिमाएँ शामिल हैं। इनके द्वारा निर्मित कराये गये आबू देलवाड़ा के जैनमन्दिर तो विश्व में उत्तम कला का एक आदर्श हैं। 700 शिल्पकला के आदर्श नमूने के हाथीदांत के सिंहासन-मन्दिरों के लिए बनवाये। धर्मसाधना के लिए 984 धर्मशालाएँ, पौषशालाएँ, उपाश्रय बनवाये। 26000 पुराने जैनमन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया, 2500 श्रावकों के घरों में चैत्यालय बनाकर दिये। 24 हाथीदांत पर कारीगरी के सुन्दर रथ तीर्थंकर भगवन्तों की रथयात्रा के लिए जैनमन्दिरों को दिये। शत्रुजय, आबू, गिरनार इन तीनों जैनतीर्थों में एक-एक तोरण बनवाकर दिया। प्रत्येक पर तीन-तीन लाख सोना मोहरें खर्च आया। उन्नीस करोड़ रुपया के खर्च से ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियाँ लिखवाकर जैन शास्त्र भंडार स्थापित किये। 2500 काष्ठ के रथ बनवाकर जैनमन्दिरों में दिये। 1304 हिन्दू मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया जिन में सोमनाथ का शिवमन्दिर तथा मुलतान (पंजाब) का प्रसिद्ध सूर्यमन्दिर भी शामिल हैं। 21 जैन महामुनियों को महोत्सव पूर्वक आचार्य पदवियाँ दिलायीं। 3 जैन शास्त्रभंडारों की स्थापनाएँ कीं। 302 हिन्दुओं के अनेक संप्रदायों के नये मन्दिर बनवाये। 64 मस्जिदें मुसलमानों को बनवाकर दीं। सार्वजनिक दानशालाएँ, प्याऊ, धर्मशालाएँ आदि अनेकानेक धर्म कार्य किये इत्यादि।

21-22-पेथड़शाह, और सोलंकी महाराजा परमार्हत् कुमारपाल आदि अनेकों महानुभावों ने जैनमन्दिरों तथा जैनप्रतिमाओं की स्थापनाएँ कीं। पेथड़शाह ने तो 84 जैनमन्दिर भारत के भिन्न-भिन्न नगरों में बनवाये।

यहाँ तो अति संक्षिप्त विवरण दिया है। इससे स्पष्ट है कि प्रागैतिकहासिक काल से जैनो में जिनप्रतिमा पूजन एवं जैनमन्दिरों-तीर्थों के निर्माण की पद्धति विद्यमान थी, जो आज तक चली आ रही है। आज भी सारे देश में जैनमन्दिरों का विस्तार है।

सारांश यह है कि प्रागैतिहासिक काल से ही जिनप्रतिमाओं जैनमन्दिरों की विद्यमानता थी और उनमें पूजा उपासना के प्रमाण भी सब दिये जा चुके हैं। हम आगे पूजापद्धति पर प्रकाश डालेंगे। जैन परम्परा में श्वेतांबर-द्विगम्बर दोनों परम्पराएँ समान रूप से जिनप्रतिमाओं की पूजा, उपासना करते हैं। अतः दोनों की पूजा पद्धति के विषय में यहाँ विचार करेंगे।

उत्खनन से प्राप्त श्वेताम्बर जनों द्वारा स्थापित ईसा पूर्व की जिन प्रतिमाएं

1



श्री ऋषभदेव चारमुष्टि लोच सहित

2

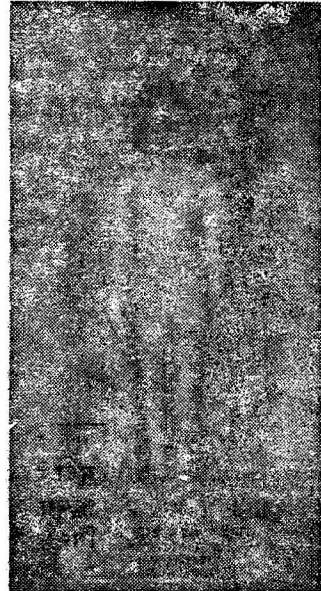


तीन तीर्थी जिन प्रतिमा नीचे दो मुनि
मुहपत्ति पड़िलेहन करते हुए

3



श्री ऋषभदेव अन्य 23 तीर्थकरों के साथ



तीर्थकर की कच्छोटवाली प्रतिमा

5



महावीर की जीवित स्वामी प्रतिमा

6



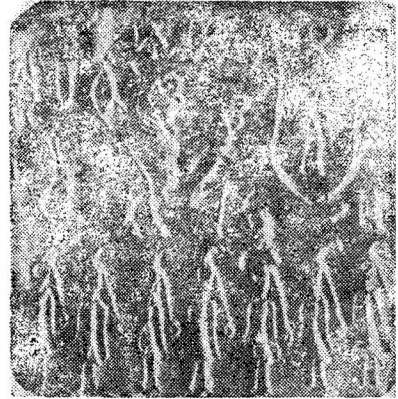
सिर पर जटाजूट केशों सहित
श्री ऋषभदेव

7



महावीर जीवितस्वामी प्रतिमा

8



पाँच हजार वर्ष पुरानी जिनप्रतिमा

मोहन-जो-दड़ो के उत्खनन से प्राप्त महत्वपूर्ण मुद्रा में चार मुष्टि लोच, सिर पर जटा-जूट-केश, नग्न ऋषभदेव ध्यानमुद्रा में। सिर पर त्रिशूल रत्नत्रय के चिन्ह, अशोक वृक्ष भक्तों को फलदाता प्रतीक। करबद्ध भरत चक्रवर्ती नमस्कार करते हुए। उनके पीछे ऋषभदेव का चिन्ह बैल, नीचे की पंक्ति में अन्य सहयोगी जैन मुनि श्रेणी बद्ध खड़े हैं।

पांचवां प्रकाश

जिन प्रतिमा पूजन-पद्धति

संबोधप्रकरण में देवपूजा के अधिकार में जैनाचार्य श्री हरिभद्र सूरि लिखते हैं—

तम्हा जिन सारिच्छा जिणपडिमा सुद्ध जोय-कारणया ।

गढ्भत्तिए लढ्भए जिणंद पूया फलं भववो ॥1॥

जम्हा जिणाण पडिमा अप्प परिणाम दंसणनिमित्तं ।

आयंस मंडलाभा सुहासुहं क्षाण-दिट्ठिए ॥2॥

सम्मत्त-सुद्धकरणो जणणी सुह जोग सच्च पहवाणं ।

निह्लिणी दुरियाणं भवदव ड्ज्भ भवियाणं ॥3॥

आरंभ पसत्ताणं गिहीण छज्जीव-वह विरयाणं ।

भव अडवीं निबडियाणं दव्वत्थओ च्चव आलंबो ॥4॥

जिणपूअणं ति-सभं कुणमानो सोहएइ सम्मतं ।

तित्थयर-नामगुत्तं पावइ सेणिय नरिद व्व ॥5॥

जो पूएइ ति-सभं जिणदरायं सया विगय दोसं ।

सो तइए भवे सिज्भइ अहवा सत्तट्टमे जम्मे ॥6॥

भावायं—शुभ योग में कारणभूत होने से जिनप्रतिमा भी जिन के समान ही है। अतः [उमे साभात् जिनेश्वर प्रभु मानकर] उसकी भक्ति से पूजा करने से भव्यात्मा को साक्षात् श्री जिनेन्द्रदेव की पूजा का ही फल प्राप्त होता है। (1) परिणाम विगुद्धि केलिए शुभाशुभ ध्यान की दृष्टि से जिनप्रतिमा स्वच्छ दर्पण से समान है। (2) यह सम्यक्त्व को निर्मल करने वाली सत्यप्रभव शुभ योग की जननी है (3)-संसार रूप दावानल से दग्ध भव्यजीवों के पापों का नाश करने वाली है (4) भव रूप संसार अटवी में भटकने वाले और षट्काय की हिंसा के आरम्भ में आसक्त ऐसे गृहस्थों केलिए यह द्रव्य स्तव अर्थात् श्री जिनेश्वर प्रभु की द्रव्य पूजा ही आलम्बन-भूत है (5) इसलिए निरन्तर तीनकाल (प्रातः, मध्याह्न, सायं) श्री जिनेश्वरदेव की पूजा करनेवाले श्रेणिक राजा की तरह जो श्रद्धालु गृहस्थी जिनेन्द्रदेव की पूजा करता है वह सम्यक्त्व को निर्मल करता है और तीर्थंकर नाम कर्म को बाधता है। (6) जो सर्वदोष रहित श्री जिनेश्वरदेव के प्रतिबिंब की भाव सहित पूजा करता है वह तीसरे भव अथवा सातवें आठवें जन्म में सिद्ध गति मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

इस समय जैन समाज अनेक शाखाओं-उपशाखाओं में विभक्त है। मुख्य रूप से दो शाखाएँ हैं; श्वेताम्बर और दिगम्बर (1) श्वेतांबरों में 1 श्वेतांबर मूर्ति-पूजक 2 स्थानकवासी, 3- तेरापंथी। (2) दिगम्बरों में 1- बीसपंथ 2-तेरहपंथ 3- तारणपंथ 4-गुमानपंथ 5- तोतापंथ 6-सागरपंथ 7- काहनपंथ। इनमें से बीस-

पंथ, तेरहपंथ, तारणपंथ और काहन (कानजी का) पंथ वर्तमान में विद्यमान हैं। श्वेतांबरों में स्थानकवासी ढुंढिये और तेरापंथी एवं दिगम्बरों में तारणपंथी ये तीन पन्थ मुर्तिपूजा के विरोधी हैं। ये तीनों पन्थ जिनेश्वर प्रभु की प्रतिमा नहीं मानते इसलिए इन का पूजा पद्धति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। ये तीनों पन्थ आज से दो सौ से तीन सौ वर्षों के बीच में स्थापित हुए हैं। यहां तो जिनप्रतिमा पूजन के विधि-विधानों सम्बन्धी विचार करना है। अंतः मूर्तिपूजक श्वेतांबर तथा दिगम्बर बीसपंथी-तेरह पन्थी ये तीनों आम्नाएं जिनप्रतिमा को तीर्थकरदेव मानकर उस की पूजा उपासना करती हैं। श्वेतांबर-दिगम्बर पूजापद्धति में समानता होते हुए भी, इसमें विषमता पैदा करके अनाड़ी लोग जैनसंघ में विषेली विषमता उत्पन्न कर राग-द्वेष की अग्नि को बढ़ावा देकर कर्मबन्धन कर रहे हैं और जैनसंघ में फूट डालकर सघ विभाजन के महान् दुष्कृत से भविष्य में दुर्गति के पात्र बन रहे हैं। अतः यहाँ पर तीनों की पूजा पद्धतियों का अवलोकन करना आवश्यक प्रतीत होता है।

1-श्वेतांबर जनों की पूजापद्धति—

(1) वाचक श्री उमास्वाति ने अपने श्रावकाचार में —इक्कीस प्रकार की पूजा का विधान लिखा है।

स्नान-विलेपन-विभूषित-पुष्प-धास। दीपैः प्रधूप-फल-तन्दुल-पत्र-पूंगैः ॥

नैवेद्य-चारि-वसनैश्चामर-रातपत्र। वादित्र गीत-नृत्य-स्वस्तिकोष-दुर्वा ॥१॥

इत्येकविंशति-विधा-जिनराज-पूजा चान्यत् प्रियं तदीह भाववशेन योज्यम् ॥”

अर्थात्-1-स्नान, 2-विलेपन, 3-पुष्प, 4-वास (चन्दन, केसर, कपूर आदि) 5-दीप, 6-धूप 7-फल, 8-चावल, 9-पत्र, 10-सुपारी, 11-नैवेद्य (पक्वान्न), 12-जल, 13-वस्त्र, 14-चामर, 15-छत्र, 16-वाजित्र, 18-गीत, 18-नाटक, 19-स्वस्तिक, 20-कोष (भण्डार) 21-दुर्वा। यह इक्कीसप्रकार की श्री जिनराज की पूजा करें तथा और भी जो प्रिय हो शुद्धभावों से पूजन की योजना करें।

चैत्यचन्दन महाभाष्य में सर्वोपचारी पूजा का स्वरूप—

सव्वोवयार जुत्ता ष्हाण-उच्चण-नट्ट-गीय-माईहि ।

पव्वाइसु कीरइ निच्चं वा इड्ढिमंतेहि ॥

धय बुद्ध दहि य गंधोदयाइ ष्हाण पभावणाजणगं ।

स इ गीय-वाइयाइ संयोगे कुणइ पव्वेसु ॥

अर्थात्-सर्वोपचार युक्त पूजा-1-स्नान, 2-विलेपन, 3-नाटक, 4-गीत आदि से होती है, अथवा गृहस्थों द्वारा प्रतिदिन की जाती है। सर्वोपचारी पूजा धी-दूध-दही, सुगंधित जल से अभिषेक (स्नान) द्वारा स्नात्र महोत्सव प्रभावजनक बनता है। यह पूजा गीत, वाजित्रों आदि सहित पर्व दिनों में की जाती है।

जिनपूजा के अनेक प्रकार शास्त्र में बतलाये हैं।

(3) 1-अधिक सामग्री के अभाव में अक्षतों से पूजा-एक प्रकार की पूजा।

2-पुष्प, स्वस्तिक आदि किसी भी एक प्रकार की पूजा के साथ चैत्यवन्दन स्तवन करना, यह द्रव्य और भाव से दो प्रकार की पूजा ।

3-पुष्प, नैवेद्य, स्तवन । अथवा पुष्प, अक्षत, स्तुति से त्रिविध पूजा ।

4-विघ्नोपशमिनी (विघ्ननिवारणी), अभ्युदय प्रदायिनी (उन्नति दायिनी), निर्वर्णदायिनी (मुक्तिदायिनी) यह भी त्रिविध पूजा है ।

5-समंतभद्रा, सर्वमंगला, सर्वसिद्धि यह भी त्रिविध पूजा है ।

6-तामसी, राजसी, सात्विकी के भेद से भी त्रिविधा पूजा होती है ।

7-पुष्प, नैवेद्य, स्तुति और प्रतिपत्ति (प्रभू-आज्ञा-पालन), यह चतुर्विध पूजा ।

8-गंध, धूप, अक्षत, पुष्प, दीपक, यह पंचोपचारी पूजा है ।

9-गंध, धूप, अक्षत, पुष्प, दीप, नैवेद्य, फल, जल यह अष्टप्रकारी पूजा है ।

10-विलेपन, वस्त्रधुगल, पुष्पारोहण, माल्यारोहण, गंधारोहण, चूर्णारोहण, क्षणारोहण, वस्त्रारोहण, आभरणारोहण, पुष्पगृह, पुष्पप्रकर, अष्टमंगलालेखन, धूप और अष्टोत्तरशत काथ्य द्वारा स्तुति यह चौदह प्रकार की आगमोक्त प्राचीन पूजा है ।

11-अष्टोत्तर-शताभिषेक, अष्टोत्री स्नात्र, साँतिस्नात्र, अर्हदभिषेक आदि और भी अनेक पूजाओं का विधान है ।

12-स्नात्रपूजा-तीर्थकर के च्यवन और जन्म कल्याणक की पुजा ।

(4) पूजा के अन्य भेद और उसके अधिकारी ।

पुष्पा देवस्स दुहा विन्नेया दव्व भाव भेएण ।

इयरेयजुत्ता वि ह्व तत्तेण पहाण-गुण-भावा ॥1॥

पढमा गिहिणो सो वि ह्व तथा तथा भाव भेयओ तिविहा ।

काय-वय-मण-विसुद्धि-संभुओ गरण परिमेया ॥2॥

सव्व-गुणाहिग-विसयो नियमुत्तम-वत्थु-दाण परिओ यत् ।

कायकिरिय-प्पहाणा समंतभद्दा पढमं पुष्पा ॥3॥

बीया उ सव्वमंगल नामो वाय किरिया पहाणे सा ।

पुव्वुत्त विसय वत्थुसु, ओच्चित्ताणयण भेएण ॥4॥

तइआ परतत्तगया सव्वुत्तमवत्थु माणसनिओगा ।

सुद्धमण-जोग सारा विन्नया सव्वसिद्धि पुफला ॥5॥

अर्थात्-1-जिनेश्वरदेव की पूजा द्रव्य और भाव द्वारा दो प्रकार की है ।

यद्यपि द्रव्य-भाव अन्योन्य युक्त (एक दुसरे से सम्बन्धित) है तो भी प्रधान गौण भाव से दोनों भिन्न हैं । प्रथम पूजा में द्रव्य की प्रधानता है दूसरी पूजा में द्रव्य गौण बन जाता है परन्तु भाव प्रधान हो जाता है । इसलिये दोनों पूजाएँ जुदा मानी हैं । प्रथम द्रव्य पूजा गृहस्थ के योग्य है ।

2-वह भी तथा प्रकार के भाव भेदों से तीन प्रकार की है । कायिक, चायिक और मानसिक विशुद्ध संसृत उपकरणों के भेद से । इसमें काय-प्रवृत्ति-प्रधान

प्रथम पूजा के अधिकारी सर्वाधिक होते हैं। इस पूजा में अपनी उत्तम वस्तु देकर अर्पण करके अपनी संतुष्टि करने की भावना मुख्य होती है। इस पूजा में शारीरिक प्रवृत्ति की प्रधानता होती है। इस पूजा का नाम समंतभद्रा है। दूसरी पूजा का नाम सर्वभंगला है। यह पूजा वचन क्रिया प्रधान होती है। प्रथम पूजा में अर्पण की हुई वस्तुओं के औचित्य का विचार कर दूसरों के द्वारा मंगवाकर उन का पूजा में प्रयोग करना। इस भेद से पहली से यह पूजा जुदी है। तीसरी द्रव्य पूजा का नाम सर्वसिद्धि फला है। इस पूजा में उत्तम तत्त्व का चिंतन किया जाता है। इस में पूजा योग्य सर्वोत्तम वस्तु की गवेषणा में मन को जोड़ा जाता है। इस पूजा में शुद्ध मनोयोग की प्रधानता होती है। तीसरी मानसिक पूजा सब प्रकार के सिद्धिफल को देनेवाली होती है। इस पूजा में कायिक और वाचिक प्रवृत्तियाँ बन्द हो जाती हैं और मानसिक श्रुभ और शुद्ध भावनाओं की प्रधानता होती है।

(5) श्रावकाचार में लिखा है कि

प्रभाते प्रथमं वास-पूजा कार्या विचक्षणैः ।
 मध्याह्ने कुसुमैः पूजा संध्याय धूप दीप युक् ॥1॥
 वामांगे धूपदाहश्च, नैवेद्यं कुर्यात् सन्मुखं ।
 अर्हतो वक्षिणे भागे दीपस्य च निवेशनम् ॥2॥

विचक्षणों को दिन में तीन समय पूजा करनी चाहिए। प्रभात-प्रातः काल के समय वासक्षेप से, दोपहर को पुष्पों से, संध्या समय दीपक-धूप से। अर्हंत भगवान की बाईं तरफ धूपदानी, सन्मुख नैवेद्य, और दाहिनी तरफ दीपक रखें।

(6) पूजा में प्रायः पुष्पों से पूजा का अवश्य विधान है, उन फूलों के लिए शास्त्रकार फरमाते हैं कि :—

आचार्य रविषेण कृत पद्मचरित्र में पुष्प पूजा
 समोदंभुं जलोद्भूतैः पुष्पर्यां जिनमर्चति ।
 विमान पुष्पकं प्राप्य स श्रीडति यथोप्सितम् ॥159॥

अर्थात्-जल में उत्पन्न होने वाले और पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाले सुगन्धित ताजे पुष्पों से जो जिनेश्वर प्रभु की पूजा करता है। वह पुष्पक देवविमान प्राप्तकर यथेच्छ क्रीड़ा करता है।

(7) सब तरह की पूजाएँ मुख्य रूप से तीन प्रकार से होती हैं—

अंग-अंग-भाव-भेदा, पुष्पाहार-शुद्धि पूय-तिगं ।
 पंचोवयारा अट्टोवयारा सवोवयारा वा ॥10॥

अर्थात्-1-अंग पूजा (प्रतिमा के शरीर पर चढ़ाने वाले द्रव्यों से पूजा) पुष्पों से 2 अग्र पूजा (प्रतिमा के आगे रखने वाले द्रव्यों से पूजा) नैवेद्य से 3-भाव पूजा प्रभु के सम्मुख मात्र चैत्यवन्दन, स्तुति; स्तोत्रों, नृत्य आदि से पूजा करना। इस तीन प्रकार की पूजा में से अंग और अग्रपूजा का द्रव्य पूजा में

समावेश है। तीसरी भाव पूजा है। इस प्रकार प्रभु की मुख्य रूप से द्रव्य और भाव से पूजा दो प्रकार से की जाती है। तथा पंचोपचारी, अष्टोपचारी, सर्वोपचारी पूजाओं की अपेक्षा से भी तीन प्रकार की कही है। इनमें से श्रावक अपने सामर्थ्य-शक्ति तथा समय की अनुकूलता के अनुसार कोई एक पूजा प्रतिदिन अवश्य करें।

(8) सब पूजापद्धतियों में तीर्थंकर के पाँचों कल्याणकों की पूजा का समावेश।

1-स्नात्र पूजा में चौदह महास्वप्नों के उच्चारण तथा शक्रस्तव से च्यवन (गर्भ) कल्याणक पूजा। 2-स्नान विलेपन, राखी, दीप, दर्पण, पंखे आदि से जन्म कल्याणक की पूजा 3-स्नान, सुगन्धि, विलेपन, कुण्डल, मुकुट, मालाओं आदि से अनेक प्रकार के अलंकारों से सुसज्जित करके आंगी आदि की रचना तथा प्रभु की रथयात्रा से जन्म कल्याणक और दीक्षा कल्याणक पूजा यानी दीक्षा निष्क्रमण समय प्रभु चक्रवर्ती के वेश में तथा जन्म के समय इन्द्रों द्वारा मेरुपर्वत पर किये गये अभिषेक, वस्त्र, अलंकारों पुष्पों, पुष्पहारों आदि से की गई पूजा। दीक्षा लेने पर इन्द्र द्वारा दिया गया प्रभु के वाम कन्धे पर देवदूष से वस्त्र पूजा। दीक्षा कल्याणक के वरघोड़े के समय धूप घटिकाएँ, शंख, घडियाल, वाजित्र, इन्द्र ध्वजा आदि द्वारा पूजा दीक्षा कल्याणक पूजा 4-केवलज्ञान कल्याणक में-आठ प्रतिहार्य-यथा-अशोक वृक्ष, पाँचवर्ण के संचित सुगन्धित पुष्पवृष्टि, चामर, भामंडल, स्वर्ण रत्न जडित सिंहासन, देवदुंदभि वाजित्र, छत्रत्रय से पूजा। समवसरणरूप जिनमन्दिर में प्रभु प्रतिमा की प्रतिष्ठा, ध्वजा, धूप, दीप, नैवेद्य आदि से पूजा। केवलज्ञान के बाद विहार के समय इन्द्र ध्वजा, धर्मचक्र, अष्टमंगल प्रभु के आगे चलते हैं तथा विहार में प्रभु के चलने के लिए धरती पर देवताओं द्वारा नौ स्वर्णकमलों की रचना से केवली पूजा।

इस प्रकार (1) स्नात्र पूजा-च्यवन (गर्भावतरण) तथा जन्म कल्याणक की पूजा। (2) स्नान, सुगन्धित द्रव्यों से प्रभु के शरीर पर विलेपन मुकुट कुण्डल आदि अलंकार तथा आंगी एवं रथयात्रा धूप-दीप, शंख घोंडियाल पुष्प-वृष्टि, पुष्पहार इन्द्रध्वजा आदि सब दीक्षा लेने के निष्क्रमण समय की पूजा सामग्री है (3) दीक्षा लेने पर वस्त्र पूजा का देवदूष से समावेश दीक्षा कल्याणक पूजा में है।

तथा (4) आठ प्रतिहार्य नैवेद्य, पुष्पपूजा, स्वर्ण आदि पुष्पों से पूजा का समावेश द्रव्य पूजा में हो जाता है।

(5)-निर्वाण कल्याणक—के बाद तीर्थंकर शरीर रहित हो जाते हैं इसलिए उनके शरीर सम्बन्धी पूजा का प्रयोजन नहीं रहता अतः इस अवस्था की अपने उत्कृष्ट भावों से प्रभु की स्तुति, स्तवन, चैत्यवन्दन, नृत्य गान आदि द्वारा पूजा का समावेश है।

यह सारी सामग्री सर्वोपचारी पूजा पद्धति में विस्तार पूर्वक आ जाती है।

और संक्षिप्त रूप से पंचोपचारी, अष्टप्रकारी पूजा पद्धति में पाँचों कल्याणकों की पूजा का समावेश है।

पंचोपचारी पूजा में पुष्प, अक्षत, गंध, धूप, दीपक ये पांच द्रव्य काम में लिये जाते हैं।

यहाँ अंग पूजा में मात्र पुष्प पूजा कही है मिट्टी, बालू, काष्ठ, हाथीदाँत से बनी भूतियाँ तथा कागज, वस्त्र आदि से बने चित्रों की पूजा में स्नान-विलेपन नहीं करना चाहिये क्योंकि गीले हो जाने से ये खराब अथवा समाप्त हो जाते हैं। इसलिए यहाँ पुष्पों से ही अंग पूजा कही है। बाकी के चार द्रव्य अग्र पूजा में लिए जाते हैं।

अष्टोपचारी (अष्टप्रकारी) पूजा-पाषाण, धातुआदि प्रतिमाओं की की जाती है। जल, चन्दन (विलेपन तिलकादि) पुष्प (छूटे फूल तथा पुष्पमाला) इन तीनों द्रव्यों से अंग पूजा। धूप, दीप अक्षत, नेवद्य, फल (आरती, मंगलदीपक) इन पाँचों से अग्र पूजा की जाती है।

(9) — पूजापद्धति में तीर्थंकर की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं की भावना

“भाविज्ज अवत्थ-तियं, पिंडत्थ-पयत्थ रुवरहियत्तं ।

छउमत्थं-केवलित्तं, सिद्धत्तं चैव तस्सत्थो ॥1॥

पहवण-च्चगेहि छउमत्थं, वत्थपडिहारगेहि केवलियं ।

पलियंकुसर्गेहि अ, जिणस्स भाविज्ज सिद्धत्तं ॥2॥

अर्थ—पूजा के समय प्रतिमा की द्रव्यों से पूजा करते समय तीन अवस्थाओं की भावना करें। 1—पिंडस्थ, 2—पदस्थ, 3—रूपातीत।

1—पिंडस्थ से छद्मस्थावस्था, 2—पदस्थ से केवली अवस्था और 3—रूपातीत से सिद्धावस्था का विचार करें।

1—प्रतिमा को देखकर स्नान तथा गंध विलेपन से छद्मस्थावस्था, 2—प्रतिमा के परिकर में रचित आठ प्रतिहार्यों द्वारा केवली अवस्था तथा 3—पर्यंकासन एवं खड़ी कायोत्सर्ग मुद्रा द्वारा श्री जिनेश्वर की अरूपी सिद्धावस्था की भावना करें।

पिंडस्थ—तीर्थंकरदेव की तीर्थंकर पदवी पाने से पहली अवस्था यह तीन प्रकार की है। 1—जन्मावस्था, 2—राज्यावस्था, 3—श्रमणावस्था। इन तीनों अवस्थाओं में भगवान् छद्मस्थ-असर्वज्ञ होते हैं।

2. पदस्थ—तीर्थंकर पदवी, जब प्रभु केवलज्ञान प्राप्त करते हैं तभी प्राप्ति होती है। अतः यहाँ पदस्थ अवस्था यानी केवलज्ञान प्राप्ति से निर्वाण पाने तक।

रूपातीत—रूप रहित अवस्था—यह अवस्था प्रभु जब निर्वाण पाकर सिद्ध हो जाते हैं तब होती है। रूप अर्थात् वर्ण, गंध रस और स्पर्श तथा शरीर से रहित केवल अशरीरी अवस्था में आत्मस्वभाव में अवस्थान।

(10) प्रभु की प्रतिमा को देखकर उनकी पाँच अवस्थाओं की भावना।

1. जन्मावस्था—प्रभु प्रतिमा के परिकर में अंकित होती है। परिकर में

प्रभु के मस्तक पर हाथी पर बैठे हुए और हाथों में कलसे लेकर देवों के आकार बने होते हैं ।

यानो देवता प्रभु का जन्माभिषेक करा रहे हैं । इन आकारों को ध्यान में रखकर जन्मावस्था की भावना करें । तथा स्नानादि से जलाभिषेक पूजा करते समय भी जन्मावस्था की भावना करें ।

2. राज्यावस्था—इसी परिकर में हाथों में पुष्पों की माला धारण किये देव बने होते हैं । इसे ध्यान में लेकर राज्यावस्था की भावना करना । पुष्प-माला तथा आभूषणादि ये राजभूषण हैं । पुष्प पूजा तथा अलंकार पूजा करते समय भी राज्यावस्था की भावना करें । उस समय राज्यावस्था को लक्ष्य में लेते हुए दीक्षा लेकर चक्रवर्ती अथवा मांडलिक राज ऋद्धि सर्व परिग्रह के त्याग की भावना करना । यानी तीर्थंकर कोई साधारण समृद्धि वाले नहीं थे वे अपरिमित भोगोपभोग रूप राज्यलक्ष्मी का त्याग कर परिग्रह त्याग के एक महानादर्श को स्वीकार कर आत्मकल्याण के पथगामी बने हैं । ऐसी भावना करना ।

3. श्रमणावस्था—प्रभु प्रतिमा का मस्तक तथा दाढ़ी मूँछ का भाग केश-रहित है । इसको ध्यान में रखते हुए श्रमणावस्था की भावना करें । प्रभु जब दीक्षा लेते हैं तब पंचमुष्टि लोच करते हैं । तदुपरान्त भवपर्यन्त दीक्षा लेते समय लोच करने से जैसे होते हैं वैसे ही रहते हैं, बाद में उनके नख और केश बढ़ते नहीं हैं । यही केश लुचित अवस्था प्रभु की श्रमणावस्था का बोध कराती है ।

4. केवली अवस्था—इसी परिकर में कलशधारी देवताओं के दोनों तरफ अंकित पत्रों (पत्तों) के आकार होते हैं । 1-यह अशोक वृक्ष, 2-मालाधारी देवों द्वारा पुष्पवृष्टि, 3-वोणा और बांसुंगी बजाते हुए देवों के आकारों द्वारा दिव्य-ध्वनि, 4-मस्तक के पिछले भाग में रहा हुआ तेज की राशी को सूचित करनेवाला किरणों वाला कांतिमान गोलाकार भामंडल, 5-प्रभु के मस्तक पर निर्मित तीन छत्र, 6-इन छत्रों के ऊपर भेरी बजाते हुए देवों के आकार देवदुंबुभि, 7-प्रभु के अगल-बगल दो चंवर डोलानेवाले देवों के आकार, 8-तथा सिंहासन जिस पर प्रतिमा विराजमान रहती है । ऐसे ये आठ प्रातिहार्य अवश्य परिकर में होते हैं । ये केवलज्ञान से निर्वाण पर्यन्त सदा प्रभु के होते हैं । इन्हें देखकर तीर्थंकर पद की भावना करना ।

5. रूपातीतावस्था—सब तीर्थंकर पर्यकासन (पद्मासन) अथवा खड़े कायोत्सर्ग मुद्रा में रहते हुए निर्वाण प्राप्त करने हैं । मोक्ष पाते हैं : इसी लिए तीर्थंकर-भगवन्तों की प्रतिमाएं प्रायः इन दोनों मुद्राओं वाली होती हैं । इसको लक्ष्य में रखकर प्रभु की सिद्धावस्था अर्थात् रूपातीत अवस्था की भावना करें ।

सारंश यह है कि—श्री जिनप्रतिमा को साक्षात् तीर्थंकर परमात्मा के समान मानकर उनके पांचों कल्याणकों, तीन अवस्थाओं, पांच पदों की भावना

करते हुए पूजा में द्रव्यों का उपयोग करके अपने आप में ऐसी अवस्था प्राप्त करके केलिये सदा जागरूक रहना चाहिये ।

(11) तीर्थं कर प्रतिमा की पुष्पादि पूजा पर आक्षेप करने वाले को प्रायश्चित्त

कुछ लोग प्रभु की पुष्प, फल, फूलमाला, अलंकारों आदि से आंगी पूजा करने से हिंसा तथा प्रभु को परिग्रहघारी मान कर इस का निषेध करते और विरोध भी करते हैं । वास्तव में ऐसा मानना उनकी अज्ञानता का सूचक है । इसका समाधान हम आगे करेंगे । यहाँ पर ऐसी पूजा पर आक्षेप करने वालों को प्रायश्चित्त का भागी बनना पड़ता है । इस केलिये जैनागम जीतकल्प भाष्य का मत कहते हैं ।

“तित्थगर-पवयणसुतं, आयरियं गणहरं महइइढीयं ।

आसायंतो बहुसो अभिणिवेसेण पारांचित पायच्छित्तं ॥2464॥

अण्णं वा एवमादी, अवि पडिमासु वि तिलोग महियाणं ।

जति भणति, कीस कीरति मल्लालंकारमादीयं ॥2465॥

जो वि पडिख्व विणयो तं सब्ब अवितहं अक्कवंता ।

वंदण—थुइ-मादीयं, तित्थगरासायणा एसा ॥2466॥

अर्थात्—तीर्थंकर, प्रवचन श्रुत, आचार्य, महर्षिक गणधर, उनकी अभिनिवेश के वश होकर बार-बार आशातना करने वाला आचार्य [अथवा गृहस्थ] पारांचित प्रायश्चित्त का भागी होता है । इसी प्रकार अन्य आशातनाएँ करता हुआ और त्रिलोक पूजनीय तीर्थंकरों की प्रतिमाओं का प्रतिरूप विनय न करना या विपरीत बातें करना जैसे वन्दन न करे, स्तुति न करे । पुष्पमाला अलंकार आदि पूजा की अवहेलना करे इत्यादि यह तीर्थंकर की आशातना है इस प्रकार तीर्थंकरों की आशातना करने वाला पारांचित प्रायश्चित्त का भागी बनता है ।

अतः शास्त्रकार फरमाते हैं कि—

विहिणा उ कीरमाणा, सब्बच्चिय फलवति भवति चेट्टा ।

इह लोइआ किं पुण, जिणपूया उभय लोमहिया ॥2॥

काले सुइ-भूएणं विसिट्टं पुप्फाइएहि विहिणा उ ।

सार थुइ-थुत्त गुरुई, जिनपूया होइ कायव्वा ॥3॥

अर्थात्—विधि से की जाने वाली सभी चेष्टाएँ फलवती होती हैं । इस लोक संबन्धी प्रवृत्तियाँ भी फलवती होती हैं तब जिनपूजा उभयलोक का हित करने वाली है इस का तो कहना ही क्या ? अतः पूजा के समय में पवित्र होकर विशिष्ट सुगन्धित पुष्पादि से विधि पूर्वक और सार स्तुति स्तोत्रों से गुर्वी जिन पूजा करनी चाहिए । (आचार्य हरिभद्रोय पूजा पंचाशक)

दिगम्बर मत की प्राचीन पूजापद्धति

हम लिखे आये हैं कि दिगम्बरों में भी अनेक पंथ है । इन में से बीसपंथी-तेरहपंथी दोनों जिनप्रतिमा को उपास्य मानकर उनकी जलादि द्रव्यों से पूजा

करते हैं। इन दोनों पंथों के पूजा के पाठों में समानता होते हुए भी इन के आपस के विधि-विधानों और मान्यताओं में कितना अन्तर हो गया है, हमारे विचार से तो यह सब नासमझी और पक्षाग्रह के कारण से ही हो रहा है। अतः हम यहाँ पर इन की पूजापद्धति पर अति संक्षिप्त प्रकाश डालेंगे।

दिगम्बर नरेन्द्रनेन भट्टाचार्य कृत प्रतिष्ठा पाठ; प्रभाकरसेन कृत प्रतिष्ठा पाठ; आशाधर कृत प्रतिष्ठा पाठ; योगेन्द्रदेव कृत श्रावकाचार; भगवत्देव संघि-कृत जिनसंहितादि में नाना प्रकार के पूजा विधानों का वर्णन है।

1-पुष्पमाला से पूजा—जिनसेनाचार्य कृत आदिपुराण में लिखा है कि उत्तम कुल के श्रावक के लिए (जिनदेव के गले में पहनी हुई) जिनपदस्पर्शित पुष्पमाला अपने सिर पर धारण करने योग्य है।

2-पुष्पमाला से पूजा—अजितनाथ पुराण में लिखा है कि श्री अजितनाथ तीर्थंकर की माता जयसेना ने बाल्यावस्था में अष्टाह्निका महोत्सव करके श्री अर्हन् के शरीर को विलेपन किया और पुष्पमाला पहनायी। फिर जिनप्रतिमा के चरण-स्पर्शित करती हुई इस पुष्पमाला को लेकर अपने पिता को दी, पिता ने लेकर पुत्री को देकर उसे विदा किया।

3-आरती पूजा—पद्मनन्दी आचार्य ने पद्मनन्दी पच्चीसी में लिखा है कि दीपकों की श्रेणी से जिनप्रतिमा की आरती करें।

4-नैवद्य और दीपक पूजा—जिनसहिता में लिखा है कि कार्तिक मास में कृतिका नक्षत्र को संध्य समय श्री जिनप्रतिमा के सामने नाना प्रकार के नैवद्य (मिष्ठान) रखें। घृत कर्पूर आदि से पूरित दीप जलाकर रखें।

5-दीपक पूजा—षट्कर्मोपदेशमाला में घृत-कर्पूर आदि से भरपूर दीपक को जलाकर त्रिकाल (प्रातः, दोपहर, संध्य) पूजा करना निम्ना है।

6-तिलक पूजा—त्रैलोक्यतिलकस्य ललाटे तिलकं महत् ।
अचीकरण मुदेन्द्राणी शुभाचार प्रसिद्धये ॥

अर्थ—तीनलोक के तिलक रूप इस भगवन्त के ललाटे में प्रसन्न होकर इन्द्राणी शुभाचार की प्रसिद्धि केलिये तिलक करती है।

7-विलेपन पूजा—हरिवंश पुराण में लिखा है कि—
जिनेन्द्रांगमथेन्द्राणी दिव्यानन्ददायिनि विलेपनैः ।

अन्वलिप्यत भक्तयासी कर्मलेप विघातनम् ॥

अर्थ—श्री जिनेन्द्रदेव के अंग को इन्द्राणी प्रधान आनन्द को देनेवाले विलेपनों से विलेपन करती है। कैसे हैं वह विलेपन ? कर्मलेप का विघात करनेवाले ।

8-स्नान आभरण पूजा—घत्ताबन्ध हरिवंश पुराण में लिखा है—कि
ए पृह्विरुण खीरसायर-जलेण, भूसिओ आहरण उज्जलेण ॥

अर्थ—प्रभु को क्षीरसागर के जल से स्नान कराकर देदीप्यमान आभरणों (आभूषणों-अलंकारों) से विभूषित किया ।

9-श्री पार्श्वनाथ प्रतिमा पर लगा रत्न—द्रव्यसंग्रह की वृत्ति में लिखा है—

“माया ब्रह्मचारिणा पार्श्वभट्टारक-प्रतिमा-लग्न-रत्न-हरणं कृतमिति ।

अर्थ—कषटी ब्रह्मचारी ने श्री पार्श्वनाथ की प्रतिमा पर लगा रत्न चुरा लिया ।

10-जिनप्रतिमा पर चन्दन का विलेपन-भावसंग्रह में लिखा है कि—

चंदण-सुगन्ध-लेओ जिणवर-चलणेषु कुणइ ।

जो भविओ । लहइ तणु विक्किरियं सुहावस-सुअंधयं विमलं ॥

अर्थ—जो भव्यजीव जिनेश्वर प्रभु के चरणों में सुगन्धित चन्दन से विलेपन करता है; वह स्वाभाविक सुगन्धसहित देवगति में निर्मल वैक्रियशरीर प्राप्त करता है ।

11-जिनप्रतिमा की जलादि अष्टद्रव्यों से पूजा—लघुअभिषेकपाठ में लिखा है—

आभिः पुण्याभिरद्भिः परिमल-बहुलेतामुना चंदनेन ।

श्री दृक्चेयैरभिभिः शुचि-सदक चयैरुदगमेरेभिरुदधैः ॥

हृद्यैरेभिर्नैनिवेद्यैर्मंख-भवनमिमैर्दीपदद्भिः प्रदीपैः

धूपैः प्रयोभिरेभिः पृथुभिरपि कलैरेभिरीशंयजामि ॥11॥

अर्थ—में 1-इस पवित्र जल ने 2-इस बहुत सुगन्धित चन्दन से 3-लक्ष्मी के नेत्रों को सुखकर और पवित्र इन अक्षतों (चावलों) से, 4-उत्तम सुगन्धवाले इन पुष्पों से, 5-उत्तम नैवेद्यों (मिष्ठानों) से, 6-भवनों को प्रकाशित करने वाले इन दीपकों से, 7-सुगन्ध से परिपूर्ण धूपों से और बड़े उत्तम फलों से श्री जिनेन्द्रदेव की पूजा करता हूँ ।

12-जिनप्रतिमा की सचित फूलों से पूजा—दिगम्बरों की अनेक आचार्यों द्वारा रचित सब पूजापद्धतियों में सचित पुष्पों-फूलों से पूजा के विधान हैं । यहाँ मात्र दो प्रमाण काफी है सिद्धचक्र पूजा में वनस्पतिपरक सचित पुष्प पूजा—

मन्दार-कुन्द-कमलादि वनस्पतीनां ।

पुष्पर्यजेशुभतमैवर्णं सिद्धचक्रम् ॥6॥ (ज्ञानपीठ पुष्पांजलि पृ० 70 71)

अर्थ—मैं शुभ तप के लिए श्रेष्ठ मंदार, कुन्द और कमलादि सचित वनस्पति के फूलों से श्रेष्ठ सिद्धचक्र की पूजा करता हूँ ।

जात्यादि-सस्पृष्प-मालिकाभिः श्री मल्लिकाभिर्मंव-ताप-नुत्ये ।

व्रतानि सत्य-प्रभ्रतानि हर्षाद् गुप्तीर्यजामः सुमितीश्च पंच । (पृ० 290)

ॐ ह्रीं अहिंसा महाव्रतादिकांगेभ्यो नैवेद्यं निर्वापीमीति स्वाहा ।

अर्थ—चमेली और मालती आदि सुगन्धित श्रेष्ठ पुष्पों से संसार ताप को दूर करने के लिए हम सत्यादि पाँच महाव्रत, तीन गुप्ति और पाँच समितियों की हर्षपूर्वक पूजा करते हैं । ॐ ह्रीं अहिंसा महाव्रतादि पूजा के लिए मैं पुष्प अर्पित करता हूँ । (सम्यकचरित्र पूजा-ज्ञानपीठ पूजांजली पृ० 9)

श्री जिनेन्द्र प्रभु को फूलों से पूजा—(वृहत्कथाकोष-कथा 56)

तेर नगरी में धर्ममित्र नाम का एक सेठ रहता था। उसने अपनी गाय-भैंसों को चराने के लिए धनदत्त नामक एक ग्वाले के पुत्र को रख लिया था। एक बार उसने कलनन्द नाम के सरोवर में से एक कमल का फूल तोड़ लिया। यह देखकर सरोवर की रक्षिका देवी बड़ी रुष्ट हो गयी। उसने कहा—जो लोक में सर्वश्रेष्ठ है, उसकी पूजा इस कमल द्वारा करो। यदि ऐसा नहीं करोगे तो मैं तुम्हें योग्य शिक्षा दूंगी। बालक कमल लेकर अपने स्वामी के पास गया। स्वामी ने वृतांत सुन कर उसे राजा के पास भेजा। साथ में सेठ स्वयं भी गया। राजा सब के साथ उस बालक को दिगम्बर मुनि के पास ले गया। अन्त में मुनि की सलाह से सेठ उसे जिनेन्द्रदेव के पास ले गया। वहाँ जाकर उस ग्वाल बालक ने बड़ी भक्ति के साथ उस कमल को जिनेन्द्र भगवान् के चरणों पर चढ़ाकर पूजा की और नमस्कार करके सेठ के साथ घर वापिस चला गया।

आराधना कोश में करकंडु चरित्र में लिखा है कि—

तदा गोपालकः सोपि स्थित्वा श्री मञ्जिनाग्रतः ।

भो ! सर्वोत्कृष्ट ते पद्मं ग्रहाणोदमिति स्फुटम् ॥

उक्त्वा जिनेन्द्र-पादाब्जोपरि क्षिप्त्वाद्यु पंकजं ।

गतो मुग्धजनानां च भवेत्सत्कर्म शर्मदम् ॥2॥

अर्थात्—तब वह ग्वाला श्री जिनेश्वर के सामने खड़े हो कर कहता है कि हे प्रभो ! यह सर्वोत्कृष्ट कमल ग्रहण करो ऐसा कहकर श्री जिनेन्द्र के चरण कमलों पर उस कमल को रखकर पूजा करके अपने घर वापिस गया।

सारांश—दिगम्बर मुनि के आदेश से ग्वाले ने श्री जिनेन्द्रदेव के चरणों की संचित कमल पुष्प से पूजा की।

(2) भेंढक द्वारा संचित कमल पुष्प से भगवान् महावीर की पूजा के लिए जाना—

भैको विवेक-विकलोऽप्यजनिष्ट नाके, दन्तैर्गृहीत कमलो जिनपूजनाय ।

गच्छन् सभां गज-हतो जिन-सन्मते स, नित्यं ततोहि जिनयं विभ्रमचर्यामि ॥

(पुण्याश्रव कथाकोष 1/3)

अर्थ—जिन सन्मति (महावीर-वर्धमान) की समवसरण सभा में जिनपूजन के लिए दाँतों में कमलपुष्प लेकर जाने वाला अबोध भेंढक, हाथी के पैरों तले कुचल कर मर गया और (जिनेन्द्रदेव की पूजा की भावना से) स्वर्ग को प्राप्त हुआ (पूजा के भावों का विचारकर) मैं नित्य ही जिनपूजन को करता हूँ।

13-पुष्पांजली व्रत में जिनप्रतिमा की पुष्पों से पूजा—

पुष्पांजलिस्तु भाद्रपद शुक्ला पंचमीमारभ्य नवमीपर्यन्तं भवति पंचदिनपर्यन्तं उपवासं करणीयं' तत्र केतकी कुसुमादिभिः चतुर्विंशतिः विकसित सुगन्धित सुमनो-

भिश्चतुर्विंशति जिनान् पूजयेत् । पंचवर्षान्तर उद्यापनं कार्यम् केवलज्ञान संप्राप्तिरेतं मुक्तिप्रदं च पारंपर्येण भवति ।

अर्थात्—पुष्पांजलि व्रत भादों सुदि पंचमी से नवमी तक पांच दिन उपवास करके करना चाहिए। इस व्रत में केतकी आदि के विकसित (खिले हुए) सुगन्धित पुष्पों से चौबीस तीर्थंकरों की पूजा करें। पांच वर्षों में इस तप को पूरा करके पश्चात् उद्यापन करें। इस तप से केवलज्ञान की प्राप्ति और परम्परा से सर्वकर्मों का क्षय करके मुक्ति की प्राप्ति होती है।

14-जिन प्रतिमा की मुकुट और मालाओं से श्रलंकार पूजा ।

(1) शीर्षमुकुट तथा निर्दोष सप्तमी व्रत—

मुकुटसप्तमी तु श्रावण शुक्ल सप्तम्येव ग्राह्या, नान्या, तस्याम् आदिनाथस्य वा पार्श्वनाथस्य, मुनिसुव्रतस्य च पूजां विधाय कण्ठे मालारोपः। शीर्षमुकुट च कथितमागमे निर्दोषसप्तमि व्रतं। सप्तवर्षाविधि यावत् अनयोः व्रतयोः विधानम् कार्यम् ॥

अर्थात्—श्रावण शुक्ला सप्तमी को ही मुकुटसप्तमी कहा जाता है। अन्य किसी महीने की सप्तमी का नाम मुकुटसप्तमी नहीं है। इस दिन आदिनाथ, अथवा पार्श्वनाथ अथवा मुनिसुव्रतस्वामी का पूजन कर उनके गले में माला पहनावें और सिर पर मुकुट पहनावें। आगम में इस को निर्दोषसप्तमी भी कहा है। सप्त वर्ष तक इस व्रत का विधान करें।

(2) शीर्षमुकुट सप्तमी व्रत (दिगम्बर सिंहनन्दी)

अथ श्रावणस्य शुक्लपक्षे सप्तमी-दिनेप्यादिनाथस्य वा पार्श्वनाथस्य कण्ठे मालारोपः शीर्षमुकुटञ्च स्थाप्य उपवासं कुर्यात्। न तु एतावता वीतरागत्वं हानिर्भवति कापि कन्या तु स्ववैधव्य निवारणाय जिनशासनसंगमोक्त विधि पालयते। एताविधि निन्दकास्तु जिनागमद्रोही जिनाज्ञालोपी भवतीति न संदेहकार्याः सकलकीर्तिभिः स्वकीये कथाकोषे श्रुतसागरैस्तथा दामोदरैस्तथा देवनन्दी-भिरभ्रदेवश्च तथैव प्रतिपादितमतः पूर्वक्रमोज्ञेयः) ।

अर्थात्—श्रावण शुक्ला सप्तमी को श्री आदिनाथ (ऋषभदेव) भगवान अथवा श्री पार्श्वनाथ प्रभु के कण्ठ में माला और सिर पर मुकुट पहना कर पूजा एवं उपवास करना—यह शीर्षमुकुटसप्तमी व्रत है। श्री वीतराग प्रभु के गले में माला और सिर पर मुकुट पहनाने से वीतरागता को हानि नहीं होती। क्योंकि कोई भी कन्या अपने वैधव्य के निवारण केलिये जिनागम में बतलाई हुई विधि का पालन करती है। जो कोई इन विधि की निन्दा करता है वह जिनागमद्रोही तथा जिनाज्ञालोपी होता है। इसलिये इस विधि में संदेह नहीं करना चाहिये। सकलकीर्ति आचार्य ने अपने कथाकोष में तथा श्रुतसागर, दामोदर, देवनन्दी और अभ्रदेव आदि ने

भी इस विधि का कथन किया है। अतः यहाँ जिस विधि का कथन किया है वह समीचीन है, क्रमपूर्वक है, अक्रमिक नहीं है। (व्रत-तिथि-निर्णय दिगम्बर सिंहनन्दी कृत पृ० 231-32 (श्रावण शुक्ला सप्तमी को दिगम्बर पार्श्वनाथ का निघण्टु मानते हैं)।

3. जिनप्रतिमा की पुष्पमंडित मुकुट तथा पुष्पमाला से पूजा (व्रत कथा-कोष में लिखा है) कि—

तत् प्रश्नाच्छ्रेष्ठि पुत्रीति प्राह भद्रे शृणु ब्रुवै ।

व्रतं ते दुर्लभं येनेहामुत्र प्राप्यते सुखम् ॥1॥

शुक्ल श्रावण-मासस्य सप्तमी-दिवसेऽहंताम् ।

स्नपनं पूजनं कृत्वा भक्त्याष्टविधमूर्जिनम् ॥2॥

ध्रीयते मुकुटं मूर्ध्नि कुसुमोत्करैः ।

कंठे श्री वृषभस्य पुष्पमालां च ध्रीयते ॥3॥

अर्थात्—(सेठ की पुत्री के प्रश्न के उत्तर में आर्यिका ने कहा) हे भद्रे अष्टि पुत्री ! सुन—मैं तुम्हें व्रत कहती हूँ—जिस व्रत के प्रभाव से इसलोक और परलोक में दुर्लभ सुख प्राप्त होता है। श्रावण शुक्ला पक्ष की सप्तमी के दिन श्री अहंत भगवान की मूर्तियों को भक्ति से स्नान कराकर अष्टदिव्यों से श्री जिनेन्द्रदेव की पूजा करो। मुकुट को फूलों से सजाकर श्री जिनेन्द्र ऋषभदेव के मस्तक पर धारण करो और उनके गले में पुष्पमाला पहनाओ।

15. जिनप्रतिमा के चरणों पर कपूर चन्दन पूजा—

“कपूर-चन्दनमितीव मयापित सत् ।

त्वत्पाद-पंकज-समाश्रयणं करोतीत्यादि ॥”

अर्थ—मेरा अपेण किया हुआ मिश्रित कपूर-चन्दन, हे जिनेन्द्र ! तुम्हारे चरण कमल में सम्यक् आश्रय पाता है।

इस काव्य की टीका में लिखा है कि—

अनेनवृत्तेन चंदनं प्रक्षिप्यते पाद-पंकजे टीपिकां च वीयते ।

अर्थात्—इस व्रत (काव्य) को पढ़ कर चंदन क्षेप करें और जिनप्रतिमा के चरणकमलों पर टीपिकाएं (तिलक) करें।

ज्ञानपीठ पूजाजली में जिनप्रतिमा का स्नान—

16. जल से अभिषेक पूजा—श्रीमंतं भगवन्तं कृपालसंतं वृषभादि महावीरपर्यन्त-चतुर्विंशति तीर्थंकरपरम देवमुन्यायिका-श्वाक-श्राविकाणां सकल कर्मक्षयार्थं जलेनाभिषिञ्च नमः ।

अर्थ—श्रीमान् भगवान् परमदेव कृपालु ऋषभदेव से लेकर श्री महावीर तक चौबोस तीर्थंकरों का मुनि-आयिका-श्वाक और श्राविकाओं के समस्त कर्मों का क्षय करने के लिये मैं जल से अभिषेक (स्नान) कराता हूँ।

ऐसा पढ़ कर जिनप्रतिमा को जल से अभिषेक करावे।

(ज्ञानपीठ पूजाजली पृ० 20, 21)

17. घी से अभिषेक पूजा—(लघु अभिषेक पूजा) ज्ञानपीठ पूजाजली पृ० 20, 21 ।

धारां घृतस्थ शुभ-गंध-गुणानुमेयां ।
 वंदेऽहंतां सुरभि-संस्नपनोपयुक्ताम् ॥13॥

अर्थ—जो अपने सुगंध गुण के द्वारा अनुमेय है ऐसी अहंतों (तीर्थकरदेवों) के अभिषेक के योग्य मैं घृतधारा को नमस्कार करता हूँ। ओम् ही श्रीमंत भगवंत इत्यादि मंत्र को पढ़ कर जिनप्रतिमा को घी से अभिषेक (स्नान) करावें।

18. दूध से अभिषेक पूजा—(लघु अभिषेक पाठ पृ० 20, 21) ।

क्षीरैर्जिनाः शुचितरैरभिषिच्यमानाः ।

संपादयन्तु मम चित्त-समीहितानि ॥14॥

(उपर्युक्त मंत्र पठित्वा जलेनाभिषिचे इत्यादि)

अर्थ—शुचितर (अतिपवित्र) विविध प्रकार के दूध से अभिषेक किये गये जिनेन्द्रदेव मेरे चित्त के सभी हितों को संपादित करें। (उपर्युक्त मंत्र पढ़ कर जिनप्रतिमा को दूध से अभिषेक करें।

19. दही से अभिषेक पूजा ..(ज्ञानपीठ पूजांजली पृ० 22, 23) ।

दध्नांगता जिनपतेः प्रतिमां सुधारा ।

संपद्यतां सपदि वाञ्छित-सिद्धये नः ॥15॥

अर्थात्—जिनप्रतिमा पर छोड़ी गयी दही की धारा हम लोगो की वाञ्छित सिद्धि को तत्काल संपादित करे।

(उपर्युक्त मंत्र पढ़ कर, जिनप्रतिमा का दही से अभिषेक करें) ।

20. इक्षुरस गन्ने के रस) से अभिषेक पूजा (पृ० 22, 23) ।

तत्काल-पीलित-महेक्षु-रसस्य-धारा ।

सद्यः पुनातु जिन-बिब-गतैव युष्मान् ॥16॥

अर्थात्—तत्काल पेलकर निकले हुए इक्षुरस की जिनप्रतिमा पर छोड़ी गई धारा तुम लोगो को सद्यः पवित्र करे। (उपर्युक्त मंत्र पढ़ कर जिनप्रतिमा का इक्षुरस से प्रक्षाल करे) ।

21. सर्वौषधियों से सुगंधित जल से अभिषेक पूजा—

संस्नापितस्य घृत-दुग्ध-दधीक्षुवाहैः ।

सर्वाभिरौषधिभिरहृत उज्ज्वलाभिः ।

उद्धतितस्य विदधाम्यभिषेकमेला—

कालेय-कुंकुम-रसोत्कट-वारि-पूरैः ॥17॥

अर्थ—घी, दूध, दही और इक्षुरस से जिनप्रतिमा को स्नान (अभिषेक) करने के बाद, उबटन लगा कर अब मैं एला, कालेय और कुंकुम आदि सर्व औषधियों से मिश्रित उज्ज्वल जल से जिनदेव की प्रतिमा को स्नान कराता हूँ। (उपर्युक्त मंत्र पढ़ कर जिनप्रतिमा का सर्वौषधियों से मिश्रित सुगंधित जल से स्नान करें) ।

22. इसी प्रकार कपूर, चंदन, केशर आदि सुगंधित जल से जिनप्रतिमा को स्नान करावें।

23. तत्पश्चात् निर्मल सादे स्वच्छ जल से जिनप्रतिमा को स्नान करें।

24. जिनप्रतिमा की जलधारा से ग्रह्यं पूजा —

गहिउणं सिसिरकर-किरण-णियर-घवलरयण-भिगारं ।

मोति-पवाल-मरगय-सुवण्ण-मणि-खच्चिय-वर-कंठ ॥१॥

सुय-वुत्त-कुसुम-कुवलय-रज-पिजर-सुरहि-बिमल-जल-भरियं ।

जिण-चलण-कमल-पूरओ खेविज्जउ तिण्ण धाराओं ॥२॥

अर्थात्—चंद्रमा की किरणों के समान उज्ज्वल रत्नों से जड़ी हुई झारी को लेकर—वह झारी कैसी है? मोतियों, मृगों, सोना, मनियों आदि से जड़ा हुआ है कंठ जिसका और शास्त्रोक्त पुष्पों, कमलादि की रज से पीत एव सुगंधित निर्मल जल भरा है जिसमें, ऐसी झारी के जल से जिनप्रतिमा के आगे तीन धाराएँ दें ।

25. जिनप्रतिमा को नित्य स्नान से पूजा न करने से हानि—भगवद्देव-संघि विरचित श्रावकाचार में लिखा है कि—

“नित्य पूजा-विधाने तु त्रिजगत्स्वामिनः प्रभोः ।

कलशेऽनेकेनापि स्नानं न विगृह्यते ॥१॥

विदध्यात्कलह नित्यादि ।”

अर्थात् -- नित्य पूजा विधान में जो व्यक्ति तीनजगत के स्वामी प्रभु की एक कलश से भी पूजा नहीं करता उसे कलह, कुल का नाश आदि प्राप्त होते हैं ।

26. जिनप्रतिमा की फलों से पूजा—

जम्बीर-नारंग-सुपक्व-जम्बू-फलोत्तमाद्यै रसमुदिगराद्भिः ।

व्रतानि सत्य-प्रभृतीनि हर्षात् गुप्तीयजामः समितीश्च पंच ॥

ओम् हीं अहिंसा महाव्रतादि काग्रेभ्यः फलं निर्वंपाविमि स्वाहा ।

(ज्ञानपीठ पूजांजलि पृ० 292-93)

अर्थ—जम्बीर (बिजोरा) नारंगी, पके हुए जामुन आदि रसीले उत्तम फलों से सत्य आदि पांच महाव्रतों, तीन गुप्तियों, और पांच समितियों की मैं पूजा करते हैं ।

[ओम् हीं अहिंसा महाव्रत आदि के लिये मैं प्रभु के चरणों में फल अर्पित करता हूँ] ।

27. स्त्री द्वारा जिनप्रतिमा की अष्टप्रकार की पूजा का विधान—

(अ) श्रीपाल चरित्र में लिखा है कि—

“तत्राष्टकपर्यंतं प्रपूजय निरंतरं ।

पूजाद्रध्यैर्जगत्सारैष्टभदै जलादिकैः ॥१॥

तच्चंदन सुगन्ध्यंबुलजो व्याधिहराः स्फुटम ।

प्रत्यहं त्वपतेर्भक्त्या प्रयच्छ रोगहानये ॥२॥

अर्थात्—(मयनासुन्दरी को महामुनि ने कहा कि श्री सिद्धचक्र का) आठ दिनों तक जगत में सारमूत, ऐसे जल, चंदन, केसर आदि आठ प्रकार (जल, चंदन, फूल, अक्षत, धूप, दीपक, नैवेद्य, फल) के द्रव्यों से पूजा करके तुरंत व्याधि को हटाने वाले श्री सिद्धचक्र को स्पर्श किये हुए जल, चंदन, सुगंधी पुष्पमाला आदि को अपने पति (श्रीपाल के शरीर) को लगा । जिससे उसका रोग दूर हो जावे ।

(आ) स्त्री द्वारा जिनप्रतिमा की पूजा करने का विधान—
षट्कर्मोपदेशमाला में लिखा है कि—

इतीव निश्चयं कृत्वा दिनानां सप्तकं सती ।

श्री जिनविमानां स्तपनं समकार्यत ॥१॥

चन्दनागुरु-कपूर-सुगन्धेच्च विलेपनं ।

सा राज्ञी विदधे प्रीत्या जिनेन्द्राणां त्रिसंध्यकम् ॥२॥

अर्थात्—यह निश्चय करके रानी श्री जिनप्रतिमाओं को सात दिनों तक अभिषेक (स्नान) कराती रही और प्रीति से त्रिसंध्या (प्रातः, दोपहर, संध्या) में जिनेन्द्रदेव (जिनप्रतिमा) की चन्दन, अगर, कपूर आदि सुगंधी द्रव्यों से विलेपन करती रही ।

28—जिनप्रतिमा की दीपक से पूजा—

“दीवं दद्दि विणई जिणवरहं मोहांतराइं दोइ णट्टाईं ॥

अर्थात्—जो जिनेश्वरदेव की दीपक से पूजा करता है उस के मोह और अन्तराय दोनों कर्म नष्ट हो जाते हैं ।

29—जिनप्रतिमा के सामने नाटक तथा अष्टद्रव्यों से पूजा
षट्बिषपूजाप्रकरण में लिखा है कि—

(अ) नाटक से भक्ति पूजा—

“एवं काळण रञ्जो खुहियं समुहोरव गज्जमारोहिं ।

वर-भेरी करड काहल जय घटा संखाणि वहेहिं ॥१॥

गुल्लगुलति ति-वेलेहिं कस-सालोहिं भमभमतेहिं ॥”

धूमंत-कडह-मडल-हुडक-मुखोहिं विविहेहिं ॥२॥”

अर्थात्—इस प्रकार के शब्द करके—कैसे हैं वे शब्द ? क्षोभ को प्राप्त हुए समूह के गरजारव के समान श्रेष्ठ, भेरी, करद, काहल जय घंटा, झंझादि बाजों के समूह के शब्दों से गुल्लगुल शब्द हो रहे हैं । तथा तिविल, कांसी, ताल, मंजीर आदि बाजों से क्षम-क्षम शब्द हो रहे हैं । एवं पटह, ढोल, मृदंग आदि वाजियों के शब्दों से एक धुन मच रही है । इस प्रकार से नाटक पूजा करे ।

(आ) चंदन पुष्पादि से पूजा

“चिट्ठेज्ज जिणगुणारोवणं कुणतो जिणंद-पडिंबिंबं ।

इट्ठविलग्ग सुव एइ चंदनतिलयं तथो दिज्जइ ॥१॥

सव्वावयवेषु पुणो मंतण्णासं कुणिज्ज पडिमाए ।

विविहच्चणं च कुज्जा कुसुमेहिं बहुप्पयारेहिं ॥२॥

अर्थात्—जिनप्रतिमा में गुणों की स्थापना करता हुआ बैठे और इष्टलग्न में जिनप्रतिमा को चंदन से तिलक करे । जिनप्रतिमा के सर्वांगों में मंत्रन्यास करे । फिर बहुत प्रकार के पुष्पों आदि से अनेक प्रकार से पूजा करे । (चंदन-पुष्पादि से पूजा)

(इ) जिनप्रतिमा की विविध द्रव्यों से पूजा—

“बलिबत्तिएहिं जवारेहिं च सिद्धत्थ पण्हखोहिं ।

पुब्बतुवयरयोहिं य रइज्ज पूयं सुविहणेण ॥१॥

अथित्—जिनप्रतिमा का पत्तों, नकदी से सरवारना करके, जवारे के हरित अंकुरों से, सरसव के पत्तों से, वृक्ष के पत्तों से एवं उपर्युक्त उपकरणों से अपने विभवानुसार जिनेश्वरदेव की पूजा करें ।

(ई) सुगंधित जल से अर्घ्य पूजा—

गहिऊणं ससिरकर-किरण-णियर-धवलयर-तण-भिगारं ।

मोति-पवाल-मरगय-सुवण्ण-मणि-खच्चिय-वर कंठ ॥1॥

सुय-बुत्तं कुसुम-कुवलय-रज-पिजर-सुरहि-विमल-जल-भरियं ।

जिण-वल्लण-कमल-पुरओ खेविज्जउ-तिण्ण-घाराओ ॥2॥

अर्थात्—चन्द्रमाँ की किरणों के समान उज्ज्वल रत्नों से जड़ी हुई झारियों को ग्रहण करके-वह झारियाँ कैसी हैं? मोती, मूँगा, मरकत, सोना, मणियों आदि से जड़े हुए हैं कंठ जिनके तथा शास्त्रोक्त पुष्पों और कमलों आदि से पीला—सुगंधित निर्मल जल भरा है जिस में, ऐसी झारियों के जल से जिनप्रतिमा के आगे तीन धाराएँ देकर अर्घ्य पूजा करे ।

(उ) चंदनादि सुगंधित द्रव्यों से पूजा—

कप्पर-कुं कुमायरू-तरुक्क-मिस्सेण-चंदण-रसेण ।

वर-बहुल-परिमला-मोय-वासिया सा समूहेण ॥3॥

वासाण-मग्गा-सपत्ता-भयमत्तालि-रव-मुहलेण ।

सुर-मउड-घडिय-चलण-भत्तिए समरलहिज्ज जिणं ॥4॥

अर्थात्—देवताओं के मुकुटों से स्पृशित चरणकमल है जिनके । ऐसे चरण कमलों को कर्पूर, चंदन, केसर, अगरू आदि सुगंधित द्रव्यों को घिसकर मिश्रित रस से, जिसकी सुगंध से चारों दिशाएँ महक उठी हैं और उससे आकृष्ट होकर भंवरों की मदोन्मत्त पंक्तियों से अव्यक्त ध्वनि का गुंजारव हो रहा है ऐसे मिश्रित चन्दनादि सुगंध से श्री जिनेश्वर प्रभु के चरण कमलों वा विलेपन करो ।

(ऊ) अक्षत-पूजा—

ससिकंत खंड विमलेहिं विमलजलेहिं सित अइ-सुअंधेहि ।

जिणपडिमा पइट्ठिए जिय विमुद्ध पुण्णंकरेहि च ॥5॥

वर-रमल-सालि-तंदुल-चण्हिह-सुछंडिय-दीह-सयलेहिं ।

मणय-सुरासुर-महियं पूजिज्ज जिणिदं पय-जुयलं ॥6॥

अर्थात्—चन्द्रमाँ की चांदनी के समान अति उज्ज्वल अखंडित निर्मल अक्षतों (चावलों) से जो निर्मल अति सुगंधित जल से धुले हुए हों, उन से जिनप्रतिमा का पूजन करें । वे चावल मानो पुण्यंकर हैं । अति मीठे कमलशाली तंदुलों (चावलों) के समूह को अति स्वच्छ करके प्रभु के चरण कमलों के आगे चढ़ा कर जो चरण कमल-मनुष्यों, देवताओं और असुरों द्वारा पूजित हैं । उनकी पूजा करो ।

(ए) वनस्पतिपरक सञ्चित तथा स्वर्ण आदि के अचित पुष्पों से पूजा—

मालिय-कयंब-कणयारिय-पयासोय-बउल-तिर्लेहि ।

मंदार-णाय-चंपय-पउमुप्पले-सिंदुवारेहि ॥7॥

सुरवणज-जुहिय-पारिजा-सवण-ढगरेहि ।

कणवीर-मल्लियाई कचणार-मयकुंद किकरार्हि ॥8॥

सोवण-रूवमेहि या मुत्तादामेहि बहु वियप्पेहि ।

जिणपय-संकय-जुयलं पूजिज्ज सुरिदसयमहियं ॥9॥

अर्थात्—मालती, कदंब, सूर्यमुखी, अशोक, बकुल (मोलसरी) तिलकवृक्ष के फूल, मंदार, नागचंपा, कमल, निर्गुंडी के फूल, कणवीर के फूल, मल्लिक, कचनार के फूल, मचकुंद, किकर, कल्पवृक्ष के फूल, जुई, पारिजात, जासूस के-फूलों आदि सचित पुष्पों से बहूत प्रकार के अचित-पुष्पों फूल, ड्यरे के, सोने के फूल, चाँदी के फूल, सच्चे भोतियों की मालाओं आदि अनेक प्रकार की बहुमूल्य मालाओं से (देवन्द्रों आदि से पूजित) जिनेन्द्रदेव के चरणों की पूजा करो ।

(ऐ) नैवंद्य पूजा—

दही-दुद्ध-सप्पि-मिस्सेहि कमलभत्तेहि बहुप्पयारैहि ।

तवट्टि-वंजणेहि य बहुविह-पक्कण-भेएहि ॥10॥

रूप-सुवण-कंसाइ-थाल-णिहिएहि विविह-भरिएहि ।

पूयं वित्थारिज्जा भत्तिए जिणंद-पय-पुरिआ ॥11॥

अर्थात्—दही, दूध, घी से मिश्रित मीठे चावलों का भात करके तथा नाना प्रकार के शाकादि व्यंजन (तीमन) करके एवं नाना प्रकार के पक्वान्न करके; सोना, चाँदी, कांसी आदि के थालों में भर कर भक्तिपूर्वक जिनेन्द्रदेव के चरणकमलों के आगे चढ़ा कर पूजा का विस्तार करें ।

(ओ) दीपक पूजा—

“दीवेहि णिय-पहा-होमिय-क्कत्तेहि धूम-रहिएहि ।

मंद-मंदाणिल वसेण णच्चं तहि अच्चणं कुज्जा ॥12॥

घण-पडल-कम्माणि चयव्व दूरमवसारियंघयारेहि ।

जिण-चलण-कमल-पुरुओं कुणिज्ज रयणं सुभत्तिए” ॥13॥

अर्थात्—जिस की प्रभा के समूह ने सूर्य के समान प्रताप धारण किया है । जिसकी धुएँ से रहित शिखा है । जो मंद-मंद पवन के वेग से नट्टुके समान नृत्य कर रही हैं । अति सघन कर्मपटल के समूह के समान जो अंधकार है, उसे अपने प्रकाश के प्रभाव से दूर करते हुए-ऐसे दीपक की रचना करके भक्ति से जिनेन्द्रदेव के चरण कमलों के आगे रखकर जिनेन्द्रदेव की पूजा करता हूँ ।

(औ) धूप पूजा—

“कालायरु-णह-चंदन-कप्पूर-सित्तारसाइ दव्वेहि ।

णिप्पण्ण-धूव-वत्तिहि परिमला-पंतियालिहि ॥14॥

उग्ग-सिहा-देसिएहि सग्ग-मोक्ख-मग्गाहि-बहुल-धूमेहि ।

धूविज्ज जिणंद-पायारविंद-जुयलं सुरिदणु यं ॥15॥

अर्थात्—कालागुरु (अगर), अंबर, चंदन, कर्पूर, शिल्हारस, आदि सुगंधित द्रव्यों से बनाई हुई धूपबत्तियों की पंक्ति से सुरेन्द्रों द्वारा स्तवे हुए जिनेन्द्र प्रभु के दोनों चरण कमलों को धूपित करो। कैसी हैं वे धूपबत्तियाँ ? सुगंध से भरपूर और श्लेषशिखा से दिखाया है स्वर्ग तथा मोक्ष का मार्ग जिन्होंने।

(अं) सचित्त फलों से पूजा—

“जबीर-मोय-दाडिम कवित्थ पणसूय नालिएरेहि ।

हिंताल ताल खज्जूर बिब गारंग चारेहि ॥16॥

पूइफल तिदुआ आमलय जवू बिल्लाइ सुरह मिट्टेहि ।

जिण पय पुरओ रयणं फलेहि कुज्जा सुपक्कंहि ॥17॥

अर्थात्—जम्बीर (बिजौरा), केला, अनार, कोठ, पनस, शहतूत, नारियल हिंताल, ताल, खजूर, किन्दूरी, नारंगी, सुपारी, तिदुक, आंवला, जामुन, विल्व इत्यादि अनेक प्रकार के पके और मीठे फलों को जिनेन्द्रदेव के आगे रखकर चरण-कमलों की पूजा करो।

(अः) अष्टमंगलादि से पूजा

“अट्टविह मंगलाणि य बहुविह पूजोवयरण दग्वाणि ।

धुव-दहणाइ तहा जिण पूयणत्थं विति रिज्जइ” ॥18॥

अर्थात्—आठ प्रकार के मंगल (स्वस्तिक, श्रीवत्स, नन्दावर्त, वर्धमानक, भद्रासन, कलश, मत्स्य-युगल और दर्पण) बहुत प्रकार के पूजा के उपकरण, धूपदहन आदि द्रव्य जिनेन्द्रदेव की पूजा के लिए काम में लावें

(30) जिनेन्द्रदेव की पंचकल्याणक पूजा—

गर्भ, (च्यवन), जन्म, तप (दीक्षा), केवलज्ञान, निर्वाण कल्याणकों में प्रत्येक तीर्थंकर को पूज्य मानकर देवेन्द्रादि उनकी पूजा करते हैं। इसी प्रकार दिगम्बरपंथी भी पाँचों कल्याणक पूज्य मानते हैं और उनकी अष्टद्रव्यों द्वारा अर्घ्यपूजा भी करते हैं।

दिगम्बर कविवर मनरंगलाल कृत अनन्तनाथ जिन पंचकल्याणक पूजा

1-गर्भ (च्यवन) कल्याणक पूजा—

नृप सौघ ऊपर हरषि चित अति गाय गुण अमलान,

षट् मास आगे रतन वर्षा करत देव महान् ।

कातिक वदी एकम कहावत गर्भ आये नाथ,

हम चरण पूजत अरघ ले मन वचन नाऊ माथ ॥

(गर्भकल्याणक संयुक्ताय अर्घ्यं निर्वपामिति स्वाहा)

2-जन्मकल्याणक पूजा—

शुभ जेठ महीना वदी द्वादशी के दिना जिनराज,

जनमत भयो सुख जगत के चढ़ि नाथ सहित समाज ।

शचिनाथ आप सुभाव पूजा जनम दिन की कीन,

मैं जगत युग-पद अरघसो प्रभु करहुं संकट छीन ॥
(जन्मकल्याणक-मंडिताय अर्घ्यं निर्वपामिति स्वाहा)

3-तप (वीक्षा) कल्याणक पूजा—

वदि जेठ द्वादशी जाय वन में केश लुंचत धीर,
तजि वाह्याभ्यंतर सकल परिग्रह ध्यान धरत गंभीर ॥
मैं दास तुम पद ईह पूजत शुद्ध अर्घ्य बनाय,
तहें जगत इन्द्रादिक सकल गुण गाय चित्त हरषाय ॥
(तपकल्याणक प्राप्ताय अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा)

4-केवलज्ञान कल्याणक पूजा—

अम्मावसी वदि चेत की लही ज्ञान केवल सार,
करि नाम सार्थक प्रभु अनन्त चतुष्टय लहत अपार ॥
करुणानिधान सुख के भव-उदधि के पोत,
मैं जगत तुम पद कमल निर्मल बद्ध आनंद सोत ॥

5-मोक्ष-निर्वाण कल्याणक पूजा—

वदि पचदस कहि चेत की करुणा निधान महान्,
सम्मेद पर्वत ते जगत-गुरु होत भये निर्वाण ।
तहं देव चतुर-निकाय विधि करि चरण पूजे सार,
मैं यहाँ पूजन अर्घ्य लीन्हे पद-सरोज निहार ॥
(मोक्ष कल्याणक मण्डिताय अर्घ्यं निर्वपामिति स्वाहा)
(31) तीर्थंकर के आठ प्रतिहार्य—(दिगम्बर शांति पाठ)

केवलज्ञान प्राप्त करने पर देवताओं द्वारा तीर्थंकर की भक्ति-पूजा के रूप आठ प्रातिहार्य सदा तीर्थंकर के साथ रहते हैं—यथा-1-दिव्य विटप 2-पहुष्प की वर्षा 3-दुंदुभि 4-आसन 5-वाणी 6-तीन छत्र 7-चंवर 8-भामंडल ॥ ये तुव प्रातिहार्य मनहारी ॥ शांति जिनेश शांति सुखदायी । जगत पूज्य पूजो शिरनाई ।

अर्थात्—1-तीर्थंकर की उपदेश सभा में तीर्थंकर के सिर पर ऊंचा अशौक वृक्ष 2-देवताओं द्वारा पांच वर्ण के सचित फूलों की वृष्टि तीर्थंकर के घुटनों तक 3-देवता आकाश में रहकर वाजित्र बजाते हैं, इसे देवदुंदुभि कहा जाता है, 4-आसन तीर्थंकर के प्रवचन मंत्र पर झूठने के लिए रतन जड़ित स्वर्ण सिंहासन । 5-तीर्थंकर के दायें-बायें देवताओं द्वारा ढूँढते दो चामर, 6-तीर्थंकर के सिर के ऊपर तीन छत्र 7-दिव्य ध्वनि-तीर्थंकर की प्राप्ति के साक्ष्य ध्वनि, 8-भामंडल-तीर्थंकर के सिर-चेहरें के पीछे नोलाकार-प्रकाश मंडल ।

(32) जिनमंदिर की पुष्पमाला धूपादि-चुरानेवाला अशुभ नाम कर्म का बन्ध करता है—

अकलंकदेव कृत राजवार्तिक टीका (तत्त्वार्थ पर) में लिखा है कि—

“क्षेत्र्यप्रवेश गंधमाल्य-धूपानि मोषण, लक्षण स एव सर्वोऽशुभस्य आम्नः ॥”

अर्थात्—श्री जिनमंदिर के सुगंध, पुष्पमाला, धूपानि चुराने वाला अशुभ नाम कर्म का बंध करता है। (इस से स्पष्ट है कि फूल, फूलमाला, केसर, चंदन कर्पूर आदि सुगंध द्रव्य तीर्थंकर की अंग पूजा के लिए, धूपानि सामग्री अंग पूजा के लिए काम में लेने का दिग्म्बर मान्य आगमों में भी विधान है। यही कारण है कि ऐसी सामग्री वहां विद्यमान होती थी)।

(33) अपूज्य प्रतिमा के दर्शन से ज्ञानहीनता—

वसुनन्दी जिनसंहिता में लिखा है कि—

जिन प्रतिमा का कुंकुमादि (केसर-चंदन-कर्पूर आदि) के विलेपन किये बिना अनर्चित चरण युगलों के जो व्यक्ति दर्शन करता है वह ज्ञानहीन है। यानि जो व्यक्ति जिनप्रतिमा के चरणों पर केसरादि सुगंधित द्रव्यों के विलेपन से पूजा नहीं करता वह अज्ञानी जिनाज्ञा का पालन नहीं करता।

(34) यह श्रावक धर्म चार प्रकार का—

दान, पूजा, शील और उपवास वह संसार रूपी वन को भस्म करने वाला चार प्रकार का श्रावक धर्म जिनेन्द्र देव ने कहा है।

दाणं पूया सीलं उववासं बहुर्विहंपि खवणं पि ।

सम्भ जुदं मोक्ख-सुहं सम्म-विणा दीह-संसार ॥9॥ (रयणसारे)

अर्थ—सम्यक्त्व से युक्त मनुष्यों के लिए 1-दान, 2-पूजा, 3-शील, 4-उपवास तथा अनेक प्रकार के ब्रत तप कर्म क्षय के कारण तथा मोक्ष मुख के हेतु हैं। सम्यग्दर्शन (विवेक की जाग्रति) के बिना ये ही दीर्घ संसार के कारण होते हैं।

(35) जिन पूजा आदि से उपलब्धि—

जिनस्तवनं जिन-स्नानं जिनपूजा जिनोत्सवं

कुर्वाणो भविततो लक्ष्मी लभते, याचित्तां जन ॥12-40॥

जिनस्तुति, जिनस्नान, जिनपूजा और जिनोत्सव को भक्ति पूर्वक करने वाला मनुष्य वांछित लक्ष्मी की प्राप्ति करता है।

(36) जिन प्रतिमा के दर्शन से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति—

तिरश्चां केषाञ्चिज्जातिस्मरणं केषाञ्चिद्धर्मश्रवणं

केषाञ्चिज्जनविम्बदर्शनम् । मनुष्याणामपि तथैव ॥

तियंचों में किन्हीं को जातिस्मरण से, किन्हीं को धर्म श्रवण से और किन्हीं को जिनप्रतिमा के दर्शन से सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है। मनुष्यों को भी इसी प्रकार जाननी चाहिये।

(37) जिनप्रतिमा का दर्शन सम्यक्त्व की प्राप्ति का कारण कैसे ?

कथं जिनिर्बिबदंसणं पढम-सम्मत्तुप्पत्तीए कारणं ? जिघत्तणिकाचिवत्स वि
मिच्छत्तादि-कम्मकलावत्स खयदंसणादो (जीवस्थान सम्यक्त्वोत्पत्ति चूलिका सूत्र
22 षवला)

शंका—जिनप्रतिमा दर्शन प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण कैसे है ?

समाधान—जिनप्रतिमा का दर्शन करने से निधत्ति और निकाचित मिथ्यात्व आदि कर्मकलाप का क्षय देखा जाता है। इसलिए उसे प्रथम सम्यक्त्वोत्पत्ति का कारण कहा है।

सारंश यह है

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि श्वेताम्बर आम्नाय के समान ही दिग्म्बरों की प्राचीन पूजा पद्धति एवं विधिविधान में सर्वोपचारी अष्टोपचारी पंचोपचारी पंचकल्याणक आदि पूजाओं का समावेश है और पुरुषों के समान ही स्त्रियों को भी जिनप्रतिमा अभिषेक, विलेपन, पुष्पपूजा आदि का भी विधान है।

1—जिनप्रतिमा की सर्वोपचारी पूजा के उपकरणों तथा द्रव्यों की सूची—

(1) मणिमय कलश—सोने के, चाँदी के और सोने-चाँदी आदि अनेक प्रकार के कलश-अभिषेक के लिए।

(2) अभिषेक—(स्नान के लिए) जल, घी, दूध, दही, इक्षुरस, सर्वोषध मिश्रित जल, सुगंधित पदार्थों से मिश्रित जल, अर्घ्य पूजा में जलधारा आदि।

(3) विलेपन—केसर, चंदन, कर्पूर, अम्बर आदि मिश्रित सुगंध पदार्थों से जिनप्रतिमा पर विलेपन व तिलक (टिक्की)।

(4) पुष्प—नाना प्रकार के वनस्पतिपरक सचित फूल तथा सोने चाँदी; रत्नों के अचित पुष्प।

(5) पुष्प पुंज व पुष्पमालाएं (हार)।

(6) अक्षत—(चावल) तथा सच्चे मोती।

(7) दीप—शुद्ध घी के दीपकों की पंक्तियाँ, घी के दीपकों से आरती, व दीप।

(8) फल—नाना प्रकार के सचित-अचित मीठे, पक्के, सुन्दर आम्र, बिजौरा, संगतरा, अनार, सुपारी आदि फल।

(9) पत्र—वृक्षों के नाना प्रकार के पत्ते।

(10) झलंकार—सोने, मणियों, रत्नों आदि के मुकुट, कुंडल, मोतियों रत्नों, फूलों आदि की मालायें तथा वस्त्र।

(11) तिलक—तीर्थंकर प्रतिमा के मस्तक पर रत्न जड़ित स्वर्ण तिलक।

(12) धूप—चंदन, अगर, शिलारस, अम्बर आदि सुगन्धित द्रव्यों से बनायीं गयी धूपवत्तियाँ तथा धूप-दानियाँ।

(13) नाटक—गीत, नृत्य, वाजित्र, नाटकादि (जिनप्रतिमा) के सम्मुख नाना प्रकार से नृत्य तथा नाटक।

(14) अष्टसंगल—रत्नों के स्वस्तिक, श्रीवत्स, नन्दावर्त, वर्धमानक, भद्रा-स्नान, कलश, मत्स्ययुगल और दर्पण।

(15) अष्टप्रातिहार्य—अशोक वृक्ष, सचित पुष्पवृष्टि, वाजित्र (दुंदुभि), तीन छत्र, चामर, एक धोजनगामिनी वाणी, सिंहासन तथा भामंडल ।

(16) घंटा—आरती तथा दर्शन-पूजन के अवसर पर घंटा वादन ।

(17) नेबेघ (पकवान)—नाना प्रकार के मिष्ठान, नाना प्रकार के शाकादि तीमन मीठे पक्व भात आदि अनेक प्रकार के खाद्य पदार्थ ।

2. तीन अवस्थाओं की पूजा

दिगम्बर भी तीर्थकरों की, (1) पिंडस्थ, (2) पदस्थ, (3) रूपातीत अवस्थाओं की पूजाएं करते हैं । यथा—

(1) पिंडस्थ—तीर्थकर पदवी प्राप्त करने से पहले की अवस्थाएँ । ये तीन प्रकार की हैं—जन्मावस्था, राज्यावस्था और श्रमण-अवस्था इन तीनों अवस्थाओं में तीर्थकर छद्मस्थ-असर्वज्ञ होते हैं ।

(अ) जन्मादि के समय वस्त्रालंकार पूजा—

‘धे अन्न्यचित्ता मुकुट-कुण्डल-हार रत्नैः

शक्रादिभिः सुरगणैः स्तुत पादपद्म ।

ते मे जिनाः प्रथम वंश जगत्प्रदीपा,

स्तीर्थकराः सतत शान्तिकराः भवन्तु ॥5॥ (शांति पाठ)

अर्थात्—जो तीर्थकरों के (जन्म-राज-तप-दीक्षा के समय) इन्द्रों आदि के द्वारा मुकुट, कुण्डल और रत्नों आदि के हारों से पूजित हुए तथा जिन के चरण कमलों की स्तुति देव गणों ने की वे श्रेष्ठवंशी तथा जगत के दीपक (चौबीस) तीर्थकर मुझे सदा शांति देवे ।

(घा) जन्म कल्याणक के समय तीर्थकर की शृंगार पूजा—

सहस्र श्रठोतर कलसा प्रभु के सिर ढरई ।

पुनि सिंगार प्रमुख अचार सबे करई ॥ (कत्रिवर रूपचंद्र)

अर्थात्—तीर्थकरों के जन्म होने पर मेरूपर्वत के शिखर पर उनका जन्मोत्सव मनाने के लिए इन्द्रादि देव गणों ने 1008 जल से भरे कलशों से प्रभु के सिर पर जलधारा डालकर अभिषेक (स्नान) कराया । फिर प्रभु का (वस्त्रालंकारों) आदि से) शृंगारादि करके उन्होंने अपने आचार का पालन किया ।

(इ) राज्यावस्था की वस्त्रालंकारों से सुसज्जित शृंगार से पूजा

प्रतिष्ठा आदि के समय पंचकल्याणक पूजा महोत्सव के अवसर पर जिन प्रतिमा को वस्त्रालंकारों से शृंगार करके उसकी पूजा आरती आदि से पूजा की जाती है ।

(ई) तप (दीक्षा) कल्याणक की पूजा—

जब तीर्थकर दीक्षा लेने के लिए घर से निकलते हैं तब चक्रवर्ती के वेश में शृंगार पूर्वक सजधजकर पालकी में बैठकर बहुत बड़े जलूस तथा अनेक प्रकार के बाजों-गाजों के साथ वन को जाते हैं । इस समय इन्द्रादि देवगण भी प्रभु का वस्त्रालंकारों से शृंगार करके अपने द्वारा निर्मित पालकी में प्रभु को बिठलाकर दीक्षा कल्याणक पूजा करते हैं ।

(उ) तीर्थंकर की छद्मस्थ श्रमण अवस्था भी पूजनीय है—
विद्यावते तीर्थंकराय तस्मादाहारवानं चवते विशेषात् ।

गृहे-नृपस्थाजनि रत्न-वृष्टिः स्तोमि प्रणामान्नयतो नमि तां

अर्थात्—(मनःपर्ववादि चार) ज्ञान सम्पन्न तीर्थंकरदेव को—आहार दान देने से राजा के घर में रत्न वृष्टि हुई । उन नमि (21 वें) जिन की समग्ररूप से और पृथक रूप से मैं पूजा और स्तुति करता हूँ (स्वयंभू स्तोत्र) ।

(अ) अतः अभिषेक सुगंधित द्रव्यों से विलेपन-तिलक, अलंकार-वस्त्र आदि से तीर्थंकरों की जन्मकल्याणक की पूजा ।

(आ) स्नान, विलेपन, वस्त्र, मुकुट, कुंडल, रत्नों-पुष्पों की मालाओं, पुष्पों आदि से राज्यावस्था की पूजा ।

(इ) वस्त्र-अलंकार आदि, धूप, दीप, वाजित्र, रथयात्रा से तप (दीक्षा) कल्याणक की पूजा ।

(ई) आहार-मिष्ठान्न तीमन, पके चावलों फलों आदि अनेक प्रकार के खाद्य पदार्थों से श्रमणावस्था की पूजा ।

(2) पदस्थ—केवलज्ञानावस्था-अष्टप्रातिहार्य, पुष्पपुंज समवसरण अष्ट-मंगल, स्वर्ण पुष्प, धूप, नाटक, ध्वजा, धर्मचक्र आदि से केवलज्ञानावस्था की पूजा ।

(3) रूपातीत-सिद्धावस्था-स्तुति-स्तोत्र, प्रतिपत्ति, वंदनादि द्वारा भक्ति पूजा ।

3. पाँच कल्याणक पूजा

(1, 2) च्यवन (गर्भ), जन्म-ये दो कल्याणक गृहत्याग से पूर्व आगारी छद्मस्थावस्था ।

(3) तप (दीक्षा) कल्याणक से छद्मस्थ श्रमणावस्था ।

(4) केवलज्ञान कल्याणक-वीतराग-सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तीर्थंकर अवस्था ।

(5) निर्वाण कल्याणक से अरूपि सिद्धावस्था । इस प्रकार तीर्थंकर की आगारी (गृह त्याग करने से पहले की) अवस्था दीक्षा लेने के बाद अणगारी छद्मस्थ श्रमण अवस्था, तप अवस्था, केवली तीर्थंकर अवस्था, और सिद्धावस्था, पाँचों प्रकार की अवस्थाओं को दिग्म्बर पूज्य मानते हैं और उनकी अनेक द्रव्यों द्वारा, नाटक, नृत्य, वाजित्रों आदि द्वारा नाना प्रकार की आडम्बर पूर्वक पूजाएं करते हैं ।

4. श्वेतांबर-दिग्म्बर द्वारा पूजा विधि समानता—

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि श्वेतांबरों तथा दिग्म्बरों के जिनप्रतिमा पूजन विधानों में पूर्णरूप से समानता है ।

वर्तमान में दिग्म्बर लोग तीर्थंकर की मात्र केवलज्ञान और सिद्धावस्थाओं (दोनों अवस्थाओं) को ही पूज्यमान कर बाकी अवस्थाओं की पूजाओं का निषेध करते हैं । परन्तु

5. तेईसवें तीर्थंकर श्री प्राश्वनाथ की सर्पफण वाली मूर्ति की पूजा—

यह मान्यता उनकी अपने ही शास्त्रों के विरुद्ध है । जिसका हम अगले प्रकाशों में समय-समय पर विस्तृत विवेचन करेंगे । यहाँ तो मात्र एक उदाहरण देना ही पर्याप्त है—

दिगम्बर पंथ के मंदिरों में तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ के सर्पफणवाली मूर्तियां भी विराजमान हैं और उन की पूजा भी की जाती हैं। यह प्रतिमा छद्मस्थ श्रमणावस्था में कमठ द्वारा किये गये उपसर्ग के निवारण के समय की धरणेन्द्र यक्ष द्वारा किये हुए सर्पफण वाली है।

6. पुरुषों के समान ही स्त्रियों को भी पूजा का अधिकार—

पुरुषों के समान ही स्त्रियों को भी जिनप्रतिमा का प्रक्षाल-अभिषेक-स्नान, विलेपन, टिक्की, पुष्प, अलंकारों आदि द्वारा जिनप्रतिमा की अंग पूजा का अधिकार है। उदाहरण रूप से—

(1) मुकुट सप्तमी पूजा कथा (2) मयणा सुन्दरी द्वारा सिद्धचक्र पूजा,

(3) पुष्पांजली पूजा के उल्लेख दिगम्बरों के साहित्य में विद्यमान हैं। जिन पूजाओं को स्त्रियों ने करके अपना कल्याण साधन किया है।

7. वर्तमान में श्वेतांबर दिगम्बर पूजा विधि में अन्तर क्यों ?

जिन प्रतिमा पूजन में काम आने वाले जल, पुष्प, फल, धूप, दीपक, आरती आदि अनेक द्रव्य ऐसे हैं जो सचित हैं। उन से पूजा करने से हिंसा होती है तथा मुकुट, कुंडल, रत्न मालाओं पुष्पमालाओं आदि से अलंकार पूजा भोग-परिग्रह का कारण मान कर इन पूजाओं को दोषपूर्ण मान कर वर्तमान दिगम्बर निषेध करते हैं। जो कि यह मान्यताएं उनकी भ्रांत, अज्ञानमूलक और मिथ्या हैं। जैनागम-सिद्धान्त के एक दम प्रतिकूल हैं। इस का विवेचन हम आगे करेंगे। उपयुक्त मान्यताओं के कारण ही ऐसे मत-भेदों का जन्म हुआ।

तथा मूर्ति मान्यता के विरोध में श्वेताम्बर-स्थानकेमार्गी तेरापंथ तथा दिगम्बर तारणपंथ आदि अनेक पंथों का प्रादुर्भाव हो जाने से मूर्तिपूजा के विरोध में बहुत बड़ा वावंडर खड़ा हो जाने के कारण जैनशासन को जो हानि उठानी पड़ी इन सब का विस्तृत विवरण आगे किया है।

जिनप्रतिमा पूजन विधि विरोधी पंथ दिगम्बर पंथोत्पत्ति

जैनधर्म में से समय-समय पर किन्हीं कारणों को लेकर अलग होने वाले श्रमणों ने अलग-अलग मत पंथ, संप्रदाय स्थापित किये। ऐसे सब मत, पंथ, संप्रदायों को जैनागमों में निन्हव कहा है। उन में से एक दिगम्बर पंथ भी है।

(1) चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर के 609 वर्ष में कृष्ण मुनि के शिष्य शिवभूति जिस का गृहस्थनाम सहस्रमल ने एकांत नग्नत्व को लेकर महावीर शासन से अलग होकर एक नये पंथ की स्थापना की। वह पंथ दिगम्बर मत के नाम से प्रसिद्धि पाया। दक्षिण में जा कर यापनीय संघ के नाम से विख्यात हुआ। (दिगम्बर भाई इस मतभेद को वि०सं० 136 में मानते हैं)।

इस पंथ के साधु एकदम नंगे थे और हस्तभोजी (दोनों हाथों में लेकर आहार करते) थे। वस्त्र-पात्रादि उपधि नहीं रखते थे। उपधि (उपकरण) जो

कि निरातिचार संयम साधना में अनिवार्य हैं। उन्हें परिग्रह मान कर त्याग कर दिया गया। तथापि शरीर, कमंडल, मोरपीछी, चटाई, पुस्तक, शिष्य आदि रखना स्वीकार किया। साधवी (आर्यिका) के लिये उपर्युक्त उपधि के अतिरिक्त सफेद साड़ी पहनने पर भी पांच महाव्रतधारिणी तथा उसके मोक्षपाने की मान्यता को कायम रखा। वर्तमान में यापनीय संघ विलुप्त हो चुका है।

(2) विक्रम की चौथी-पांचवीं शताब्दी में दिगम्बराचार्य कुंदकुंद ने यापनीय संघ से अलग नये दिगम्बर पंथ की स्थापना की और इस पंथ को मूलसंघ के नाम से घोषित किया। इस पंथ ने गृहस्थ केलिए सामायिक, प्रतिक्रमण आदि षट् आवश्यक, पौषध, पच्चाखाण आदि अनेक प्रकार की आत्म-कल्याणकारी धर्मानुष्ठाणों का, स्त्री मुक्ति, केवलि-भुक्ति, केवली की वाणी आदि अनेक बातों का एकदम निषेध कर दिया। यापनीय संघ भी इन्हीं आगमों को प्रमाणिक मानता था जिन्हें श्वेतांबर जैन प्रारम्भ से आज तक प्रमाणिक मानते आ रहे हैं। पर इस में दिगम्बर पंथ ने विक्रम की छठी शती में जब बहुत सी बातों का अन्तर बढ़ता गया तब इन प्राचीन आगमों को दिगम्बरों ने अप्रमाणिक कहकर छोड़ दिया और विच्छेद हो जाने की उद्घोषणा कर दी। नये ग्रन्थों की रचनाएं करके अपने पंथ की नये साहित्य का सर्वत्रिक प्रचार शुरू कर दिया। पर मूर्तिपूजा के विधि-विधानों में कोई फेर-फार न करके पूर्ववत् श्वेतांबर जैन जैसे मानते आ रहे हैं वैसे ही चालू रखा। (आज कल यह पंथ दिगम्बर बीसपंथ के नाम से प्रसिद्ध है) इस पंथ ने साधवी के महाव्रतों का निषेध करके श्राविका माना और तीर्थंकर भगवन्तों के साधु-साधवी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ के बदले त्रिविध संघ की मान्यता कायम की और इस पंथ के मुनि आर्याकओं के निमित्त बनाये हुए आधाकर्मी आहार लेने की प्रथा चालू की।

3-दिगम्बर तेरहपंथ (वनारसी मत) तथा तारणपंथ—विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में मुगलसम्राट अकबर के पुत्र जहाँगीर के समय में श्रीमाल जातीय गृहस्थ वनारसीदास ने अपने अन्य चार गृहस्थ साथियों के साथ दिगम्बर तेरहपंथ की आगरा में स्थापना की। इस पंथ ने तीर्थंकर प्रतिमा के पूजन में अभिषेक, फल, फूल, नैवेद्य आदि चढ़ाने तथा अंग पूजा, अलंकार पूजा का भी निषेध किया। इसने इस पूजा विधि विधानों में हिंसा तथा भोग माना और पाँचों कल्याणकों की पूजा को निषेध कर मात्र केवली तथा सिद्धावस्था की पूजा सूखे द्रव्यों से करने को स्वीकार रखा। इस पंथ की यह मान्यता भी है कि वर्तमान काल में जो दिगम्बर साधु हैं वे भी जैन त्यागमार्ग का पालन नहीं कर पा रहे अतः ये जैन साधु नहीं हैं।

4-विक्रम की 18 वीं शताब्दी में दिगम्बर तारणस्वामी ने अपना एक अलग मत स्थापित किया। इसने प्रतिमा पूजन का एकदम निषेध कर दिया पर दिगम्बर ग्रन्थों पर आस्था रखकर इन ग्रन्थों को पूज्य मानता है।

5. लुंका ढूँढिया मत

जैनधर्म में सदा से जिनमन्दिरों तथा जिनप्रतिमाओं की स्थापना-उपासना और पूजा चालू है। बड़े-बड़े आलीशान प्राचीन अर्वाचीन जैनमन्दिर, जैनतीर्थ, जैनगुफायें, जैनस्तूप और जैनतीर्थंकरों की मूर्तियाँ आज भी सर्वत्र विद्यमान हैं जो:

जैनधर्म का गौरव और प्राचीनता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। भारत में मूर्तिविरोधी विदेशी मुसलमानों के आक्रमणों से और उन का शासन स्थापित हो जाने पर विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में श्वेतांबर जैनधर्म में से सर्व प्रथम एक मूर्ति विरोधी पंथ का प्रादुर्भाव हुआ। जो आज स्थानकवासी मत के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस मत का संस्थापक एक गुजराती गृहस्थ लोकाशा था। प्रथम यह मत लुकामत के नाम से प्रसिद्धि पाया। पश्चात् इस पंथ के लवजी साधु ने विक्रम की 18 वीं शताब्दी में ढूँढक मत, तथा बाईस टोला नाम दिया। फिर श्रमणोपासक और आजकल स्थानकवासी नाम से भारत में सर्वत्र विद्यमान हैं। विक्रम की 18 वीं शताब्दी के अन्त में भीखन जी ढूँढक साधु ने एक नये पंथ की स्थापना करके मूर्तिपूजा के विरोध के साथ दान और दया का भी निषेध करके तेरहपंथ की स्थापना की और 16 वीं से 18 वीं शताब्दी के बीच दिगम्बरों में भी तेरहपंथ, तारणपंथ आदि स्थापित हो गये जिनका विवरण हम पहले कर चुके हैं। मुसलमानों की संस्कृति का दूषित प्रभाव अनेक व्यक्तियों पर पड़ चुका था। अनेक अज्ञान व्यक्तियों ने बिना कुछ सोचे समझे अनार्य संस्कृति का अन्धानुकरण कर के मन्दिरों और मूर्तियों को क्रूर दृष्टि से देखना शुरु किया

उपर्युक्त जैनों के मूर्तिविरोधक पंथों के सिवाय, सिखों में गुरुनानक, जुलाहों में कबीर, वैष्णवों में रामानुज और अंग्रेजों में मार्टिनल्युथर आदि अनेक व्यक्तियों ने संस्कृति कला, सभ्यता, इतिहास के स्तम्भ रूप मन्दिरों और मूर्तियों के विरुद्ध जिहाद शुरु कर दिया और ईश्वर की उपासना के लिए इन जड़ पदार्थों की कोई जरूरत नहीं है, ऐसी घोषणा करके मूर्तियों द्वारा अपने-अपने इष्ट देवों की उपासना करने वालों को आत्म कल्याण के मार्ग से छूड़ा दिया। इसी प्रकार आर्य समाज संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी मूर्तिमान्यता के विरोध में अपनी शक्ति को विशेष रूप से लगा दिया।

यहाँ तो मात्र जैनधर्म की दृष्टि से मूर्ति मान्यता के महत्त्व पर विचार करना है। इसलिए इसके विरोध में जो जो शंकायें उपस्थित की जाती हैं उन्हीं का समाधान करते हैं।

मूर्ति पूजा से लाभ

मूर्ति पूजा की भावनाओं ने बड़े-बड़े उत्कर्ष किए। मूर्तिपूजा के निमित्त देश में लाखों मन्दिर बने, शिल्प कला का खूब विकास हुआ। मूर्ति पूजा ने लोगों में विस्तृत धर्म भावना उत्पन्न की और उस के निमित्त लोगों को अपनी सम्पत्ति विनिमय करने का अवसर प्राप्त हुआ। जिसके परिणाम स्वरूप त्याग और उदारता के उच्च गुणों का विकास हुआ। मूर्तिपूजा ने गाँव-गाँव, नगर-नगर में सार्वजनिक

1-2 दिगम्बर ढूँढकादि पंथों की विशेष जानकारी के लिए देखें—

“मध्यएशिया और पंजाब में जैनधर्म” नामक इतिहास ग्रंथ को

स्थानों की सृष्टि की और उसके योग से सब समान-धर्मियों को बिना संकोच और बिना भेदभाव के तथा आंमत्रित किये बिना एक स्थान में सदा एकत्रित होने का एवं उनके द्वारा अपनी विविध जीवन प्रवृत्तियों को व्यवस्थित बनाने का उत्तम तथा सरल साधन मिला। मूर्तिपूजा के कारण भक्तिभावना का अभिष्ट आविर्भाव हुआ और उसके लिये साहित्य तथा संगीत-नृत्य कला का अनेक अंशों में उच्च विकास हुआ। मूर्तिपूजा ने निराधारों को आधार दिलाकर, अनाथों को सनाथ बनाकर, पापियों को पुण्यात्मा बना कर, मानव जाति को बहुत शांति दी है और विशेषकर जैनों को मूर्तिपूजा द्वारा तो तीर्थकरों के जन्म, दीक्षा, तप, विहार (श्रमण स्थल), केवलज्ञान निर्वाण आदि के वास्तविक स्थानों को संरक्षण प्राप्त हुआ, जो दूसरों को नसीब नहीं है। मूर्तिपूजा ने प्राचीन और नवीन साहित्य की शृंखला को जोड़कर चिरस्थायी रखने में महत्वपूर्ण सहयोग दिया है। मूर्तिपूजा ने भारतीय संस्कृति, सभ्यता, इतिहास तथा मानव के आदर्शों को चित्रित करके अक्षुण्ण रखा है। मूर्तिपूजा ने तीर्थकर भगवन्तों श्रमणों आदि के जीवन सम्बन्धी अनेक घटनाओं का, भक्ति और उनके संरक्षण का समावेश है। स्नात्र, अष्टप्रकारी, पंचोपचारी, सत्तरहभेदी, पंचकल्याणक, नानावे प्रकारी, सर्वोपचारी अलंकार आंगी आदि पूजाएं भी आगमविहित होने के कारण निर्दोष भक्ति का कारण हैं। इन में आडम्बर, हिंसा, परिग्रह आदि की गन्तक नहीं है। परन्तु ऐसी पूजाओं से तीर्थकर भगवन्तो के गर्भावस्था से ले कर निर्वाण तक के संपूर्ण जीवन वृत्तों की ज्ञांकी के संक्षिप्त दर्शन तथा ज्ञान होता है। और उनको उत्कृष्ट राज्य लक्ष्मी, कुटुम्ब कबीला ऋद्धि आदि प्राप्त होने पर भी उसे असार समझकर तृणवत् त्याग के आदर्श और संसार की चल लक्ष्मी की असारता की भावना होती है। संसार से विरक्ति प्राप्त करके सर्व संमत्याग करके भव्य प्राणि अणगारी बन कर श्रमण रूप में मोक्षगमेयी बन जाता है। मूर्ति अलंबन रूप है उस के द्वारा उपास्य के साक्षात् दर्शनों की अनुभूति होती है, उनके गुणों का स्मरण हो जाता है।

इसके द्वारा उपासक एकाग्रता प्राप्त कर उपास्य को पा सकता है। यह ईश्वरोपासना का निमित्त मात्र है। साक्षात् ईश्वर नहीं। मूर्ति को सर्व शक्तिमान ईश्वर मानकर अपने भाग्य को उसी के भरोसे छोड़कर जब मानव अकर्मन्य बनने लगा तब ऐसी गलतधारणा के कारण उत्कर्ष के बदले दूसरी तरफ अपकर्ष भी अवश्य हुआ है। इस में संदेह नहीं। इस से स्पष्ट है कि मूर्ति के विषय में मानव की गलत धारणा के कारण ही अपकर्ष हुआ है न कि मूर्ति से।

मूर्ति पूजा ने तो धर्म को स्थाई रखने में, एक—धर्मानुयायियों के संगठन में अलौकिक योगदान दिया है। जहां धर्मोपदेशक संत पहुंचने में भी अपने आप को असमर्थ पाते हैं, ऐसे उच्च पर्वतशिखरों पर, समुद्रपार बहुत दूर देशों तक, कंदराओं खाइयों में, तथा पढ़ों-अनपढ़ों को वहां के जिनमंदिर और जिनप्रतिमाओं की उपासना ने ही धर्म में चुस्त तथा दृढ़ रखने में अलौकिक योगदान दिया है। यदि ये न होते तो सब क्षेत्र जंगली जातियों के समान ही पिछड़ जाते। जहां यातायात के साधन नहीं हैं धर्मगुरुओं तथा धर्मग्रंथों का भी अभाव है वहां के लोगों में भी धर्मसंस्कारों को अक्षुण्णरूप से स्थाई रखने में मूर्ति पूजा को ही गौरव प्राप्त है।

छठ्ठा प्रकाश

क्या प्रतिमा पूजन में हिंसा, आडम्बर, भोग-परिग्रह आदि दोष हैं ?

मूर्तिपूजा के विरोध में विशेष रूप से कहा जाता है कि—

1. पूजा में संचित जल, फूल, फल, धूप, दीप, आरती आदि द्रव्यों के उपयोग से हिंसा होती है एवं अलंकार आंगी आदि की पूजा से तीर्थंकर भोगी और परिग्रही हो जाते हैं। अतः इन द्रव्यों का उपयोग जिनप्रतिमा के पूजन में करना सर्वथा अनुचित है।

2. पंचमी, अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व तिथियों के दिन अथवा पर्यूषण आदि महापर्वों में जब सञ्जियाँ आदि संचित आहार का श्रमणों तथा श्रावकों को त्याग होता है तब उन दिनों में भगवान की पूजा में ऐसे संचित द्रव्य चढ़ाने में दोष क्यों नहीं ?

3. तीर्थंकर प्रभु तो सर्वथा त्यागी हैं ऐसी अवस्था में उनकी पूजा में द्रव्यों का उपयोग करना अनुचित है।

4. यदि द्रव्यपूजा में हिंसा नहीं है तो साधु के लिए द्रव्य पूजा का निषेध क्यों ?

इन प्रश्नों का समाधान करने से पहले आवश्यक है कि—हिंसा-अहिंसा के स्वरूप को सपझ लिया जावे, ताकि वस्तुस्थिति को भली-भांति समझा जा सके और मूर्तिपूजा के विरोध में किये गये इन कुतर्कों तथा कुयुक्तियों में कितनी निःसारता है उसे भी समझा जा सके।

हिंसा-अहिंसा का स्वरूप

अहिंसा अन्य व्रतों की अपेक्षा प्रधान व्रत होने से तथा अन्य व्रत इसकी पूर्ति के लिये होने से उसका व्रतों में प्रथम स्थान है। खेत की रक्षा के लिये जैसे वाड़ होती है वैसे ही अन्य सभी व्रत अहिंसा की रक्षा के लिये हैं। इसीलिये अहिंसा की प्रधानता मानी गई है।

निवृत्ति और प्रवृत्ति में व्रत के दो पहलू हैं। इन दोनों के होने में ही व्रत पूर्ण बनता है। सत्कार्य में प्रवृत्ति होने में व्रत का अर्थ है कि उसके विरोधी असत्कार्यों से पहले निवृत्त हो जाना, यह अपने आप प्राप्त होता है। इसी तरह असत्कार्यों से निवृत्त होने का मतलब है उसके विरोधी सत्कार्यों में मन, वचन, काया की प्रवृत्ति करना। यह भी स्वतः प्राप्त है।

हिंसा का स्वरूप

वाचक उमास्वाती ने तत्त्वार्थसूत्र अध्याय 7 में हिंसा का स्वरूप इस प्रकार कहा है—

“प्रमत्त-योगात्-प्राण-व्यपरोपणं हिंसा ।”

अर्थ—प्रमत्तयोग से होने वाला जो प्राण वध-वह हिंसा है। इस सूत्र में रागद्वेष-युक्त किंवा अयत्नाचार (असावधानी-प्रमाद) के सम्बन्ध से अथवा प्रमादी जीव के मन, वचन, काया योग से ‘प्राणव्यपरोपणं’ जीव के भावप्राण का, द्रव्यप्राण का अथवा इन दोनों का वियोग करना हिंसा कहा है। इस सूत्र में प्रमत्तयोगात् शब्द भाववाचक है। वह यह बतलाता है कि प्राणों के वियोग से होनेवाली हिंसा मात्र से बंध नहीं परन्तु प्रमाद भावहिंसा है और उससे पाप का बंध है। शास्त्रों में कहा है कि—
“न च सत्त्वपि व्यपरोपणेऽर्हदुक्तेन यत्नेन परिहन्त्याः प्रमादाभावे हिंसा भवति । प्रमादो हि हिंसा नाम । अन्यथा पिण्डोपधि-शय्यासु स्थान-शयन गमना-ऽऽकुंचन-प्रसारण ऽऽमर्शनादिषु च शरीरं क्षेत्रं लोकं च परिभुंजादो ।’

“जले जन्तुः स्थले जन्तुराकाशे जन्तुरेव च ।

जन्तुमालाकुले लोके कथं भिक्षुरहिंसकः ॥” (तत्त्वार्थ राजवार्तिके)

हिंसकत्वेऽपि अर्हदुक्तयत्नयोगे न बन्धः । तद्विरहे एव बन्धः ।

तथाच पठन्ति—“जियउ व मरउ व जीवो अजयाचारस्स निच्छओ बंधो ।

पययस्स नत्थि बंधो हिंसामित्तेण दोसेण ॥

अजयं चरमाणस्स पाणभूयाणि हिंसओ ।

बज्झए पावए कम्मे से होति कडुगे फले ॥

जयं तु चरमाणस्स दयाविक्खस्स भिक्खुणो ।

नवे न बज्झए कम्मे पोरणे य विधूयए ॥

भावार्थ—श्री अरिहंत भगवन्तों के फरमाये हुए प्रमादाभाव यत्नपूर्वक आचरण से होने वाले प्राणवध की हिंसा नहीं है। कारण यह है कि प्रमाद ही हिंसा है। यदि प्राणवध मात्र को हिंसा मानेंगे तो ईर्यासिमिति वाले मुनि जब आहार, पानी, उपकरण, शय्या आदि के लिये जाना आना हलन-चलन, आकुंचन-प्रसारण, अनुमति आदि कार्यों में शरीर क्षेत्र भी लोकादि में कार्यकलाप करते हैं तो जल में, स्थल में, आकाश में यहां तक कि सर्वत्र लोक अन्तान्त सूक्ष्म जीवों से भरा है, ऐसे जगत में साधु अहिंसक कैसे? प्राणीवध हो जाने पर भी श्री अरिहंत भगवन्तों की बतलायी हुई जयना (यत्ना, सावधानी) के योगपूर्वक आचरण करने से पाप का बन्ध नहीं होता। अयतनाचार (प्रमादाचरण) से ही बंध है। कहा भी है कि—जीव मृत्यु पावे अथवा न पावे पर अयतनाचारी (प्रमादी) को अवश्य (हिंसा का दोष लगता है जिससे) पाप का बंध होता है। प्राणवध मात्र के दोष से अप्रमादिको बन्ध नहीं होता। अयतनापूर्वक आचरण करने से प्राणियोंके प्राणवध का भिक्षु भागी बनता है और पाप-कर्म का बन्ध करता है। जिसका उसे दुःख विपाक भोगना पड़ता है। तथा यतनापूर्वक आचरण करने वाला दयावान भिक्षु (मुनि) नये कर्मों का बन्ध नहीं करता और पुराने कर्मों को नाश कर देता है।

कहने का सारांश यह है कि हिंसा की सदोषता भावना पर अवलम्बित है।

भावना खराब (प्रमादवाली) हो तभी उसमें होने वाला प्राणवध दोष रूप है और यदि आना वना वैसी न हो तो ऐसा प्राणवध भी दोष रूप नहीं है। कहा भी है कि—

“शरीरी-स्त्रियतां मा वा, ध्रुवं हिंसा प्रमादिनः ।

सा प्राणव्यपरोऽपि प्रमाद रहितस्य न ॥१॥”

अर्थात्—प्राणी मृत्यु पावे अथवा न पावे पर परमादो को निश्चय ही हिंसा होती है और यदि प्राणी का नाश कदाचित् हो भी जावे तो प्रमाद रहित को हिंसा नहीं लगती। इसलिये ईयांसमिति वाले मुनि के आने-जाने, हलन-चलन, गमनागमन आकुंचन प्रसारण, उठने बैठने आदि से यदि कोई जीव दबकर मर भी जावे तो वहाँ उस मुनि को उस जीव की मृत्यु के निमित्त ज़रा भी बन्ध नहीं होता। क्योंकि उसके भाव में प्रमाद योग नहीं है।

प्रश्न—चाहे जीव मरे या न मरे तो भी प्रमाद के योग से (अयत्नाचार से) हिंसा होती है तो फिर यहाँ सूत्र में ‘प्राणव्यपरोपणं’ इस शब्द का किस लिये प्रयोग किया है।

उत्तर—प्रमाद योग से जीव के अपने भावप्राणों का आघात (मरण) अवश्य होता है। प्रमाद में प्रवर्तने से प्रथम तो जीव अपने ही शुद्ध भाव-प्राणों का वियोग करता है। फिर वहाँ अन्य जीव के प्राणों का वियोग (व्यपरोपण) हो या न हो, तथापि अपने भाव-प्राणों का वियोग तो अवश्य होता है। यह बतलाने के लिए ‘प्राणव्यपरोपणं’ शब्द का प्रयोग किया है।

जिस व्यक्ति के क्रोधादि कषाय प्रकट होता है उसके अपने शुद्धोपयोग रूप भाव-प्राणों का घात होता है। कषाय के प्रकट होने से जीव के भाव-प्राणों का तो ‘व्यपरोपणं’ होता है सो भावहिंसा है और इस हिंसा के समय यदि प्रस्तुत जीव के प्राण का वियोग हो तो वह द्रव्यहिंसा है। कहा भी है कि—

“अशुद्धोपयोगोऽन्तरङ्गच्छेदः, परप्राणव्यपरोपो बहिरङ्गः । तत्र परप्राण-व्यपरोप सद्भावे तदसद्भावे वा तदविनाभावे प्रमताचारेण प्रसिध्यद शुद्धोपयोग सद्भावस्य सुनिश्चित हिंसाभावप्रसिद्धेः तथा तद्विनाभाविना प्रमताचारेण प्रसिध्यद शुद्धोपयोगासद्भावपरस्य परप्राणव्यपरोपसद्भावेऽपि बन्धाप्रसिद्धया सुनिश्चित हिंसाभाव-प्रसिद्धेश्चान्तरङ्ग एव छेदो बलीयान् न पुनर्बहिरङ्गः । एवमप्यन्तरङ्गेश्चाय-तनमात्रत्वाद् बहिरङ्गच्छेदोऽभ्युपगम्येतैव (प्रवचनसार वृत्तौ)

यदि कोई जीव दूसरे को मारना चाहता हो परन्तु ऐसा प्रसंग न मिलने पर नहीं मार सका, तो भी उस जीव की हिंसा का पाप लगा। क्योंकि यह जीव प्रमाद-भाव सहित है और प्रमादभाव ही भावप्राणों की हिंसा है।

यहाँ योग का अर्थ संबंध होता है। ‘प्रमत्तयोगात्’ का अर्थ है प्रमाद के संबंध से होने वाला प्राणवध हिंसा है।

“मज्जं-विसय-कसाया-निहा-विकहा य पंचमी भणिया”

प्रमाद के 15 भेद हैं—4 विकथा (स्त्री कथा, देश कथा, राज कथा, भोजन

कथा), 1. मद—मतवालापन, अयतना, लापरवाही, 5 इन्द्रियों के विषय (रूप, रस, गंध, वर्ण, स्पर्श) 4 कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ), 1 निन्द्रा, इनमें से किसी एक अथवा अनेक के संबंध से होने वाला भाव अथवा द्रव्य प्राण वध हिंसा है। जो अप्रमाद से अर्थात् जयना और उपयोग से कार्य करता है उससे कदाचित् जीववध हो जाय तो भी उसे भाव से जीव-हिंसा का दोष नहीं लगता।

दृष्टांत 1—नदी में उतरने वाले साधु को यत्ना और उपयोग सहित पानी में उतरने पर भी अप्काय जीवों की विराधाना भाव-हिंसा का कारण नहीं है। जैन शास्त्रों की मान्यता है कि पानी की बूंद में असंख्यात् जीव हैं। यदि सेवाल वाला पानी हो तो उसमें अनन्त जीवों का विनाश संभव है। यदि नदी उतरने वाला मुनि प्रमादी हो तो उसे हिंसा का दोष लगता है अप्रमादी को नहीं।

2—श्री भगवती सूत्र में कहा है कि केवल-ज्ञानी को गमनागमन से तथा नेत्रों के चलनादि से बहुत जीवों का घात होता है। परन्तु उन्हें मात्र योग द्वारा ही बंध होने से प्रथम समय में कर्म बांधते हैं, दूसरे समय वेदते हैं और तीसरे समय निर्जरा कर देते हैं। और भी कहा है—

यदि संकल्पतो हिंसा-मन्यस्योपरि चिन्तयेत् ।

तत्पापेन निजात्मगहे दुःखावनौ च पाल्यते ॥1॥

जं जं समयं जीवो आवस्सइ जेण जेण भावेण ।

सो तंमि तंमि समये सुहामुहं बंधए कम्मं ॥2॥

अर्थात्—जो प्राणी संकल्प से दूसरे के ऊपर हिंसा का चिंतन करता है तो पाप से वह अपनी आत्मा को ही दुःख की भूमि में गिराता है। जिस जिस समय जीव जिस जिस भाव में होता है वैसे ही शुभाशुभ कर्म बांधता है। और भी कहा है कि—

चउदसपुट्ठि आहारगार्यं, मणनाणि वीयरारा वि ।

हुंति पमाय परवसा तयणंतरमेव चउगइया ॥3॥

अर्थात्—चौदहपूर्वधर, आहारक शरीर का घनी, मनःपर्यवज्ञानी, तथा उपशांतमोही वीतराग (ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती) भी प्रमाद के वश होकर चारों गतियों में भ्रमण करते हैं।

श्री आचारंग सूत्र में कहा है कि—

“पमत्तस्स सव्वओ भयं, अपमत्तस्स वि न कुतो भयमिति ॥”

अर्थात्—प्रमादी को सब भय हैं किंतु अप्रमादी को कहीं भी भय नहीं है। इसी लिए शास्त्रीय परिभाषा में ऐसी हिंसा को द्रव्य हिंसा किंवा व्यवहारिक अथवा स्वरूप हिंसा कहा है। इस हिंसा का अर्थ इतना ही है कि इस द्रव्य हिंसा में स्वेच्छा नहीं, इच्छा भी नहीं, भावना भी नहीं है। यह स्वाभाविक है। ऐसी हिंसा तो हर समय होती ही रहती है। यह तो केवली को भी होती है। ऐसी हिंसा को रोक पानव शक्ति से बाहर है।

इसके विपरीत प्रमत्त योग रूप जो भावना है, वह स्वयं ही दोष रूप है स्वाधीन होने से। वह इरादापूर्वक होनेवाली हिंसा है। इसलिए इसे अनुबन्धहिंसा भी कहते हैं। ऐसी हिंसा से निवृत्त होना ही अहिंसा है। (1) प्रवृत्ति (आवश्यकताओं) को कम करना, (2) प्रतिक्षण सावधान रहना (3) कोई भूल हो जाय तो वह ध्यान से ओझल न हो सके ऐसी दृष्टि को बना लेना। (4) स्थूल जीवन की तृष्णा और उसके कारण पैदा होने वाले जो दूसरे रागद्वेषादि दोष हैं उन्हें कम करने का सतत प्रयत्न करना।

सारांश यह है कि जिससे कठोरता-कटुता न बढ़े, सहज प्रेममय वृत्ति तथा अंतर्मुख जीवन में जरा भी बाधा न पहुंचे, तब भले ही देखने में हिंसा हो, वह दोष-रहित अर्थात् अदोष है।

हिंसा की चौभंगी

1. द्रव्य से और भाव से हिंसा—मन से हिंसा का संकल्प भी करे और हत्या भी करे।

2. द्रव्य से हिंसा है, भाव से नहीं—मन में हिंसा की भावना-संकल्प न होते हुए भी हत्या हो जाना। यह हिंसा ईर्यासमिति वाले साधु को जानें।

3. भाव से हिंसा है द्रव्य से नहीं—मन में हिंसा का संकल्प है, पर हत्या कर नहीं पाता। जैसे अघरे में रस्सी को सांप समझकर उसे काटना आदि।

4. द्रव्य से भी हिंसा नहीं भाव से भी हिंसा नहीं है—मन वचन काया की शुद्धि से शुद्ध उपयोग में रहने वाले साधु को होती है।

सारांश यह है कि नम्बर 1 और 3 ये दोनों प्रकार को हिंसा-हिंसा की कोटि में आती हैं। क्योंकि यह भाव से हिंसा है। इन दोनों में जीव की हत्या का संकल्प और भावना है। इस लिये यह हिंसा है।

परन्तु नं० 2 और 4 ये दोनों हिंसा की कोटि में नहीं आतीं, क्योंकि इसमें हिंसा का इरादा नहीं है।

संक्षेप में कहें तो मन में अप्रमत्तता, वचन से अनेकान्तता तथा शरीर से अप-रिग्रह तीनों के संयोग में अहिंसा का स्वरूप निहित है।

साधु की अहिंसा का स्वरूप

थूल सुष्ठुमा जीवा, संकप्यारंभओ अ ते दुविहा।

सावराह निरावराह, सावक्खा चेव निरवक्खा ॥1॥

अर्थात्—1. जीव दो प्रकार के हैं (1) स्थूल-द्वीन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक तस जीव और (2) सूक्ष्म-पृथ्वीकाय, अप् (जल) काय, तेऊ (अग्नि) काय, वायुकाय तथा वनस्पतिकाय। ये पांच प्रकार के एकेन्द्रिय स्थावर जीव।

2. इनका वध दो प्रकार से सम्भव है (1) संकल्प से अर्थात् इरादे से-भावना से, प्रमाद से होने वाला प्राणवध-संकल्पजन्य हिंसा है इसे भाव हिंसा भी कहते हैं। और (2) आरम्भ से अर्थात्—बिना इरादे, बिना भावना से, बिना संकल्प से, बिना

प्रमत्तता से काम-काज आदि करने से हलन-चलन तथा चलने-फिरने से अथवा जीवन-निर्वाह, कुटुम्ब के लिए इत्यादि से होने वाला जीववध ।

3. संकल्पी हिंसा भी दो प्रकार की हैं (1) अपराधी जीव की हिंसा (2) निरापराधी जीव की हिंसा (1) चोर, डाकू, हत्यारा, किसी की बहू, माता, बहन आदि का अपहरण अथवा उनको चरित्र से भ्रष्ट करनेवाले आदि अपराधी प्राणी का वध (2) निर्दोष निरापराधी प्राणी का वध ।

निरापराधी की हिंसा भी दो प्रकारकी है—(1)सापेक्ष, और (2) निरपेक्ष । (1) सापेक्ष अर्थात् कोई खास आवश्यकता परिस्थितियों में किया जाने वाला प्राणीवध और (2) निष्प्रयोजन किये जाने वाला प्राणीवध—यह निरपेक्ष हिंसा है ।

जैन धर्म में अहिंसा आदि को आचरण में लाने वाले अपराध के त्यागियों को दो श्रेणियों में बाँटा है (1) सागार (2) अणगार ।

(1) सागार अर्थात् अल्पत्यागी गृहस्थ-स्त्री, पुरुष तथा (2) अणगार अर्थात् सम्पूर्ण त्यागी-साधु, साध्वी ।

साधु-साध्वी सम्पूर्ण हिंसा के त्यागी हैं अर्थात् वे तस और स्थावर दोनों प्रकार के जीवों की हिंसा के सर्वथा त्यागी होते हैं । संकल्प और आरंभ से, अपराधी और निरापराधी, एवं सापेक्ष और निरपेक्ष सब प्रकार की हिंसा का त्याग करके सर्वप्राणा-तिपात विरमण रूप अहिंसा महाव्रत को धारण करते हैं ।

गृहस्थ-श्रावक-श्राविका के लिए ऐसी सूक्ष्म हिंसा का त्याग असम्भव है । क्योंकि ऐसी सूक्ष्म अहिंसा का पालन करने से उसे अपना, अपने कुटुम्ब परिवार आदि के जीवन को टिका रखना ही असम्भव है । ऐसा होने से न तो वह अपना, न अपने परिवार का, न अपने धर्म, समाज, देश, विश्व का व्यवहार ही चला सकता है और न निर्वाह ही कर सकता है । न खेतीबाड़ी आदि जीवनोपयोगी कार्य कर सकता है और न ही राज्यसत्ता आदि का संचालन-पालन कर सकता है । अतः वह अहिंसादि व्रतों को बड़े स्थूल रूप से ही स्वीकार कर जहाँ तक एक तरफ अपने जीवन निर्वाह को सुगम बनाता है । वहाँ वह सदाचारी बनकर अपने, अपने परिवार, समाज, देश, तथा विश्व में चिरस्थायी शांति और व्यवस्था के बनाए रखने के लिए सक्रिय सहयोग भी देता है । इन स्थूलव्रतों को ग्रहण करने वाला गृहस्थ होता है । इन स्थूल-व्रतों को शास्त्रीय परिभाषा में देशव्रत कहते हैं । इस का अर्थ है अल्पव्रत अथवा छोटा व्रत । ऐसे व्रतों को धारण करने वाले पुरुष को श्रावक तथा स्त्री को श्राविका कहते हैं । अथवा सागारी भी कहते हैं ।

गृहस्थ की अहिंसा का स्वरूप

अहिंसा-हिंसा के स्वरूप को “थूल सुहुमा” वाली आगम की गाथा से लिख आये हैं । उसे पूर्ण रूप से स्वीकार करने वाले मनुष्य के अणगार कहते हैं । पुरुष को साधु तथा स्त्री को साध्वी कहते हैं । अणगार पांच महाव्रतधारी तथा रात्री भोजन त्यागी

होते हैं। जैसा कि—(1) सर्व प्राणातिपात विमरण (अहिंसा) महाव्रत, (2) सर्वमृषा-वाद विमरण (सत्य) महाव्रत, (3) सर्वअदत्तादान विमरण (अचोर्य) महाव्रत, (4) सर्वमैथुन विमरण (ब्रह्मचर्य) महाव्रत, (5) सर्वपरिग्रह विमरण (अपरिग्रह) महाव्रत, इन पांच महाव्रतों को ग्रहण करने वाला तथा रात्रीभोजन का त्यागी-मुनि, साधु, यति, अणगार, श्रमण, निर्ग्रंथ, भिक्षु आदि नामों से संबोधित होता है।

अब यहां गृहस्थ-श्रावक धर्म की अहिंसा का स्वरूप बतलाते हैं। (1) गृहस्थ के लिए पृथ्वीकाय आदि पांच स्थावरों की हिंसा का त्याग संभव नहीं है। क्योंकि खेती बाड़ी करना, रसोई आदि बनाना, बाग-बगीचा आदि लगाना, मकान, दुकान आदि का निर्माण करना, नगर आदि बनाना, बसाना इत्यादि कार्यों में स्थावर प्राणियों की हिंसा को रोकना कठिन ही नहीं किंवा असंभव है। यदि ऐसी सूक्ष्म हिंसा का त्याग गृहस्थ कर दे तो वह न स्वयं ही जीवित रह सकता है और न कुटुम्ब के प्राणियों का निर्वाह ही संभव है। मिट्टी, अग्नि, जल, वायु, वनस्पति का प्रयोग इसे जीवन के क्षण-क्षण में चाहिए अतः श्रावक के व्रत में सूक्ष्म हिंसा का त्याग नहीं है।

(2) गृहस्थ के लिए स्थूल व्रस (चलने, फिरने, उड़ने वाले) द्विन्द्रिय से पंचेन्द्रिय प्राणियों की संकल्प-जन्य तथा आरंभ-जन्य हिंसाओं में से आरंभ-जन्य हिंसा का त्याग संभव नहीं है। क्योंकि खेती बाड़ी, व्यापार, क्रय, विक्रय करने—एक जगह से दूसरी जगह माल को जाने, लाने, मकान आदि निर्माण कार्यों में हिंसा का संकल्प-भावना के न होने पर भी व्रस-स्थूल प्राणियों की हिंसा हो ही जाती है। अतः इस दोनों प्रकार की हिंसा में से मात्र संकल्पजन्य हिंसा के व्रत में त्याग संभव होने में मात्र संकल्पजन्य हिंसा का त्याग होता है।

3. गृहस्थ के लिए स्थूल (व्रस) जीवों की संकल्पजन्य हिंसा के त्याग में भी सापराधी और निरपराधी अर्थात् अपराधी और निरपराधी हिंसा में से अपराधी की हिंसा का त्याग संभव नहीं है। कारण यह है कि कोई भी गुण्डा, बदमाश, चोर, डाकू, हिंसक, दुश्चरित्र, आक्रमणकारी इत्यादि दुर्गुणी प्राणी अथवा देशी, विदेशी आक्रमणकारी अथवा धर्मद्रोही, देशद्रोही, समाजद्रोही जो अनिष्टकर्ता हैं उनसे अपनी, अपने परिवार की, अपने धर्म की व्यवस्था को कायम रखने के लिये, अपनी, समाज की, नगर की, देश को सुरक्षा करते हुए व्रस जीवों की संकल्पजन्य हिंसा संभव है। अतः गृहस्थ के व्रत में व्रस प्राणी की संकल्पजन्य हिंसा में अपराधी की हिंसा का भी त्याग नहीं किया जा सकता।

4. गृहस्थ के लिये निरपराधी की भी सापेक्ष और निरपेक्ष दो प्रकार की हिंसा है। सापेक्ष अर्थात् अपेक्षा सहित अनिवार्य आवश्यकता होने पर तथा निरपेक्ष अर्थात् अनावश्यक निष्प्रयोजनीय हिंसा। श्रावक-श्राविका के लिये सापेक्ष-हिंसा का त्याग भी संभव नहीं है। परिवारादि में रोग के कारण शरीर में कीड़े आदि के पड़ जाने पर अथवा पालतू पशु पक्षियों के गरीब, अंग, प्रत्यंग में कीड़े आदि पड़ जाने के कारण

रोगी प्राणी की चिकित्सा में उन निरपराध त्रस प्राणियों का वध भी संभव है। अथवा स्वच्छता को कायम रखने के लिये गंदगी आदि की सफाई करने-कराने से भी निरपराध त्रस प्राणियों का वध संभव है। इसलिये श्रावक के अहिंसा व्रत में सापेक्ष हिंसा का भी त्याग सम्भव नहीं है।

सारांश यह है कि (1) स्थूल और सूक्ष्म हिंसा में से गृहस्थ को सूक्ष्म हिंसा का त्याग न होने से साधु की सम्पूर्ण अहिंसा में आधी का अभाव होने से यदि साधु की अहिंसा के बीस अंश माने जावें तो श्रावक की अहिंसा के दश अंश रहे अर्थात् 10/20 (दसविसवा) अहिंसा रही। (2) स्थूल अहिंसा के भी दो विभाग हैं—संकल्पजन्य और आरम्भजन्य। आरम्भजन्य हिंसा का त्याग नहीं होने से 5/20 (पांच विसवा) अहिंसा रही। (3) संकल्प जन्य अहिंसा के भी सापराधी-निरपराधी दो विभाग होने से अपराधी की हिंसा का त्याग नहीं होने से (ढाई विसवा) अहिंसा रही। निरपराधी हिंसा के भी सापेक्ष-निरपेक्ष दो विभाग होने से गृहस्थ को सापेक्ष हिंसा का त्याग न होने से (सवा विसवा) अहिंसा रही अथवा साधु की अहिंसा का सोलहवां भाग अहिंसा पालन करने का व्रत अवश्य धारण करना होता है। अतः श्रावक के अहिंसा अणुव्रत में निरपेक्ष निरपराध स्थूल (त्रस) जीवों की सकल्पपूर्वक हिंसा के त्याग का विधान है। ऐसी अहिंसा के पालन में यदि श्रावक-श्राविका को प्रमादवश कोई स्वलना हो गई हो तो उस में अतिचार लगता है और जान बूझकर की हो तो व्रत भंग का दोष लगता है, इसपर से यही फलित होता है अथवा

(1) संकल्पी (2) आरंभी, (3) उद्योगी (4) विरोधी यह चार प्रकार की हिंसा है।

(1) किसी निरपराधी प्राणी की जान बूझकर हिंसा करना संकल्पी हिंसा है। (2) घर, दुकान, खेत आदि के आरम्भ, समारंभ में रसोई आदि प्रवृत्तियों में, पूजा आदि में यत्नाचार (सावधानी) रखने पर भी त्रस जीवों की जो हिंसा होती है वह आरम्भी हिंसा है। (3) द्रव्योपाजन में जो त्रस जीवों की हिंसा होती है वह उद्योगी हिंसा है। (4) दुष्ट नराधम के आक्रमण से रक्षा के लिये उस का जो वध किया जाता है, वह विरोधी हिंसा है। इन चार प्रकार की हिंसा में से संकल्पी हिंसा तो गृहस्थ के लिये सर्वथा वर्ज्य है। उपर्युक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि गृहस्थ के लिये इस अहिंसा अणुव्रत में श्री वीतारण-सर्वज्ञ-तीर्थकर भगवन्तो ने कितनी दीर्घदृष्टि से सब प्रकार के लाभालाभ का सांगोपांग विचार कर मानव जीवन के लिये उपयोगी बनाया है। यहां एक दृष्टांत से इस व्रत की उपयोगिता बताकर हिंसा-अहिंसा के प्रकरण को समाप्त करेंगे।

दो प्रकार के अपराधी

एक नगर में एक गृहस्थ ब्राह्मण रहता था। वह नित्य प्रति धर्मानुष्ठान, यम, नियम, तप, जप, भगवद् पूजा, संध्या आदि करता था। उसे वेद, पुराण आदि सब

कंठस्थ भी थे। नगरवासी उसे ब्राह्मणदेवता के नाम से पुकारते थे। वह पत्नी, भरा-पूरा परिवार, धन-दौलत, चल-अचल सम्पत्ति आदि सब प्रकार से सम्पन्न था। पर था कापुरुष, डरपोक और परिवार में कलहप्रिय। वह स्वयं तथा नगरवासी उसे परम अहिंसक मानते थे। यज्ञोपवीत, गायत्रीजाप, माथे पर तिलक, बगल में धर्मपुस्तक, तुलसीपूजा, भागवत-रामायण-महाभारत आदि का नित्यपाठ ये सब उसके धर्मात्मा होने के चिह्न थे।

एकदा हट्टा-कट्टा तगड़ा पठान डाकू उसके घर में घुस आया। मारे डर के ब्राह्मण देवता थर-थर काँपने लगा, पलंग के नीचे जाकर छिप गया। हाथ में माला लेकर राम-राम का मीनजाप करने लगा। बाल बच्चे, स्त्री, सारा परिवार इधर-उधर भागकर अपने आप केलिए सुरक्षित स्थान की खोज में बेताब हो गये। लुटेरे डाकू ने बच्चों को मारपीटकर उनके मुंह पर कपड़ा ठूसकर एकतरफ बांध दिया। उसकी स्त्री को बांध उससे बलात्कार कर और सारा माल घन लूटकर वहाँ से चम्पत हो गया। पर मारे डर के परिवार के किसी भी व्यक्ति ने चूँ तक नहीं की। सबकी जवान बन्द थी। ब्राह्मणदेवता भी घिग्घी बांधे राम भरोसे अत्याचारी के सब अत्याचारों को, लूट-खसूट को देख-देखकर मन-ही-मन अपने भगवान का आह्वान कर रहे थे कि वह शीघ्र आकर मेरे जैसे उपासक भक्त की रक्षा करे और इस लुटेरे डाकू की ऐसी खबर ले कि इसे छठी का दूध याद आ जावे। पर ऐसे अड़े समय में भी भगवान ने भक्त की सुध न ली। बेचारा ब्राह्मण देवता असहाय अवस्था में ही बुड़बुड़ाता रह गया।

कहा है कि "हिम्मते मरदां मदवे खुदा" अर्थात् ईश्वर भी उसी की सहायता करता है जो स्वयं पुरुषार्थी-वीर-निर्भीक होता है। कायर, डरपोक, असहाय बेमौत मारा जाता है। अत्याचारी, लुटेरे पठान डाकू के भाग निकलने के बाद ब्राह्मण देवता पलंग के नीचे से बाहर निकला। स्त्री और बच्चों तथा परिवार के अन्य लोगों के रोने चिल्लाने से दयनीय अवस्था को देखकर उसकी आंखों से भी आंसू छलक-छलक कर गिरने लगे। सब को दमदिलासा देकर ब्राह्मण देवता मुहल्ले में आकर चिल्लाने लगा। हाय रे ! चोर मेरा धन-दौलत-इज्जत-आबरू सब कुछ लूट ले गया। बचाओ रे बचाओ ! ब्राह्मण देवता का शोरीगुल सुनकर अड़ोस-पड़ोस, गली-मुहल्ले के लोग जमा होने लगे। लुटजाने की खबर सारे नगर में आग की तरह फैल गई। नगर के कोने कोने से लोगों के झुंड के झुंड आकर जमा हो गये। पर अब क्या होता है—“पीछे पछताये क्या होत जब चिड़ियां चुग गई खेत।” ब्राह्मण देवता को सांत्वना देने केलिए कोई कुछ कहता है कोई कुछ (1) एक बोला कि भक्त की भगवान समय समय पर परीक्षा लेते हैं। वे देखते हैं कि हमारा भक्त हमारे प्रति कितनी दृढ़ भक्ति रखता है। सच पूछो तो यह तुम्हारी धर्मनिष्ठा की ही परीक्षा हुई है। इतनी बड़ी मुसीबत आने पर भी तुमने राम नाम को नहीं छोड़ा। जो कुछ करता है भगवान अच्छा ही करता

है उसकी इच्छा के बिना पत्ता भी नहीं हिल सकता। (2) दूसरा कहता है 'जाकों राखे साइयाँ मार न सबके कोय।' अर्थात् जिसकी प्रभु रक्षा करते हैं उसे कोई मार नहीं सकता। तुम पर भगवान की बड़ी कृपा हुई कि तुम बाल-बाल बच गए हो। यदि हत्यारा तुम्हारी हत्या कर जाता तो फिर क्या होता? धन्यवाद करो उस भगवान का (3) तीसरा बोला—धन्य है तुम्हें ब्राह्मण देवता! अपनी आंखों के सामने सब कुछ लुटा दिया। इच्छत आबरू, मान, मर्यादा, प्रतिष्ठा, धन दौलत सब कुछ को तुमने नश्वर जानकर त्याग के नाम पर न्यौछावर कर दिया। (4) चौथा बोला—ब्राह्मण देवता! तुम ने सच्चे अहिंसक होने का परिचय दिया है। सब अत्याचार वरदाशत किये पर अत्याचारी को भी क्षमा कर दिया, उस पर हाथ नहीं उठावा। आदर्श अहिंसा का पालन करने वाले देवता तुम्हें धन्य है। तुम्हारा नाम युग-युगान्तरो तक लोगों को स्मरण रहेगा। कहने का आशय यह है कि जितने मुंह उतनी बातें। जितनी जिसकी बुद्धि वैसी बात। धीरे धीरे सब लोग अपने अपने घरों को लौट गए। पर किसी ने उसके दुःख पर चार आँसू नहीं बहाए। न ही लुटेरे-हत्यारे-व्यभिचारी डाकू का पीछा किया और मारे डर के पुलिस में रिपोर्ट लिखवाने भी नहीं गए। ब्राह्मण देवता को भी लाचार होकर यह कड़वा घूंट पीजाना पड़ा। बेचारा कुछ कर न सका।

आओ जरा इस घटना पर विचार करें। अब आप ही बतलाए कि क्या यह ब्राह्मण सचमुच ईश्वर का सच्चा भक्त, आदर्श त्यागी, आदर्श अहिंसक, आदर्श समता-शाली अथवा आदर्श सहनशील है? अथवा कायर, डरपोक, ईश्वर के नाम को कलंकित करने वाला अथवा नामर्द?

क्या यह सचमुच प्रभुभक्त कहलाने योग्य है अथवा प्रभुभक्ति की निन्दा करने कराने वाला, कायरता की ओट में अहिंसा और त्याग को बदनाम करने वाला, नपुंसक नामर्द अथवा धर्म, समाज, देश को कलंकित करने वाला कापुरुष?

यदि जैनों के गृहस्थ योग्य उपर्युक्त बारह व्रतों को ठीक-ठीक समझा होता। उसके रहस्य को परखा होता तो उसकी यह दयनीय दुर्दशा न होती। आज यदि कोई जैनी रात्रीभोजन करता है, प्याज, लहसन खालेता है तो उसे पतित समझा जाता है। यदि कोई सिक्ख हुक्का अथवा सिगरेट-बीड़ी पी लेता है तो उसे धर्मच्युत समझा जाता है। यदि कोई मुसलमान सूअर का नाम भी मुख से बोलता है तो उसे काफिर कहकर पुकारा जाता है और पाँचनमाजी मुसलमान कानों में अंगुलियाँ देकर मुंह फेर लेते हैं। यदि कोई हिन्दू गाय की तरफ दुर्भाविना प्रगट करता है तो सारा समाज उसे असभ्य समझने लगता है। यदि कोई रात्रीभोजन न करता हो, यदि कोई अनन्तकाय वनस्पति का त्यागी हो, यदि कोई बीड़ी-सिगरेट न पीता हो, यदि सूअर और गाय के प्रति अपनी-अपनी धर्ममान्यता के अनुसार आचरण करता हो, पर वह चाहे काला बाजार करके, खाने-पीने की वस्तुओं में मिलावट करके, किसी की हत्या करके कैसे भी पूंजीपति बना हो, अथवा दुराचारी चरित्र भ्रष्ट हो, न्यायाधीश की कुर्सी पर बैठ

कर रिश्वत (लाँच) लेकर अन्याय करके बटोरता हो, झूठी साक्षी देकर किसी निरपराधी को फाँसी के तख्ते पर लटकाने में सहयोगी हो। अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए हजारों-लाखों प्राणियों के प्राण संकट में पड़ते हों ऐसे घृणास्पद हिंसा-पूर्ण वृत्ति से धन कमाता हो। पैसे के जोर से अन्याय, अनाचार आदि का सेवन करता हो, लुच्चों और गुण्डों का सरदार हो, मानव, समाज, देश का कैसा भी अहित करने वाला हो, ऐसा व्यक्ति समाज की दृष्टि में आज अपराधी नहीं माना जाता। आज का समाज ऐसे लोगों का सम्मान करता है, त्यागीवर्ग भी ऐसे धनवानों-पूँजीपतियों की बाह-बाह में, उनको सम्मान सत्कार देने में किसी से पीछे नहीं है। ऐसे लोग ही आज प्रायः देश के नेता तथा समाज के प्रधान बनाए जाते हैं। सच्चरित्र विद्वान, ईमानदार गरीब को आज समाज सत्कार नहीं देता। किन्तु उससे धर्म के नाम पर बेगार रूप में कार्य लेकर अथवा कार्य लेकर भी कम से कम पारिश्रमिक देकर निचोड़ने, शोषण करने की प्रायः इस धनप्रधान समाज में प्रवृत्ति पाई जाती है। ऐसा होने से भ्रष्टाचार, व्यभिचार, दुराचार, कालाबाजार आदि से सारा समाज, देश और विश्व दुःखों की चक्की में पिस रहा है।

रात को खालेने से, भूख से अधिक खालेने से, मांस-मदिरा, तम्बाकू, प्याज, लहसन आदि अभक्ष्य पदार्थों का भक्षण करने वाला व्यक्ति प्रकृति के प्रतिकूल आचरण करके रोगादि द्वारा अपने आप बदला चुका देता है। अर्थात् प्रकृति उससे अपने आप बदला ले लेती है।

परन्तु अन्यायी, दुराचारी, विश्वासघाती, काले बाजार से धन कमाकर करोड़ों गरीब मानवों की पसीने की कमायी से कमाये हुए धन को लूटनेवाला, खाने-पीने अथवा औषधादि वस्तुओं में मिलावट कर करोड़ों-करोड़ों मानवों के स्वास्थ्य और जीवन से खिलवाड़ करने वाला, रिश्वत-खोरी आदि से धन बटोर कर पूँजीपति बनने वाला, आलीशान महलों और बंगलों में रहकर समाज देश का सबसे बड़ा अहितकारी होने पर भी उसे अपराधी नहीं माना जाता। जो कि वास्तव में महापराधी हैं।

इसी प्रकार ऐसा गृहस्थ भी कम गुनाहगार नहीं है जो धन सम्पत्ति को बटोर कर तथा स्त्री परिवार आदि से सम्पन्न होकर उसकी रक्षा करने में असमर्थ हो, सर्वथा अयोग्य हो। जो डरपोक-कायर होते हुए भी संग्रह करता है वह चोर को, अत्याचारी को निमंत्रण देता है कि बेखटके सब कुछ लूट ले जावे उसका प्रतिकार करने वाला नहीं है। ऐसे कायर-डरपोक, निपुंसक, हिजड़े को कोई अधिकार नहीं कि वह परिवार, धन आदि का संचय करे। स्त्री धन सम्पत्ति वीरपुरुष के चरण चूमते हैं। वीर पुरुष ही उन्हें पाने का अधिकारी है। किसी मर्द को नामर्द कहकर देखिये तो वह आप को कैसा मज्जा खाता है। मर्द के लिए नामर्द से बढ़कर कोई गाली और अपमान सूचक शब्द नहीं है। कायरता के कारण ही उस ब्राह्मण-देवता ने धर्म, अहिंसा, त्याग समाज को कलंकित किया और अपने तथा अपने परिवार की इज्जत आवरू से हाथ

धो बैठा। मान-मर्यादा-धन-सम्पत्ति सब कुछ खोकर दीन-हीन अवस्था को प्राप्त हुआ। मात्र इतना ही नहीं आने-वाली पीड़ियां भी इस की नामर्दी पर चार-आंसू बहायेगी। यदि आज समाज छोटे छोटे अपराध करने वालों के पीछे पजे झाड़कर पड़ जाता है पर ऐसे बड़े अपराधियों को अपने माथे पर मुकुट के समान शृंगार मानकर सिर-आंखों पर बिठाता है 'उन्हें समाज का प्रधान, मन्त्री आदि उच्च पदों पर आरूढ़ करके अपने आपको कृत-पुण्य मानता है ऐसा होने से ही आज का मानव परेशान और दुःखी है। आज का त्यागी साधु वर्ग भी ऐसे लोगों की प्रशंसा तथा आवभगत करके अपना गौरव समझता है। इन्हीं सब बुराइयों से मानव समाज को छुटकारा दिलाने के लिये श्री तीर्थंकर भगवन्तों ने गृहस्थों के लिये (सप्त व्यसन त्याग, मार्गानुसारी के गुणों का आचरण, अहिंसा अणुव्रत के स्वरूप की रचना और उसकी पूर्ति और पुष्टि के लिये अन्य सत्य-अचौर्य-स्वदारा-संतोष-परस्त्री-गमन विरमण तथा परिग्रह परिमाण रूप चार अणुव्रतों तथा तीन गुणव्रतों एवं चार शिक्षा व्रतों (कुल सम्यक्त्व-मूल बारह व्रतों) से गृहस्थों को अलंकृत किया।

मानव को सदाचारी और वीर बनाने के लिए गृहस्थ के उपर्युक्त बारह व्रत सर्वकला-सम्पूर्ण हैं। महापुरुषों का कहना है कि—

“जननी जिनियो भगत जन, का दाता, का शूर।

नहीं तो रहजो बांझड़ी, मती गंवाइयो नूर ॥

अर्थात्—हे माता ! यदि तू म ने पुत्र को जन्म देकर माता बनने का गौरव पाना है तो भगतवीर, दानवीर, अथवा शूरवीर पुत्र को जन्म देना। यदि ऐसा सम्भव न हो तो दुराचारी, कृपण, कायर को जन्म न देकर तुम्हें बांझ रहने में ही गौरव मानना चाहिए।

अब आप ही जरा ठण्डे दिल से सोचिये कि वह ब्राह्मणदेवता रामभक्त पूंजी-पति वास्तव में बड़ा अपराधी है अथवा मांसाहारी गुंडा पठान ? यदि सच्च पूछा जाए तो धर्म का पालन वीर-पुरुष ही कर सकते हैं। कायर क्या करेगा। वीरता तो मानव का सबसे उत्कृष्ट आभूषण है। धर्म और ईमान की आत्मा है। वीरता के बिना धर्म और इनसान पंगु है। एक अंग्रेज विद्वान ने कितना ही सुन्दर कहा है कि हे मानव ! “Be brave and gentle” वीर बनकर सदाचारी भद्रपुरुष बन। वीर बनकर सिंह की तरह अयावहन बनना और कायर बनकर कुत्ते की तरह दुम दबाकर भागना मत। बहादुर और शरीफ बन। जैन-दर्शन ने इस बात का बड़ा ही सुन्दर विश्लेषण किया है। साधु और श्रावक के व्रतों को दो-दो भागों में बांटा है—(1) मूल गुण तथा (2) उत्तर गुण। मूल गुण में साधु के पांच महाव्रत तथा उत्तर गुण में चरण-सत्तरी, करण-सत्तरी अर्थात् वे सब नियम जिन से इन पांचों महाव्रतों का संरक्षण, प्रवर्द्धन तथा अनिर्मलता की उत्तरोत्तर वृद्धि होते हुए निरतिचार सच्चरित्रता का पालन हो। इसी प्रकार श्रावक के व्रतों के-लिये भी है। उसके मूलगुण में पांच अणु-व्रतों का समावेश है। इन

उत्तर गुणों के सात व्रतों में श्रावक-श्राविका के रहन-सहन, भक्ष्याभक्ष्य, नित्यकर्म आदि का समावेश है। पांच व्रत तो आचार शुद्धि के मूल हैं और बाकी के उत्तर गुण उनकी रक्षा तथा उनमें निर्मलता आदि लाकर प्रवर्धन का कारण हैं मूल गुण चरित्र की आत्मा है और उत्तर गुण उसका शरीर। जिस प्रकार आत्मा के बिना का शरीर मुर्दा है, मुर्दा शरीर आत्मा के बिना उपयोगी नहीं है और निरोग-स्वस्थ शरीर के बिना आत्मा भी अपने शुद्ध स्वरूप को पाने में असमर्थ रहता है। इसी प्रकार मूलगुण तथा उत्तरगुण व्रतों का आपस में सम्बन्ध है। अतः मूलगुणों को छोड़कर उत्तरगुणों को मात्र प्रधानता देने से शोभा नहीं पाते। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य तथा मध्यस्थ भावों की प्राप्ति के लिये मूल गुण प्रथम आवश्यक है। मूल गुणों की प्राप्ति सर्व प्रथम अनिवार्य है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा ममत्व त्याग ये मूल गुण हैं और सामायिक, पूजा, पाठ, भक्ष्या-भक्ष्य विचार, कार्याकार्य विचार इत्यादि उन मूल गुणों की रक्षा के लिये हैं। यदि मूल-गुण ही नहीं तो उत्तर-गुणों से रक्षा किस की। यही कारण है कि ब्राह्मण-देवता के मूल गुणों को प्राप्त किये बिना अथवा उनकी प्राप्ति के लक्ष्य के बिना पूजा-पाठ, नित्यनियम, भगवद-भजन आदि निन्दा के तथा पतन के कारण बने। यही कारण है कि आज का मानव विश्व के प्राणियों के लिये मैत्री, प्रमोद, कृपा (दया) मध्यस्थ भावना के अभाव में अन्याय-अनर्थ से पूंजीपति बनकर दानव बन गया है। जो कि अपनी नामवरी के लिए घोड़ा बहुत दानकर अपने कलंकित कारनामों को मानव के खून से धो डालना चाहता है और धर्मात्मा-दानी बनने के शिलालेख लगाकर अपने कुकृत्यों के ढकने में कृतसंकल्प है। यही कारण है कि जैनों में भी आज आचार और विचारों की शुद्धि में झिथिलता आती जा रही है। जितना बाह्य तड़क-भड़क तथा क्रियानुष्ठानों पर बल दिया जाता है उतना मन-वाणी तथा शरीर द्वारा होने-वाले दुष्कृत्यों के परिष्कार पर लक्ष्य नहीं रखा जाता। जोकि इस पर बल देने से ही आत्मिक तथा स्व-पर कल्याण संभव है।

अब हम अहिंसा-हिंसा के स्वरूप का विस्तार पूर्वक विचार करने के बाद अपने मूल विषय पर आते हैं।

जिनप्रतिमा पूजन में हिंसा सम्बन्धी शंकाओं का समाधान

जल, फल, फूल, धूप, दीप, आदि सचित द्रव्यों से पूजा करने से हिंसा है। अतः हिंसा में धर्म नहीं होने से जिन-प्रतिमा का मानना तथा उसकी पूजा करना उचित नहीं।

समाधान—इन्द्रों तथा देवी-देवताओं द्वारा तीर्थकर प्रभु तथा उनकी प्रतिमा की भक्ति—

1. श्री तीर्थकर प्रभु के च्यवन, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान तथा निर्वाण कल्याणकों में सम्यग्दृष्टि देवता-देवियां तीर्थकर प्रभु की भक्ति निमित्त सचित फूलों की वर्षा करते हैं।

तृत्यांग-श्री समवायांग सूत्र के चौतीसवें समवाय में तीर्थंकर के चौतीस अतिशयों का वर्णन है। वहां स्पष्ट पाठ है कि प्रभु का एक अतिशय यह भी है कि "जल में, स्थल में उत्पन्न होने वाले सचित फूलों की देवता लोग भगवान के घुटनों तक वर्षा करते हैं। यह अतिशय केवल-ज्ञान होने के पश्चात् से निर्वाण होने तक तीर्थंकर प्रभु को होता है। प्रभु के अतिशय के कारण उन फूलों को किलामना (बाधा-पीड़ा) नहीं होती।

2. तीर्थंकर-अरिहंत के बारह गुणों में चार मूल-गुण तथा आठ प्रातिहार्य हैं। मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अंतराय इन चार घातिया कर्मों के क्षय से चार मूल-गुण—1. ज्ञानातिशय, 2. पूजातिशय, 3. वचनातिशय, 4. अपायापगमातिशय हैं। तथा आठ प्रातिहार्य 5. अशोक वृक्ष, 6. सुरपुष्प वृष्टि, 7. दिव्य ध्वनि, 8. चामर, 9. आसन, 10. भामंडल, 11. दुंदुभि तथा 12. छत्र। कुल मिलाकर बारह गुण हुए। इन बारह अतिशयों में छठे नम्बर का अतिशय पुष्प-वृष्टि है और यह एक प्रातिहार्य भी है। केवल-ज्ञानी तीर्थंकर की भक्ति निमित्त देवता लोग पुष्पों द्वारा प्रभु की पूजा करते हैं। मात्र इतना ही नहीं किन्तु प्रभु के प्रत्येक कल्याणक में, तप के पारणों आदि के अवसर पर भी प्रभु की भक्ति निमित्त सचित पुष्प-वृष्टि होती है।

3. प्रभु की जीवित अवस्था में इन्द्र देवता आदि पुष्पों आदि से प्रभु की पूजा-भक्ति आदि तो करते ही हैं। पर वे जिन-प्रतिमा तथा प्रभु की मृतदेह तथा दाढ़ाओं के प्रति भी वैसी ही श्रद्धा और भक्ति करते हैं।

इन्द्रों और देवताओं को कोई नियम पचचवखण नहीं होता, वे अविरति होते हैं। यही कारण है उन्हें पांचवां गुणस्थान नहीं होता। पर वे लोग विवेकवान तथा सम्यग्दृष्टि तो होते ही हैं। यही कारण है कि वे अपनी सभा में विषय-वासना की कोई भी बात नहीं करते। उनके समागृहों में तीर्थंकरों की शाश्वती प्रतिमाएं होती हैं। उनकी आशातना होने न पावे, इस बात का वे पूरा-पूरा लक्ष्य रखते हैं। अतः वे जिन-प्रतिमा की बहुत विनय करते हैं।

4. इसी तरह तीर्थंकर के अभाव में अविरति सम्यग्दृष्टि तथा देशविरति श्रावक श्राविकायें भी अपने आत्म-कल्याण केलिये जिन-प्रतिमाओं की स्थापना करते हैं। साधु-साध्वी भी उपदेश देकर श्रावक-श्राविकाओं द्वारा जिन-प्रतिमाओं का निर्माण अथवा स्थापना करवा कर जिनमंदिरों, गुफाओं आदि में विराजमान कराकर उनकी प्रतिष्ठा करते हैं और उन प्रतिमाओं द्वारा अविरति विरतिश्रावक-श्राविकाएं तथा सर्वविरति साधु साध्वी उपासना, भक्ति और ध्यानकर आत्म कल्याण कर अपना मनुष्य जन्म सफल बनाते हैं।

5. गृहस्थ श्रावक-श्राविकाएं जिन-प्रतिमा का पूजन तीन प्रकार से करते हैं—

1. अंग पूजा, 2. अग्र पूजा तथा 3. भाव पूजा।

1. अंगपूजा में प्रभु के शरीर पर चढ़ाये जाने वाले द्रव्यों का समावेश है। जैसेकि जलादि पंचामृत (दूध, दही, मिश्री, घी, जल) से प्रभु के शरीर का प्रक्षालन।

शुद्ध तीन वस्त्रों से क्रमशः प्रभु के शरीर को पूँछना । बरस (कपूर) चंदन, केसर आदि से प्रभु के शरीर अंगों का विलेपन । तथा सुगन्धित, अखण्ड, ताजे, फूलों से प्रभु के शरीर की शोभा से अंगपूजा की जाती है । अर्थात् इसे क्रमशः जल, चन्दन, पुष्प पूजा कहते हैं । आंगी पूजा का भी इसी में समावेश है ।

(2) अग्रपूजा में प्रभु के आगे रखे जाने वाले द्रव्यों का समावेश है । जैसे धूप, दीप, अक्षत, नैवेद्य (मिठाई आदि पकवान) और फल । आरती, मंगलदीपक आदि प्रभु के सामने रखकर पूजा की जाती है । द्रव्यों को आगे रखने के कारण इसे अग्रपूजा कहते हैं ।

(3) भावपूजा में चंवर पूजा, नृत्य, भजन, कीर्तन, ध्यान, कायोत्सर्ग तथा चैत्यवन्दन, स्तुति-स्तोत्र आदि किये जाते हैं ।

अंगपूजा और अग्रपूजा को द्रव्य-पूजा कहते हैं तथा भजन, कीर्तन, चैत्यवन्दन ध्यान, कायोत्सर्ग आदि को भाव-पूजा कहते हैं । अर्थात् जिन-पूजा का द्रव्य पूजा और भाव पूजा में समावेश होता है ।

गृहस्थ श्रावक-श्राविकायें द्रव्य तथा (चंवर पूजा, नृत्य ध्यान, चैत्यवन्दनादि) से भाव पूजा अर्थात् दोनों प्रकार की पूजा के अधिकारी हैं । तथा साधुसाध्वी चंवर और नृत्य पूजा को छोड़ कर अन्य सब प्रकार की मात्र भाव-पूजा के अधिकारी हैं ।

जिनेन्द्र प्रभु तथा जिन प्रतिमा की द्रव्य पूजा में पुष्प पूजा की अनिवार्यता तथा पुष्प पूजा से हिंसा का सर्वथा अभाव

(1) मूर्तियां मिट्टी, रेती (बालू) हाथी-दांत, काष्ठ, पाषाण, धातु (सोना, चांदी, सप्त-धातु आदि) मणि, कांच, रत्न, जवाहरात आदि अनेक द्रव्यों की बनायी जाती हैं । कागज, ताड़पत्र, भोजपत्र आदि पर चित्र तथा फोटो आदि एवं कागजमैशी से बनी हुई मूर्तियां भी हैं । मिट्टी, बालू, दांत, काष्ठ, कागज की मूर्तियों की अंगपूजा में जल, दूध, चन्दन, केसर, बरस आदि काम में लेने से उन्हें क्षति पहुंचती है । अतः अंग-पूजा में सब प्रकार की मूर्तियों के लिए पुष्पों का उपयोग करने से किसी प्रकार की हानि तथा क्षति सम्भव नहीं है । अर्थात्—अंग-पूजा के लिए पुष्प प्रधान मुख्य तथा अनिवार्य द्रव्य है ।

(2) केवली अरिहंत-तीर्थंकर सदा आठ प्रतिहार्ये सहित होते हैं । इन्द्रादि देवता सदा इन आठ प्रातिहार्यों द्वारा वीत-राग केवली प्रभु की पूजा भक्ति करते हैं । हम लिख आये हैं कि अरिहंत के चौतीस अतिशयों और बारह-गुणों में से पुष्प वृष्टि भी एक अतिशय और गुण है । यदि तीर्थंकर प्रभु की प्रतिमा की फूलों से पूजा को निकाल दिया जावे तो केवली के चौतीस अतिशयों और बारह गुणों में एक अतिशय और गुण की क्षति रहती है । पूरे अतिशय और गुण विद्यमान नहीं रहते । अतः वीतराग केवली तीर्थंकर की फूलों से पूजा करना अनिवार्य है और पूजा के फूल मुख्य अंग हैं ।

यह तो हुआ पुष्प पूजा में आगम प्रमाण ।

(3) पूजा में पुष्प चढ़ाने से फूलों को बाधा-पीड़ा नहीं पहुंचती और न ही उनकी हिंसा होती है। परन्तु उनका रक्षण होकर उन्हें अभयदान मिलता है। क्योंकि यदि कोई घन्घाधारी उन फूलों को लेकर उनको पानी में डाल और भाग पर चढ़ाकर अथवा खीलते हुए पानी में डालकर उसका शर्बत, अर्क, गुलाबजल, इत्र आदि बनाये अथवा गुलाब के फूलों को पीस कर उनकी गुलकन्द आदि बनावे तो उनकी हिंसा होगी यदि कोई गृहस्थ अपने उपभोग, बनाव-शृंगार के लिए ले-जावेगा तो वह फूलों को सुई से वेधकर माला, गजरे, कुंडल, वेणीबन्धन आदि बनाकर पहनेगा। सूँघ और मसल कर फैंक देगा, जो पैरों तले कुचला जाएगा। दम्पति के सहवास में जब फूलों से शृंगार करेंगे, बिछोने में बिछाकर सोयेंगे। कमरे को सुवासित करने के लिये उनकी पंखड़ियों को तोड़ेंगे। इस प्रकार ये उबाले, कुचले, मसले, वेधे, काटे, छांटे जाने से, धूप में रखने से बड़ी किलामना-पीड़ा-वेदना पूर्वक मारे जायेंगे। ऐसा करने वाले अवश्य हिंसा के भागी बनेंगे।

परन्तु प्रभु पूजा में जो फूल माली से खरीदकर लाए जावेगें, पूजा करने वाला साधक उन्हें बड़े विवेक पूर्वक सावधानी से प्रभु के चरणों पर, मस्तक पर चढ़ाकर रख देगा। वहां ये फूल निर्भय होकर बिना किसी कष्ट और किलामना के प्रभु की भक्ति में स्थिरता से रहेंगे। वहां स्वयमेव ही अपनी आयु पूर्ण करके कुमला जावेंगे और शरीर को बिना किसी पीड़ा और कष्ट को छोड़ देगे। प्रभु की पूजा के लिये फूलों की माला-हार आदि जो बनाए जाते हैं वे सभी फूलों को गूँथकर तैयार किए जाते हैं। फूलों के डंठलों को डोरे से बांध कर तैयार किए जाते हैं। उनको पिराने में सुई का प्रयोग बिलकुल नहीं किया जाता। अतः इस प्रकार पुष्प पूजा में हिंसा सर्वथा असंभव है। तीर्थकर जब साक्षात् विद्यमान थे तब उनके अतिशय के कारण फूलों को किलामना पीड़ा कष्ट बिलकुल नहीं होते थे और जिन-प्रतिमा अचेतन होने से उसकी पूजा के काम में लाये जाने वाले फूलों को पीड़ा सम्भव न होने से पुष्प पूजा सर्वथा निर्दोष है।

(4) जिनका पूजा करने का नित्य नियम होता है यदि कहीं पर उन्हें जिन-प्रतिमा आदि का साधन न मिले तो फूल में जिनेश्वर प्रभु की स्थापनाकर उसकी पूजा करके अपनी प्रतिज्ञा का पालन कर सकते हैं।

(5) जब तीर्थकर प्रभु स्वयं विद्यमान थे तब उनकी सचित्त फूलों से सदा भक्ति होती रही। यदि वह तीर्थकर की भक्ति के लिए अनुचित होती, जिनाज्ञा विरुद्ध होती अथवा हिंसा-जन्य होती। तीर्थकर प्रभु की आशातना, अवज्ञा सम्भव होती तो इस कृत्य का तीर्थकर प्रभु अवश्य निषेध कर देते किन्तु इस निषेध का न करना ही यह सिद्ध करता है कि पुष्पों से तीर्थकर अथवा उनकी मूर्ति की पूजा निर्दोष है। तथा मुक्ति प्राप्ति का साधन है।

(6) यदि व्यवहार में भी देखा जावे तो पुष्पों द्वारा किसी व्यक्ति का सम्मान

सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। लाखों रूपये की थैली भेंट करने से भी फूलों द्वारा किए गए सम्मान की तुलना नहीं हो सकती।

पूजा में सचित्त जल के प्रयोग में भी हिंसा नहीं है

जिस प्रकार तीर्थंकर प्रभु के जन्म और दीक्षा कल्याणकों के समय सचित्त जल से स्नान कराया जाता है, निर्वाण के बाद भी तीर्थंकर के शव को सचित्त जल से ही स्नान कराकर उसका दाह संस्कार किया जाता है। जिनप्रतिमा को प्रक्षाल भी तीन कल्याणकों के निमित्त ही कराया जाता है, जन्म, दीक्षा और निर्वाण कल्याणकों के उपलक्ष में तीनों अवसरों पर तीर्थंकर को सचित्त जल से ही स्नान कराने का विधान है। ऐसा जैनगमों में श्री तीर्थंकर प्रभु ने अपने श्री मुख से फ़रमाया है। इसी प्रकार जब गृहस्थ जैनसाधु-साध्वी की दीक्षा लेते हैं तथा साधु अवस्था में जब उनका स्वर्गवास होता है तब भी उन्हें सचित्त जल से ही नहलाया जाता है और उसमें कोई दोष नहीं माना जाता। पर इसमें प्रभु की आज्ञा का पालन होने से धर्म ही है। इस नियमानुसार प्रभु पूजन में सचित्त जल के प्रयोग में कोई दोष नहीं है। हिंसा के लक्षणों में हम बतला चुके हैं कि जहाँ राग-द्वेष अथवा प्रमाद होता है वहीं हिंसा है। पर प्रभु भक्ति में राग-द्वेष प्रमाद को अवकाश नहीं। इस में न तो रागद्वेष है और न ही असावधानी। पानी को छान कर उस परिमित जल में दूधादि द्रव्यों को मिला कर पंचामृत बना लेने से वह अचित्त हो जाता है उस से स्नान कराकर प्रतिमा जी को थोड़े से सादा जल से स्नान करा कर स्वच्छ कपड़ों से पोंछकर एकदम निर्जल कर लिया जाता है। इस प्रकार प्रभु आज्ञा का पालन तथा प्रमाद का अभाव होने से हिंसा का सर्वथा अभाव है।

पूजा में फलादि चढ़ाने में भी हिंसा नहीं है—

फलों को लाकर प्रभु के सामने एक पट्टे पर रखकर पूजा की जाती है उन्हें काटना, छीलना, बिदारना आदि से पाड़ा नहीं पहुंचाई जाती है। इसलिए फल पूजा में भी हिंसा को अवकाश नहीं।

मिठाई-पकवान तथा अक्षत (चावल) भी अचित्त होने से पूजा में प्रभु के सम्मुख चढ़ाने में हिंसा नहीं है।

धूप को छेदों वाले ढकने वाली धूपदानी में तथा दीपक को लालटेन में ढाँक कर पूजा के काम में लिया जाता है। ये सवित होने पर भी पूजा में प्रमाद न होने से हिंसा संभव नहीं है।

जिन प्रतिमा पूजन का उद्देश्य तथा पूजा सामग्री की उपयोगिता

पूजन में विवेक मुख्य है। प्रमाद अर्थात् रागद्वेष, इन्द्रिय विषयों का तोष, विकथा आलस्य एवं असावधानी को अवकाश नहीं है। प्रमाद से ही प्राणों को क्षति पहुंचाना हिंसा है। अतः जिनप्रतिमा पूजन के विधानों में उपयोग में लाये जानेवाले द्रव्यों को चढ़ाने से हिंसा कदापि नहीं होती। प्रभुपूजन की विधि विधानों में हिंसा

की मान्यता के भ्रांत प्रचार और प्रसार से जैनधर्म को कितना धक्का पहुंचा है इस का लेखाजोखा करने बैठें तो एक महानग्रंथ का रूप धारण कर लेगा ।

परन्तु जिनप्रतिमा द्वारा जिनराज की भक्ति से निर्वच उत्कृष्ट अहिंसा का पालन होता है । चढ़ाये जाने वाले द्रव्यों को अभयदान मिलता है और निस्वार्थ भक्ति से मानव मोक्ष प्राप्त करता है ।

पूजा में वही द्रव्य चढ़ाये जाते हैं । जिन द्रव्यों को गृहस्थ अपने काम में लाते हैं । प्रभु पूजा में जो द्रव्य काम में लिये जाते हैं उनसे साधक की भावना अर्पण और त्याग की है और उनके द्वारा प्रभु के गुणों का स्मरण चिंतन, और अपनी आत्मा तथा परमात्मा में एकीकरण, भक्ति में तल्लीनता, चारित्र्य तथा सम्यक्त्व की निर्मलता एवं मोक्षप्राप्ति का लक्ष्य होता है ।

पूज्य पुरुषों के पास खाली हाथ जाने से उनका अविनय माना जाता है । अतः प्रभुभक्ति के लिए मंदिर जी में खाली हाथ नहीं जाना चाहिए । इसलिये प्रभु के चरणों में द्रव्यो को अर्पण करते हुए प्रभु से प्रार्थना की जाती है कि मैं इन भोग उप-भोग की सामग्रियों का अनादि काल से सेवन करता चला आ रहा हूँ पर आज तक भी मेरी आत्मा तृप्त नहीं हुई । इन द्रव्यों द्वारा पूजा के निमित्त से मैं अनाहारी पद चाहता हूँ । पांचों इन्द्रियों के विषयजन्य सुखों जिनका परिणाम दुःखमय है, उनकी वासनाओं के त्याग की भावना जाग्रत हो तथा दीप के प्रकाश के समान आत्मा के निजस्वभाव केवलज्ञान रूपी प्रकाश की प्राप्ति हो । सर्वकर्म क्षयकर आत्मा के शुद्धस्वरूप को पाकर अजर-अमर-पद पाकर शाश्वत सुख रूप मोक्ष को प्राप्त करूँ । पानी की बूंद सांप के मुंह में जाने से विष में बदल जाती है और स्वाति नक्षत्र में साँप के मुख में जाने से मोती के रूप में प्रगट होती है । इसी प्रकार जिन द्रव्यों का मानव स्वयं भोगोपभोग करता है वे कर्मबन्धन का कारण विष समान है परन्तु वही द्रव्य यदि तीर्थंकर प्रभु की पूजा भक्ति आदि में अथवा गृह एवं धर्म की भक्ति के निमित्त काम में लाये जावें तो देव, गृह, धर्म की आराधना में उन द्रव्यों को अर्पण और त्याग करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है यानी विष अमृत रूप में परिवर्तन कर जाता है ।

सारांश यह है कि जिनप्रतिमा के पूजन में हिंसा असम्भव है । किन्तु अहिंसा के पालन के साथ-साथ भक्ति और साधना से सब प्रकार के सुखों की प्राप्ति होती है । अन्त में जीव मोक्ष को प्राप्त कर शाश्वत सुख को प्राप्त करता है । कहा भी है कि—

देवपूजा गुरुपास्तिर्दानमध्ययनं तपः ।

सर्वमप्येतदऽफलं हिंसा चेन्न परित्यजेत् ॥१॥

अर्थ—देव पूजा में, गृह भक्ति में, दान देने में, अध्ययन-अध्यापन में, तप में, इन सब कार्यों में यदि हिंसा का त्याग नहीं है, तो सब निष्फल है ।

छद्मस्थ होने से यदि हमें जिनेश्वर देव की पूजा करने में उपयोग की स्थलना

हो जाने से कदाचित् भूल-चूक से कुछ क्रिया दोष लग भी जावे तो उस की शुद्धि के लिए भावपूजा, चैत्यवन्दन आदि करने से पहले ईर्वावहीय पूर्वक एक लोगस्स (25 श्वासोच्छ्वास) का काउसग्न करके पारकर प्रगट लोगस्स का पाठ करके उस अतिचार की आलोचना करके शुद्धि कर ली जाती है ।

जिनप्रतिमा पूजन की आज्ञा, पूजन के विधिविधान आदि मूलागमों नियुक्ति, चूर्ण, भाष्य तथा टीकाओं में विद्यमान होने से तीर्थकर देवों, गणधरों श्रुतकेवलियों, पूर्वाचार्यों, गीतार्थ-आगमवेत्ताओं सब की एक मान्यता होने से जिन प्रतिमा पूजन से श्री तीर्थकर प्रभु की आज्ञा का पालन करने का भव्यजीवों को सौभाग्य प्राप्त होता है । श्री जितेन्द्र प्रभु की आज्ञा के पालन में ही धर्म है ऐसा आगम वाक्य है ।

जिन प्रतिमा पूजन में कोई दोष नहीं है इसके लिए कुछ विशेष रूप से विचार करते हैं ताकि वस्तुस्थिति समझने में सरलता हो ।

महानिशीथ सूत्र में कहा है कि:—

“जत्थ इत्थिकर-फरिसं, करंति अणिहा विकरणे जाए ।

तं निच्छयओ गोयम ! जाणिज्जा मूल-गुणं-हणं ॥१॥”

अर्थात्—हे गौतम । राग बिना भी किसी कारण से यदि (मुनि) स्त्री को हाथ का स्पर्श करे तो उसे निश्चय से पांच मूल गुण रहित जानो ।

तथा साधु के लिए सचित जल का उपयोग, अग्नि का समारंभ विषयसेवन ये तीनों उत्कृष्ट रूप से निषेध किए हैं । इन तीनों में उत्सर्ग-अपवाद स्थापना नहीं घटती ।

ठाणांग सूत्र में साधु को पांच कारणों से साध्वी को छूने-पकड़ने का वर्णन है । इसमें नदी में बहती हुई साध्वी को साधु निकाल लावे । ऐसा भी कहा है ।

(1) यदि कोई साध्वी नदी तालाब आदि में डूब रही हो और कोई पांच महाव्रतधारी साधु उस जलाशय के किनारे पर उपस्थित हो, वह तैरना जानता हो तो क्या वह तमाशबीन होकर किनारे पर खड़ा देखता रहेगा और साध्वी को डूबने देगा ? प्रभु ऐसे कृत्य को अधर्म कहते हैं । ऐसा करने से पांच महाव्रतधारिणी आर्या का प्राणांत हो जाएगा । ऐसी परिस्थिति में साधु नदी में कूदकर जैसे बने वैसे साध्वी को पकड़कर निकाल लावे । उस समय साधु का यह मुख्य कर्तव्य है और वह धर्म का आराधक है, विराधक नहीं । इस कार्य को करने में जो उसे क्रिया लगी उसको आलोचना के लिए ईर्वावहीय पूर्वक (25 श्वासोच्छ्वास) का काउसग्न करके प्रगट लोगस्स का उच्चारण करलें । बस हो गई शुद्धि ।

अब यहाँ पर जरा विचार करिये कि कहाँ तो सचित पानी के स्पर्श तथा स्त्री मात्र के स्पर्श से साधु के पाँच मूलगणों का अभाव बतलाया है और कहाँ सचित जल से भरपूर जलाशय में प्रवेश कर स्त्री साध्वी को पकड़कर साधु बाहर निकाल लावे

तो उसने मूल गुणों की शोभा को बढ़ाया। यद्यपि साध्वी को पुरुष के तथा साधु को स्त्री के स्पर्शादि का सर्वथा निषेध है तथापि नदी से निकालने पर साधु को साध्वी का तथा साध्वी को साधु का परस्पर स्पर्श भी हुआ और सचित्त पानी का भी स्पर्श हुआ। यह बात स्पष्ट तथा प्रत्यक्ष है।

जरा इस की गहराई में जाइए—पहली आज्ञा में जो स्पर्श का निषेध किया गया है वहाँ मन में विकार आदि प्रमादाचरण से साधु के बचने का आशय है और दूसरी आज्ञा में साध्वी के प्राणों की रक्षा का कारण है। इस में न तो स्त्री के प्रति राग की उत्पत्ति का अवकाश है न पानी के जीवों की हिंसा की भावना। ठाणांग सूत्र में साध्वी को बचाना धर्म कहा है। दया तो प्रभु की आज्ञा के पालन में है।

(2) साधु को नदी उतरने का विधान भी है। विहार में ग्रामांतर जाते हुए यदि मार्ग में नदी आ जावे तो कैसे पार उतरे? विधि का स्पष्ट उल्लेख है।

(3) एक दृष्टान्त और लीजिए—साधु को वनस्पति के स्पर्श का भी निषेध किया गया है परन्तु कोई साधु किसी ऐसी पगडंडी पर जा रहा हो जिसके आस-पास गहरी खाई हो यदि उसका पांव फिसल जाने से वह खाई में गिर रहा हो तो वह पास में खड़े वृक्ष को, घास अथवा लता बेल को पकड़कर अपने आप को खाई में गिरने से बचा ले, ऐसी आगम की आज्ञा है। खाई में गिर जाने से वहाँ भरे हुए पानी में पड़ने से जलचर पंचेन्द्रिय आदि प्राणियों की विराधना, अप्काय की विराधना और अपनी जान जाने का भी खतरा है। इतनी बड़ी होने वाली हानि से बचने के लिये वृक्ष को पकड़कर सहारा लेने से वृक्ष की डाली को खींचने से तथा उसका स्पर्श करने से जो उसे क्लामना हुई वह होने वाली हानि और विराधना के सामने नगण्य है। इसकी शुद्धि भी पूर्ववत् आलोचना ईर्यावहीय पूर्वक कायोत्सर्ग करने से हो जाती है (आचारांग द्वितीय-श्रुतस्कन्ध)।

(4) कुछ साधु एक नगर से विहार कर ग्रामांतर जा रहे थे। रास्ते में एक भयंकर अटवी पड़ती थी। उन्हें रात हो गई इसलिये उस अटवी में ही राती विश्राम के लिये रुकना पड़ा। उस अटवी में एक नरभक्षी सिंह रहता था और वह घात लगाकर मनुष्यों को खा जाता था। लोगों ने साधुओं को रात में जंगल में रहने के लिये मना किया। परन्तु जैन साधु को रात में विहार करने की आज्ञा न होने से आचार्य ने सब साधुओं के साथ जंगल में ही रात को ठहरना उचित समझा और दो-दो घण्टे के लिये प्रत्येक साधु को साधुसंघ की नरभक्षी सिंह से रक्षा करने के लिये पहरा देने का आदेश दिया। एक साधु पहरा दे रहा था। सिंह ने आकर साधुओं पर आक्रमण करने केलिये छलांग लगाई। पहरेदार साधु ने उस नरभक्षी को डराने के लिये अपने हाथ में लिये हुए डंडे को इतने जोर से घुमाया कि डण्डा उसके हाथ से छूटकर सिंह के मर्म स्थल में जा लगा और वह मरकर ठार हो गया। प्रातः काल जब सब साधु प्रतिक्रमण

करने के लिये बैठे तब पहरा देने वाले साधु ने आचार्य से रात की घटना को बतलाते हुए उसके प्रायश्चित्त लेने के लिए प्रार्थना की। गुरु ने कहा कि ईर्यावहीय पूर्वक लोग्सस का काउसग्ग कर लो। इससे रात को लगे हुए अतिचार की आलोचना से शुद्धि हो जाएगी। उपर्युक्त तीनों घटनाओं में हिंसा को स्थान नहीं, क्योंकि यहां प्रमाद का अभाव है।

इसी प्रकार यदि जिनप्रतिमा पूजन में उपयोग के न रहने से अथवा भूलचूक से कोई दोष हो भी जाए तो सब क्रियाओं, अनुष्ठानों में प्रमाद के अभाव के कारण हिंसा सम्भव नहीं और उस होने वाले दोष की उपर्युक्त विधि से आलोचना कर लेने से शुद्धि भी हो जाती है।

प्रथम—अष्टमी चतुदशी आदि पर्वतिथियों में अथवा उपवासादि के दिन फल-फूलादि जिन वस्तुओं का तुम्हारा त्याग होता है, उन्हीं वस्तुओं को पूजा के प्रयोग में लाने से दोष के भागी बनते हो और इससे नियम भंग ही होता है।

समाधान—(1) पर्वतिथियों के दिनों में अथवा उपवासादि में त्याग होता है परन्तु वह त्याग इसलिए होता है कि उन वस्तुओं को अपने भोगोपभोग के काम में न लिया जाए पर साधु मुनिराज को आहार आदि देने में तथा प्रभु की पूजा भक्ति आदि में उन द्रव्यों का उपयोग अर्पण और त्याग की भावना में है अर्थात् साधु-साध्वी को, किसी आवश्यकता वाले को अपनी त्याग की हुई वस्तु से यदि उनका लाभ होता है तो उन्हें वह वस्तु देने से हमारा त्याग तथा उस पर उपकार होता है और प्रभु की पूजा-भक्ति आदि में भी फल-फूल आदि पूजा की सामग्री चढ़ाकर उनका त्याग किया जाता है और उन द्रव्यों को चढ़ाकर प्रभु से अपने लिए अनाहारी अनाभोगी पदपाने की प्रार्थना की जाती है। इसलिए इसमें कोई दोषवाली बात नहीं है। इसे विशेष खुलासा करने के लिए यहां कुछ विचार करना आवश्यक है। देखिए :—

(2) आपका उपवास है, उस दिन साधु आहार-पानी के लिए आपके घर आता है, आप उसे आहार-पानी देंगे या नहीं? यदि देंगे तो आपके कथनानुसार आपका त्याग होने से आपको व्रत भंग का दोष लगेगा, आपका त्याग होने के कारण आपको साधु को आहार-पानी नहीं देना चाहिए, फिर क्यों देंगे। पर आप देंगे अवश्य। तो आप ही बताइए कि आप ने धर्म किया अथवा अधर्म? खूबी तो यह है आपका त्याग होने पर भी आप साधु को आहार-पानी देने में और उनकी आवश्यकता, सत्कार आदि करने में अपना महान पुण्योदय मानते हैं। जो रसोई तैयार की गई उसमें हिंसा भी अवश्य हुई, साधु के आहारादि लेने के लिए आने-जाने में भी हिंसा सम्भव है। हिंसा से तैयार किए हुए आहार पानी को लेने के लिए आने-जाने से जीवों की विराधना करके साधु ने आहारादि लेकर उदरपूर्ति की और आप ने भी हिंसा द्वारा तैयार किया हुआ आहार-पानी अपने को उपवास होने के कारण त्याग होने पर भी साधु को देकर आने को कृत्यकृत माना।

परन्तु जिनप्रतिमा पूजन में न तो प्रभु को कुछ लेने की तमन्ना है और न ही साधक को उसके बदले में भोगोपभोग की सामग्री पाने की भावना। अतः तीर्थकर प्रभु की भक्ति से घटिया दर्जे की साधु भक्ति में यदि आप धर्म मानते हैं तो जिनेश्वर प्रभु की भक्ति में दोष की भावना क्यों ?

(3) जैनागमों में स्पष्ट वर्णन है कि तीर्थकर का जन्म महोत्सव करने के लिए जब इन्द्रादि देवता आते हैं तब वे तीर्थकर को वन्दन, पूजन, भक्ति धर्मादि की भावना से आते हैं उस समय उस बालक में अरिहंत अवस्था विद्यमान न होने से भविष्य में होने वाली अरिहंत अवस्था को लक्ष्य में रखते हुए वर्तमान अवस्था में मान कर वन्दना आदि करते हैं। तो वह द्रव्य निक्षेप की पूजा हुई। इस बात को विशेष रूप से ध्यान में रखने की आवश्यकता है इन्द्र सम्यग्दृष्टि होते हैं और इन सम्यग्दृष्टियों ने तीर्थकर के पाँचों कल्याणकों के अवसर पर यथायोग्य वन्दन पूजन महोत्सव आदि किये हैं।

इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका भी साक्षात् तीर्थकर प्रभु के समान जिनप्रतिमा की भी पूजा-भक्ति, उपासना से आत्मकल्याण करते हैं।

प्रश्न—तीर्थकर प्रभु तो सर्वथा त्यागी हैं उनकी पूजा में द्रव्यों का उपयोग करना उचित नहीं है क्योंकि ऐसा करने से वे त्यागी नहीं रहते। मंदिरों, तीर्थों आदि को यात्रा करने केलिये जाने आने से हिंसा तो होती है इसलिए ऐसे कृत्य में धर्म क्यों ?

समाधान—1. तीर्थकर भगवन्त त्यागी हैं अवश्य। पूजा में जो द्रव्य काम में लिए जाते हैं उनसे तीर्थकर को कुछ लेनादेना नहीं और न ही उन को चढ़ाने से तीर्थकर भोगी ही बन जाते हैं। साधक अपने आत्मकल्याण के लिए सब सामग्री को काम में लाता है और साधक भी द्रव्यों को अर्पण और त्याग की भावना से चढ़ाता है।

2. तीर्थकर प्रभु जब दीक्षा लेने जाते हैं तब चक्रवर्ती, राजा, महाराजा के वेश में जाते हैं। उस वेश में भी वे सर्वथा त्यागी ही हैं। क्योंकि उस समय वस्त्रालंकारों पर तो क्या उन्हें अपने शरीर पर भी ममत्व नहीं होता।

3. इस बात को विशेष रूप से स्पष्ट करने के लिये ज़रा किसी वैरागी को दीक्षा लेने से पहले उसके वरघोड़े (जलूस) पर दृष्टिपात करें। उसका वरघोड़ा कितनी सज-धज और ठाठ-बाट के साथ निकाला जाता है। उस वैरागी अथवा वैरागन को बढ़िया से बढ़िया कपड़े जेवर पहनाये जाते हैं। यदि उनके परिवार वालों के पास बढ़िया वस्त्राभूषण न हों तो मांग कर भी पहनाये जाते हैं। हाथी, कार आदि को खूब सजाकर उस पर बिठाया जाता है, उसका जलूस राजे, महाराजा की शानोशौकत से कम नहीं होता। ऐसी अवस्था में उस दीक्षार्थी वैरागी को भोगी कहोगे या त्यागी ? यदि भोगी कहोगे तो वह दीक्षा के अयोग्य है क्योंकि उसे अभी तक त्याग की तरफ लक्ष्य

ही नहीं। यदि वह त्यागी भावों से ओत-प्रोत है तो वस्त्रों, अलंकारों तथा ठाठ-बाठ आडम्बर आदि के होते हुए भी उन वस्तुओं में उसकी आसक्ति न होने के कारण त्यागी है। क्योंकि उन द्रव्यों में उसका ममत्व भाव नहीं है।

4. दूसरा उदाहरण भी लीजिए—जब साधु का देहान्त हो जाता है तब उसके मुर्दे के सत्कार में जो आडम्बर आदि करते हो, तो क्या उसे भोगी मानोगे ? यही कहोगे न कि वह मुर्दा है उसे इस आडम्बर से क्या प्रयोजन ? यहां प्रश्न यह होता है कि साधु का दीक्षा से पहले तथा देहान्त के बाद जो कुछ भी ठाठ-बाठ करके उन्हें त्यागी ही मानते हो, तो तीर्थंकर प्रभु की भक्ति के लिए जिन द्रव्यों को साधक काम में लाता है उनसे तीर्थंकर में त्याग के अभाव का आरोप क्यों ?

5.—चौमासे में आप संघ लेकर अथवा परिवार के साथ साधु-साधिव्यों का दर्शन करने के लिए जाते हो, तो आपके आने-जाने में हिंसा होती है या नहीं ? साधु तो वर्षा ऋतु (चौमासे) में इसलिए विहार नहीं करता कि विहार करने से जीवों की हिंसा होगी। अन्य ऋतुओं की अपेक्षा चौमासे में विशेष हिंसा सम्भव है। आपको साधु नियम दिलाते हैं कि हमारा दर्शन करने चौमासे में जरूर आना। तो जब आप उन का दर्शन करने जाते हैं उस समय आप में अथवा आपके गुरु में कोई अतिशय पैदा हो जाता है कि जिनसे जीवों की हिंसा न होती हो ? अथवा होती हो तो आपके गुरु के अतिशय से वे सीधे मोक्ष को पा जाते हैं ? यदि ऐसा नहीं है तो उस पाप का भागी कौन ? आप अथवा अपने दर्शनों का नियम कराने वाले आपके गुरु ? हिंसा तो प्रत्यक्ष है ही, फिर ऐसी हिंसाजनक प्रवृत्ति का साधु निषेध क्यों नहीं करते ? क्या वे आपको अपने दर्शनों का नियम दिलाकर हिंसा को प्रोत्साहन नहीं देते ? साधु की दीक्षा समय, उनके आने जाने के अवसर पर, उनके स्वागत आदि के लिए आपका आना जाना, उनके दर्शनों के लिए आना जाना, साधु के मुर्दे के दाह संस्कार के लिए जो कुछ भी आप करते हैं उसमें होने वाली हिंसा को धर्म मानते हो अथवा अधर्म ? यदि अधर्म है तो ऐसे पापजन्य कार्यों के लिए आपके साधु मना क्यों नहीं करते ?

6—आश्चर्य की बात है कि प्रभू की पूजा में पाप और हिंसा मानने वाले स्वयं अपने गुरुओं के निमित्त होने वाली हिंसा को जान बूझकर करते हैं और उसमें दोष नहीं मानते और सदा करते ही जा रहे हैं और उनके गुरु भी ऐसे हिंसाजन्य कार्यों को प्रोत्साहन देते हैं जो उनके निमित्त से की जाती है।

7—तीर्थंकर प्रभु तो केवलज्ञान होने के बाद रत्नजड़ित स्वर्ण सिंहासन पर बैठ कर समवसरण में बारह पषंडाओं के सामने धर्मदेशना देते हैं। नव (9) स्वर्ण कमलों पर उनका विहार होता है। छत्र, चामर, ध्वजा, देवदुन्दुभि, घुटनों तक सचित पुष्पों की वृष्टि आदि आठ प्रातिहार्य, चौतीस अतिशयों सहित सदा विचरते हुए भी वे महान त्यागी, महान योगी और महान अहिंसक हैं। ऐसा जैनागम फरमाते हैं। इतने आडम्बर के साथ भी भोगी नहीं होते। तो पूजा की सामग्री चढ़ाने मात्र से भोगी कैसे बन

गये ? इस पर पक्षपात रहित होकर ज़रा विचार करें। श्री तत्त्वार्थ सूत्र में यथा- 'मूर्च्छापरिग्रहं (तत्त्वार्थ 7/12) तथा जैन आगमों में मूर्च्छा को परिग्रह कहा है और प्रमाद को हिंसा कहा है। अतः जिनप्रतिमा की पूजा करने में साधक को प्रमाद का अभाव है और तीर्थंकर को मूर्च्छा का अभाव है, इसलिये श्री जिनेश्वर प्रभु की पूजा भक्ति करने वाले साधक गृहस्थ तथा साधु को न तो हिंसा सम्भव है और न तीर्थंकर को परिग्रह अथवा भोग लिप्सा की सम्भवना ही। ऐसे वीतराग केवली तीर्थंकर की निर्वद्य पूजा भक्ति में हिंसा, भोग तथा परिग्रह को बतलाकर उसका निषेध सर्वथा अनुचित है। साधु तो छद्मस्थ है उसके त्याग की तुलना तीर्थंकर से नहीं की जा सकती। साधु के निमित्त होने वाली प्रत्यक्ष हिंसा को देखते और करते हुए भी धर्म मानना यह आपके सिद्धान्त के ही विरुद्ध है। यदि पूजा में द्रव्यों के प्रयोग से हिंसा ही हिंसा समझोगे तो ऐसी पवित्र धर्म करनी के त्याग से कोई भी धर्म कार्य सम्भव नहीं। श्वासोश्वास लेने से हिंसा, पलकें झपकने से हिंसा, हलन, चलन, उठने बैठने, चलने, फिरने, खाते, पीते, सोते जागते में हिंसा। किस में हिंसा नहीं ? मुनि उपदेश के लिये आते जाते हैं, ग्रामानुग्राम विहार करते हैं, टट्टी पेशाब आदि जाते हैं, सब कार्यों में प्रत्यक्ष हिंसा होती है। तो फिर ऐसे कार्य तो आपको कदापि न करने चाहियें। साधु तो द्रव्य और भाव से हिंसा का त्यागी है। आपके माने हुए सिद्धान्त की हिंसा के स्वरूप को देखते हुए साधु के व्रतों का पालन ही असम्भव है। कोई साधु धर्म का पालन कर ही नहीं सकता। तो कहना होगा कि आप के और आपके धर्म गुरुओं द्वारा माना हुआ हिंसा का स्वरूप जैनागमों की मान्यता के सर्वथा प्रतिकूल है यदि आपकी मान्यता ठीक है तो फिर कोई भी जैनधर्मानुयायी चाहे वह गृहस्थ हो, साधु साध्वी हो केवली हो अथवा तीर्थंकर हो, सब हिंसक ही सिद्ध होंगे। ऐसा होने से उनकी करनी और कथनी में एकदम अन्तर है। इसके लिये आप स्वयं ही निर्णय करें कि सत्य वस्तु क्या है ?

जिन पूजा पर कुंए का दृष्टान्त

पूजा शब्द दयावाची है और जिनपूजा में अप्रमत्त भाव होने से निबन्ध दया रूप है। क्योंकि जिनराज की पूजा को श्रावकादि फूलों आदि से करते हैं वह अप्रमत्त भाव होने से स्वदया भी है और फूलों आदि द्रव्यों पर भी दया रूप ही है। पूजा आदि में हिंसा-अहिंसा का विवेचन हम पहले विस्तार पूर्वक कर चुके हैं उससे इस बात की सत्यता की बराबर सिद्धि और पुष्टि हो जाती है। जैनागम आवश्यक सूत्र में कहा है कि—“अकसिण पवत्तगण विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो। संसार पयणुकरणे दब्बत्थए कूव दिट्ठन्तो।”

अर्थ—महाव्रतों में न प्रवृत्त हुए विरताविरति (देशविरति-श्रावक-श्राविकाओं) के लिये यह (जिन प्रतिमा आदि की पुष्पादि से) पूजा करने रूप द्रव्य स्तव (द्रव्य पूजा) निश्चय ही युक्त (उचित) है। संसार पतला करने में (घटाने-क्षय करने में)

कुएँ का दृष्टांत जानना । ऊपर के पाठ में भगवान श्रावक को पुष्पादि द्रव्यों से द्रव्य पूजा करने का उपदेश देते हैं ।

“पूयाए कायवहो, परिकुट्ठो सो य नेव पुज्जाणं
उवयारिणित्ति तो सा, परिसुद्धा कहणु होइ त्ति ॥
मण्णइ जिणपूयाए, कायवहो जति वि होइउ कहि वि ।
तहवि तई परिसुद्धा, गिहीण कूवाहरण जोगा ॥
असदारंभपवत्ता, जं च गिही तेण तेसि विन्नेया ।
तन्निवित्तिफलच्चिय, एसा परिभावणीयामिणं ॥
उवगाराभावंमि वि, पुज्जाणं पूयगस्स उवगारो ।
मंतादिसरण-जलणाइ-सेवणे जह तहेहं पि ॥
देहादिणिमित्तं पि ह्नु, जे कायवहंमि तह पट्ठंति ।
जिणपूयाकायवहंमि, तेसिमपवत्तणं भोहो ॥”

(आचार्य हरिभद्र सुरि)

अर्थात्—पूजा में यद्यपि क्वचित् कायवध होता है तो भी वह पूजा गृहस्थों के लिए तो विशुद्ध ही होती है—कुएँ के दृष्टान्त से (कुएँ का दृष्टांत इस प्रकार है) जल के अभाव से गांववाले दुःखी थे, उन लोगों ने किसी जलस्रोत वेत्ता को बुलाकर पूछा । उस ने भूमि की परीक्षा कर एक प्रदेश को बतलाकर कहा—इस स्थान पर इतनी गहराई के नीचे जल निकलेगा । लोगों ने उत्तम समय देखकर वहाँ खोदना शुरू किया । खोदने में दिनों के दिन बीत गये, खोदने वाले थककर चकनाचूर हो गए, शरीर मिट्टी से लथपथ हो गए तो भी भावी सुख की आशा से वह खोदते ही चले गए । बतलाई हुई गहराई तक खोद डाला और सचमुच उनकी आशा को पूर्ण करने वाला जलस्रोत प्रगट हुआ (लोगों के आनन्द का पार न रहा) उस शुद्ध निर्मल जल से लोग नहाए, थकान उतारी, शरीर पर लगे हुए कीचड़ को घोंकर साफ किया, पीकर प्यास को बुझाया और सदा के लिए जलकष्ट दूर हुआ । इसी दृष्टान्त से पूजा करने वालों को सामान्य रूप से आरम्भ जन्य हिंसा रूप जो आश्रव लगता है द्रव्य का खर्च करना पड़ता है । समय का योग देना पड़ता है किन्तु पूजा में भाव विशुद्धि और श्रद्धा-श्रद्धाण की निर्मलता से जो लाभ मिलता है उसकी तुलना में उसमें व्यतीत किया हुआ समय, खर्च किया द्रव्य तन्निमित्तक सब कुछ भी गिनती में नहीं है ।

सारांश यह है कि—जैसे कुएँ का पानी पवित्र, निर्मल होने से स्वयं भी पवित्र है और सदा ताजा और स्वच्छ रहता है । दूसरे पदार्थों के मल को साफ करता है । वैसे ही पूजा करने वाले के भाव अप्रमत्त होने से सदा भाव शुद्धि जल के समान पवित्र है और पूजक की भाव शुद्धि होने से शुद्ध अध्यवसाय रूप पानी होने से अशुभ बन्ध रूप मल से आत्मा मलिन होता ही नहीं है । अतः पुष्पादि से जिनराज की पूजा करने से बढ़कर दूसरी दया कौन सी हो सकती है ? मतलब यह है कि जिनमन्दिर बनवाने से

लेकर सत्तरह भेदी आदि पूजा करने तक श्रावकों के शुभ भाव होने से स्व और पर की उत्कृष्ट दया है। इसकी तुलना अन्य किसी भी दया से नहीं हो सकती। इस लिए मुमुक्षु आत्माओं को सदा सर्वदा जिनराज की पूजा करके स्व-पर कल्याण के लिए उद्यमशील रहना चाहिए।

प्रश्नव्याकरण सूत्र में पहले संवर द्वार में दया के 60 नाम कहे हैं उनमें 'पूया' अर्थात् 'पूजा' को भी दया कहा है।

तीर्थंकर प्रभु वीतराग है इसलिए उनका अपनी पूजा से कोई प्रयोजन नहीं है; अर्थात् न तो वे अपनी पूजा से प्रसन्न होते हैं और वीतद्वेष होने से निन्दा से अप्रसन्न भी नहीं होते। अर्थात् न तो पूजा से आप प्रसन्न होते हैं और न निन्दा से आप अप्रसन्न ही होते हैं। फिर भी आपके पवित्र गुणों का स्मरण हमारे चित्त को पाप की कालिमा से बचाता है। यह मूर्ति पूजा का उद्देश्य है।

(1) कहने का आशय यह है कि अरिहन्त-तीर्थंकरदेव की पूजा करने का मुख्य हेतु आत्मशुद्धि है। इसलिए पूजा करते समय उन्हीं का आलम्बन किया जाता है। जिन्होंने आत्मशुद्धि करके या तो मोक्ष प्राप्त कर लिया है या जो अरिहन्त अवस्था को प्राप्त हो गए हैं। यहां यह प्रश्न होता है कि देवपूजा आदि कार्य बिना राग के नहीं होते और राग संसार का कारण है, इस लिए देवपूजा को आत्मशुद्धि में प्रयोग कैसे माना जा सकता है? समाधान यह है कि जब तक सराग अवस्था है तब तक जीव को राग की उत्पत्ति होती ही है। यदि वह राग लौकिक प्रयोजन की सिद्धि के लिए होता है उस से संसार की वृद्धि होती है। किन्तु अरिहन्त आदि स्वयं राग और द्वेष से रहित होते हैं। लौकिक प्रयोजन से उनकी पूजा की भी नहीं जाती है, इसलिए उन की पूजादि के निमित्त से होने वाला राग मोक्ष मार्ग का प्रयोजक होने से प्रशस्त माना गया है। दिगम्बरीय बसुनन्दी कृत मूलाचार में भी कहा है कि जिनेन्द्र देव की भक्ति करने से पूर्व संचित सब कर्मों का क्षय होता है। आचार्य के प्रसाद से विद्या और मंत्र सिद्ध होते हैं। ये संसार तारने के लिए नौका के समान हैं। अरिहन्त, वीतरागधर्म, द्वादशांग-वाणी, आचार्य, उपाध्याय और साधु में जो अनुराग करते हैं उनका वह अनुराग प्रशस्त होता है। उनके अभिमुख होकर विनय और भक्ति करने से सब अर्थों की सिद्धि होती है। इसलिए भक्ति राग पूर्वक मानी गयी है। किन्तु यह निदान (नियाना) नहीं है। निदान सकाम होता है और भक्ति निष्काम। यही इन दोनों में अन्तर है।

(2) आचार्य कहते हैं कि द्रव्य पूजा करने वाले को जो थोड़ा पाप लगता भी है तो भी पुण्य तथा कर्मों की निर्जरा बहुत है, इसलिए यह थोड़ा पाप दोष कारक नहीं है। जैसे कि समुद्र में विष की कनिका अथवा बिन्दु मात्र दोष पैदा नहीं कर सकती। आचार्य का उक्त वचन द्रव्यपूजन में होने वाले आरम्भजन्य पाप को लक्ष्य में रखकर है। मंदिर निर्माण, मूर्ति निर्माण, उनकी प्रष्टिठा विधि, द्रव्यपूजा, अभिषेक आदि का आरम्भ; ये सब लेश मात्र सावद्य का कारण हैं जोकि द्रव्यपूजा से प्राप्त होने

वाले लाभ के सामने नग्न्य है। फिरभी जितना कम आरम्भ हो उतना ही श्रेयस्कर है यह बात उपर्युक्त कुण्ड के दृष्टांत से स्पष्ट हो जाती है।

श्री रायपसेणीय (राजप्रशनीय) सूत्र में पूजा के पांच फल कहे हैं—

“हियाए सुहाए खमाए निसेयसाए, अणुगामित्ताए भविस्सइ ॥”

अर्थात्—श्री जिनप्रतिमा पूजने का फल पूजने वालों को 1-हित के वास्ते, 2-सुख के वास्ते, 3-योग्यता के वास्ते, 4-मोक्ष के वास्ते और 5-जन्मान्तर में भी साथ में आने वाला है।

क्या मंदिर, उपाश्रय, पौषधशाला बनाने में हिंसा है ?

व्यापारी व्यापार करता है, उस में यदि एक लाख रुपया लाभ होता है और दस हजार का घाटा होता है तो उसे लाभप्रद ही कहा जाएगा। श्री आचार्य सूत्र के चौथे अध्ययन के दूसरे उद्देश्य में कहा है कि यदि देखने में आश्रय का कारण है परन्तु अध्ययन शुद्ध है तो कर्म की निर्जरा होती है क्योंकि वहां तो धर्म ध्यान ही होता है और देखने में संवर का कारण है पर यदि अशुद्ध परिणाम हों तब कर्म का बन्ध होता है किन्तु इस कार्य में तो अशुद्ध परिणाम को अवकाश ही नहीं।

आप लोग भी स्थानक बनाते हैं, तेरापंथी जैन भवन बनाते हैं। धर्म मानकर ही तो बनाते हैं। आपके साधु स्थानक और जैन भवन बनाने का उपदेश देते हैं, उसमें भी हिंसा तो होती है फिर भी आप और आप के साधु इसमें धर्म मानते हैं। यह बात सत्य है ? और इन में आपके साधु-साध्वी निवास भी करते हैं।

यदि मन्दिर, उपाश्रय, पौषधशाला आदि बनाने बनवाने में आप एकांत हिंसा मानते हैं तो आप को कदापि स्थानक, जैन भवन नहीं बनवाने चाहिए।

आपके साधु पुस्तकें भी छपवाते हैं। अपने फोटो चित्र भी उतरवाते हैं। इनमें प्रत्यक्ष हिंसा है। ऐसा जानते हुए भी, हिंसा को हिंसा समझते हुए भी आप के कथनानुसार सर्वथा अनुचित है। परन्तु जिनप्रतिमा, जिनमन्दिरों, जिनतीर्थों द्वारा अरिहंत भगवान की भक्ति से शुद्ध श्रद्धा (सभ्यदर्शन) की प्राप्ति, पुष्टि, दृढ़ता तथा विकास होता है।

अर्थात्—सम्यग्दर्शन की प्राप्ति, निर्मल सम्यग्ज्ञान का विकास तथा स्व और पर दया रूप परम उत्कृष्ट चारित्र्य की निर्मलता द्वारा सम्यक्-चरित्र की प्राप्ति होकर रत्नत्रय से आत्मा अलंकृत होती है। जिससे सद्गति तथा परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

श्रावकों के लिये धर्म है तो साधु द्रव्यपूजा क्यों नहीं करता ?

कई लोगों का कहना है कि “जिन मूर्ति पूजा” में द्रव्यों के प्रयोग में यदि श्रावकों को धर्म होता तो साधु द्रव्य पूजा क्यों नहीं करते ? क्या उन्हें धर्म करना अभीष्ट नहीं है ? यदि साधुओं को पाप लगता है तो श्रावकों को धर्म कैसे हो सकता है ?

समाधान 1—गृहस्थ सर्वसंग त्यागी नहीं है। वह सचित अचित परिग्रहधारी है। साधु सर्वसंग त्यागी है, सर्वथा परिग्रह रहित है। गृहस्थों में मिथ्यादृष्टि, अविरति-सम्यग्दृष्टि, और देशविरति क्रमशः जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट तीन भेद हैं।

साधु के भी प्रमत्त, अप्रमत्त, छद्मस्थ वीतराग, सयोगी केवली और अयोगी केवली—ये पांच भेद हैं। जीव के दो भेद हैं—संसारी और सिद्ध एवं संसारी के छह भेद हैं तथा सिद्ध का आत्म स्वभाव स्थित गुणों की अपेक्षा से एक भेद है।

अर्थात्—(1) परिग्रहधारी गृहस्थ 1 से 5 गुणस्थान तक। (2) सर्वसंग-सर्वपरिग्रह त्यागी प्रमत्त साधु छठे गुणस्थानवर्ती (3) अप्रमत्त साधु 7 से 10 गुणस्थानवर्ती, (4) छद्मस्थ वीतराग 11, 12 गुणस्थानवर्ती, (5) सयोगी केवली 13 गुणस्थानवर्ती शरीरधारी परमात्मा, (6) अयोगी केवली 14 गुणस्थानवर्ती शरीरधारी परमात्मा। (2) सिद्ध सर्वकर्म रहित अशरीरी परमात्मा हैं।

2—गृहस्थी सचित-अचित दोनों प्रकार के द्रव्यों को रखते हैं और अपने काम में भी लेते हैं। इसलिए इनमें से जिनप्रतिमा की पूजा के योग्य द्रव्यों से स्वकल्याण केलिये जिनप्रतिमा द्वारा परमात्मा की द्रव्य पूजा करते हैं। साधु सर्वसंग-सर्वपरिग्रह त्यागी होने से उसके पास द्रव्यों का अभाव है इसलिए वे द्रव्यपूजा नहीं करते। भावपूजा अवश्य करते हैं।

3—गृहस्थ द्रव्यों में आसक्ति कम करने के लिए द्रव्यों से पूजा करते हैं। साधु द्रव्यों की आसक्ति से रहित हैं इसलिए उन्हें द्रव्यों की आसक्ति से बचने के लिए द्रव्य पूजा करने की आवश्यकता नहीं है।

4—गृहस्थ सचित द्रव्यों के त्यागी नहीं हैं इसलिए सचित द्रव्यों से द्रव्य पूजा करते हैं। साधु सचित द्रव्यों से सर्वथा त्यागी है इसलिए सचित द्रव्यों से साधु को पूजा करने की आवश्यकता नहीं है।

5—गृहस्थ को द्रव्यों में अनुराग और आसक्ति है। द्रव्य पूजा किसी हद तक परमात्मा में अपना अनुराग उत्पन्न करने के लिये और द्रव्यों में आसक्ति प्राणियों की आसक्ति कम करने के लिए है। परमात्मा के गुणों के पूर्णरागी और द्रव्यों की आसक्ति से बिल्कुल परे तो भावस्थ साधु हैं, वे इतने ऊंचे पहुँच जाते हैं, इतने आगे बढ़ जाते हैं कि द्रव्यपूजा जैसी लाभ पहुँचाने वाली क्रिया तो उनकी उच्चता के सामने निम्न श्रेणी की क्रिया है। अतः द्रव्यपूजा की मुनिराजों को आवश्यकता नहीं है। इसलिए वे उसे नहीं करते और न ही अपनाते हैं। उनके लिए तो जिनप्रतिमा की भावपूजा ही उपयोगी है। इसलिए वे भाव पूजा करते हैं।

6—निश्चित है कि जब बालक पाठशाला पढ़ने जाता है तो वह सर्वप्रथम टेढ़ी-मेढ़ी लकीरें खींचता है, एक दो की संख्या तो रटता है, धीरे-धीरे अक्षर लिखना पढ़ना सीखता है। वर्णमाला और अंक सीखने के बाद, मात्राएँ, जोड़ाक्षर तथा पट्टी पहाड़े लिखना पढ़ना, रटना तथा याद करता है। जब वह कक्षाएँ पास करता हुआ आगे

बढ़ता जाता है, जब वह ऊंची श्रेणी में पहुँच जाता है तब वह बिना वर्णमाला को, पट्टी पहाड़ों को याद किए बड़ी बड़ी पुस्तकें पढ़ने लग जाता है और बड़े से बड़े अंक-गणित को सरलता से हलकर लेता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वर्णमाला पट्टी पहाड़े पढ़ना अनावश्यक हैं, बुरे हैं। जिन्हें उनकी जरूरत है उनके लिए तो बहुत कुछ है।

7—चश्मे की जरूरत आंख की कमजोरी से है, जिसकी आंख ठीक है, उसे चश्मे की क्या आवश्यकता? परन्तु आवश्यकता वाले के लिए तो बहुत कुछ है।

8—बुखार की दवा तो बुखार वाले के लिए ही उपयोगी है। तो स्वस्थ के लिए वह किस काम की? परन्तु रोगी के लिए तो वह दवा आशीर्वाद है।

9—इस प्रकार भावस्थ मुनिराज-सर्व परिग्रह त्यागी तथा सचित द्रव्यों के स्पर्श मात्र से भी बचने वाले को ऊँचे पहुँच जाने के कारण द्रव्य पूजा की आवश्यकता नहीं रहती और यदि वे अपनायें तो उन्हें हानि ही होगी।

10—धर्मोपदेश देना मुनि का धर्म है, पर मौन लेनेवाले मुनि इसलिए धर्मोपदेश नहीं छोड़ते कि उसमें पाप है अथवा अनुचित है बल्कि इसलिए कि वे और भी ऊंची श्रेणी में स्थित है।

11—तपस्या करने वाले मुनि आहार का त्याग यह समझकर नहीं करते कि आहार करने में पाप है बल्कि वे आहार का त्यागकर और भी ऊंची कोटि में जाना चाहते हैं।

12—ध्यान में लीन मुनिराज यह जानते हुए भी कि मन्दिर जाने में धर्म है परन्तु ध्यान में लीन रहने के कारण महीनों तक इसलिए मन्दिर नहीं जाते कि ऊँची श्रेणी में पहुँच जाने के कारण उससे अधिक लाभान्वित हैं।

13—लाख-दो लाख को उपार्जन करने वाला व्यापारी सौ-पचास रुपये के उपार्जन को लाभ का काम समझते हुए भी उसे नहीं अपनाता क्योंकि उससे भी अनेक गुणा अधिक लाभ उसे मिल रहा है। आखिर काम मुनाफे से है। थोड़ा मुनाफा अधिक मुनाफे के सामने व्यवहार में घाटे का काम ही समझा जाता है।

14—गृहस्थ धन से समृद्ध है, सुपात्र को दान देता है। मुनि धनादि परिग्रह का सर्वथा त्यागी है। वह सुपात्र दान को पाप मानकर त्याग नहीं करता। पर उसके पास धनादि का अभाव है। इसलिए दान देना उसका धर्म नहीं है।

15—सम्यग्दृष्टि इन्द्रादि देवता चीथे गुणस्थान में होने से तथा गृहस्थ मनुष्य जो पहले गुणस्थान से पाँचवें गुणस्थान तक हैं वे जिनप्रतिमा की द्रव्य तथा भावपूजा दोनों के अधिकारी हैं (2) छठे गुणस्थानवर्ती प्रमत्त साधु को आलम्बन की आवश्यकता है। सब प्रकार के परिग्रह तथा सचित वस्तु के त्यागी होने से द्रव्य पूजा का त्यागी होते हुए भी जिन प्रतिमा के आलम्बन की उसे आवश्यकता है इसलिए उसके माध्यम से वह भावपूजा का अधिकारी हैं। वह प्रभु के नामस्मरण, उनके गुणों का चिन्तन-मनन-गुणगान-कीर्तन, ध्यानारूढ़ होकर भावपूजा करके प्रभु में लीनता प्राप्त करता है।

(3) अप्रमत्त साधु 7 से 10 गुणस्थानवर्ती होने से एक दम अन्तदृष्टि होने के कारण उसे बाह्य आलम्बन की आवश्यकता नहीं रहती। इसलिए उसे द्रव्य और भाव दोनों प्रकार की पूजा की आवश्यकता नहीं रहती। वह तो अन्तर्ध्यान में ही लीन रहते हुए धर्मध्यान द्वारा परमात्मा में तदात्म्य प्राप्त कर लेता है। (4) छद्मस्थ वीतराग साधु 12 गुणस्थानवर्ती होने के कारणवह धर्मध्यान का त्याग कर देता है शीर शुक्लध्यान में लीन होकर (5) तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है और वह सयोगी केवली स्वयं परमात्मा बन जाता है। अब उसे नामस्मरण, वन्दन, पूजन आदि की भी आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि भव्य जीव की सब साधना परमात्मपद पाने के लिए ही होती है। तेरहवें गुणस्थान में परमात्मपद पा लेने के बाद बारह पर्वदाओं के सामने धर्मोपदेश तो देता ही है। इन्द्रादि उस परमात्मा की पुष्पवृष्टि आदि आठ प्रातिहायों द्वारा पूजा करते हैं। नव स्वर्णकमलों पर उनका विहार होता है। इनके आठकर्मों में से चार घातिया कर्मों का क्षय हो जाता है बाकी के चार अघातिया कर्मों को क्षय करने के लिए (6) सयोगी केवली योगों का भी निरोधकर शुक्लध्यान ध्याते हुए योगातीत होकर चौदहवें गुणस्थान को प्राप्त करता है और सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त कर अशरीरी अवस्था में सिद्ध पद को प्राप्त करके अजर-अमर हो जाता है। (7) चौदहवें गुणस्थान में योगातीत अवस्था में धर्मोपदेश देने का भी त्याग हो जाता है। मन, वचन, काया के योगों का विरोध मात्र पांच ह्रस्वाक्षरों (अ, इ, उ, ऋ, लृ) के उच्चारण करने में जितना समय लगता है उतना समय रहने के बाद देह का त्याग कर जीव अशरीरी परमात्मा स्व स्वरूप को प्राप्त कर सिद्ध हो जाता है।

16—अतः निश्चित है कि (1) देवता और गृहस्थ मनुष्य को द्रव्य और भाव पूजा दोनों की आवश्यकता है। (2) साधु होने के बाद प्रमत्त अवस्था में भाव-पूजा की आवश्यकता रहती है, द्रव्य पूजा की नहीं। (3) अप्रमत्त साधु के लिए द्रव्य भाव दोनों प्रकार की पूजा तथा गुरु आदि किसी भी प्रकार के बाह्य आलम्बन की आवश्यकता नहीं रहती ये अन्तदृष्टि होकर धर्मध्यान में लीन रहते हैं, उन्हें धर्मोपदेश देने की भी आवश्यकता नहीं रहती। (4) छद्मस्थ वीतराग अवस्था में धर्मध्यान की भी आवश्यकता नहीं रहती। इसलिए वे धर्मध्यान का त्यागकर शुक्लध्यान में लीन रहते हैं। (5) सयोगी केवली अवस्था में भगवान के नाम के सहारे की, किसी एकाग्र चिन्तन ध्यानादि, तीर्थंकर को वन्दन नमस्कार की भी आवश्यकता नहीं रहती पर धर्मोपदेश तो देते हैं। (6) अयोगी अवस्था में योगों तथा धर्मोपदेश का भी त्याग कर देते हैं। (7) सिद्धावस्था में शरीर की भी आवश्यकता नहीं रहती। इसलिए शरीर धारण भी नहीं करते।

17—जीव को शुक्लध्यान पाने के बाद धर्मध्यान की आवश्यकता नहीं रहती। सिद्धावस्था प्राप्त करने के बाद देह की भी आवश्यकता नहीं रहती और न वे उसकी कामना करते हैं। शुक्लध्यानी को धर्मध्यान की प्राप्ति और सिद्ध को मनुष्य

भव की प्राप्ति हानिकारक ही रहेगी पर हमारे लिए तो मनुष्य भव और धर्मध्यान सब कुछ आत्मकल्याण में अवश्य साधन हैं ।

18—परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि दान देना, भगवान का नाम जपना, उनकी पूजा पाठ करना, धर्मध्यान करना, या मनुष्य का शरीर पाना दूसरों के लिए भी बुरा है या आवश्यकता नहीं है । जिन्हें इनकी जरूरत है उनके लिए तो बहुत कुछ है ।

19—इससे यह स्पष्ट है कि जिस-जिस अवस्था में जिस-जिस वस्तु का त्याग किया गया है वह पाप समझ या मानकर नहीं किया गया । परन्तु उस-उस स्थिति में वह आवश्यक न होने से ही उनका त्याग किया गया है । साधु अवस्था में भी जिन प्रतिमा की द्रव्य पूजा की जरूरत न होने से ही साधु उसका त्याग करता है । पर पाप के कारण अथवा पाप समझ कर द्रव्यपूजा का त्याग नहीं करता ।

20—तथापि जब तक साधु छठें स्थान में प्रमत्त अवस्था में रहता है तब तक जिनप्रतिमा की भाव पूजा तो करता ही है क्योंकि आत्मविकास के लिए भाव पूजा परम उपयोगी है । इसीलिए तो जैनागमों में श्रावक और साधु के जिनप्रतिमा के दर्शन-वन्दन करने का प्रति दिन अनिवार्यता का निर्देश किया है । यदि वे जिनप्रतिमा की उपासना नहीं करते तो उन्हें प्रायश्चित्त आता है । इस बात का उल्लेख हम आगम पाठों के साथ पहले कर आए हैं ।

हिंसा के तीन प्रकार

साधु अथवा श्रावक के जितने भी उत्तम कार्य हैं उनमें भी हिंसा रही हुई है । परन्तु यह हिंसा कर्म बन्ध का कारण नहीं है । हिंसा तीन प्रकार की है । 1. हेतु 2. स्वरूप और 3. अनुबन्ध ।

1. संसार के कार्यों की सिद्धि के लिए होने वाली हिंसा हेतु हिंसा है ।
2. धर्मकार्यों में होने वाली हिंसा-अनिवार्य हिंसा स्वरूप हिंसा है ।
3. मिथ्यादृष्टि आत्मा से होने वाली हिंसा-अनुबन्ध हिंसा है ।

इनमें अनिवार्य—स्वरूप हिंसा कर्मबन्ध का कारण नहीं है इस का खुलासा हम पहले भी कर आए हैं ।

जिस-जिस क्रिया में हिंसा हो, वह-वह क्रिया यदि त्याज्य ही हो तो सुपात्र दान मुनि विहार, दीक्षा महोत्सव, साधर्मि वात्सल्य, दानशाला, आदि सब धर्म कार्य भी त्याज्य हो जावेंगे । परन्तु श्री आवश्यक सूत्र, श्री भगवती सूत्र, श्री आचारांग सूत्र, श्री ज्ञाताधर्मकथोपनिषद् सूत्र आदि आगमों में मुनि को दिया हुआ सुपात्र दान, साधु विहार, साधर्मि वात्सल्य आदि धर्म कार्य करने का साधु और श्रावक दोनों के लिए फरमया है ।

(1) श्री उववाई सूत्र में राजा कोणिक के किये हुए प्रभु के वन्दन महोत्सव का विस्तृत वर्णन है ।

(2) श्री भगवती सूत्र में उदायन राजा के किए हुए भगवान के स्वागत का तथा तुंगिया नगरों के श्रावकों द्वारा किए गए जिनपूजा का वर्णन है ।

(3) श्री विपाक सूत्र में सुबाहु कुमार का वर्णन है वहां मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में रहे हुए सुबाहु कुमार द्वारा किए हुए सुपात्रदान से उसे पुण्यबन्ध तथा परित्त-संसारी (संसार का अन्त करके मोक्षपदाधिकारी) बतलाया है। यदि हिंसा के योग से केवल अधर्म ही होता हो तो सुबाहु कुमार को पुण्यबन्ध तथा परित्त संसारी होने की प्राप्ति कैसे सम्भव हुई? सच्ची बात तो यह है कि जैसे सुपात्रदान है वैसे ही जिनपूजा भी पुण्यबन्ध तथा मोक्ष का कारण होती है।

(4) श्री जिनपूजा तथा सुपात्रदान आदि धर्मकार्यों में जो आरम्भ होता है वह सदारम्भ है और उसके योग से संसार के दूसरे असदारम्भों से निवृत्ति मिलती है, यह बहुत बड़ा लाभ है। जो लोग धन-दौलत, कुटुम्ब-कबीले, ज़मीन-जायदाद आदि असदारम्भों से निवृत्त नहीं हुए, उनके लिये दान, देवपूजा, साधर्मोवात्सल्य आदि सदारम्भ हितकारी हैं और करने योग्य हैं।

(5) श्री रायपसेणी सूत्र में श्री पार्श्वनाथ सन्तानीय) श्री केशीकुमार आचार्य ने परदेशी राजा को असदारम्भ त्याग करने को कहा है। परन्तु सदारम्भ को त्याग करने को नहीं कहा।

(6) सदारम्भ में दो गुण हैं (1) जहां तक सदारम्भ में लगा रहेगा। वहां तक असदारम्भ हो नहीं सकता। (2) सदारम्भ में जो द्रव्य, समय, शक्ति आदि व्यय होते हैं उनसे असदारम्भ नहीं होगा।

(7) धर्म कार्य करते समय प्राणों का घात करने की बुद्धि नहीं होती परन्तु रक्षा करने की बुद्धि रहती है। स्वरूप हिंसा तेरहवें गुणस्थान (केवली अवस्था) तक भी टल नहीं सकती। तो भी इसको केवलज्ञानादि गुणों की प्राप्ति में प्रतिबन्धक नहीं माना गया।

(8) हेतु हिंसा और अनुबन्ध हिंसा त्याज्य है। क्योंकि ये संसार के हेतुभूत हैं। श्री आचारंग सूत्र आदि आगमों में अपवाद रूप से हिंसादि का सेवन करने वाले मुनियों तथा समुद्रादि के जल में अपकायादि की विराधना होने पर भी शुभध्यानारूढ़ मुनियों को केवलज्ञान और मुक्ति प्राप्त होने के विवरण हैं। संयम शुद्धि के लिये आवश्यक साधु विहार के समान ही श्री जिनमक्ति आदि में होने वाली हिंसा आगमों में कर्मबन्ध का कारण नहीं मानी गयी।

(9) श्री जिनशासन स्याद्वाद गर्भित है सुविवेक पुर्वक आशय भेद से हिंसा भी अहिंसा बन जाती है। जिससे आत्मभावों का हनन हो वह हिंसा है परन्तु जिसमें आत्मभाव का हनन न हो वह हिंसा नहीं है। दान, पौषध साधुविहार, देवपूजा, प्रतिक्रमण, साधर्मोवात्सल्य आदि आत्मभाव को हनन नहीं करने वाली क्रियाएँ हैं और इसीलिये ये परम्परा से सम्पूर्ण अहिंसा हैं और मुक्ति को दिलाने वाली हैं। मुक्ति के साधनों का सेवन करते हुए हो जाने वाली अनिवार्य हिंसा आत्मभावों को हनन करने वाली नहीं होती। ऐसी विवेक पूर्ण बुद्धि जिनकी नहीं है वे विवेकहीन धर्मबुद्धि

में ही अधर्म का सेवन करने वाले बनते हैं अथवा अधर्म के सेवन को ही धर्म का कारण मानने वाले होते हैं।

(10) श्री जिनप्रतिमा पूजा आत्मभाव को विकसित करने वाली, सम्यक्त्व प्राप्ति तथा शुद्धि का कारण और अन्त में सर्वकर्म क्षय कर मुक्ति प्रदाता है। अतः हिंसा के नाम से देवपूजा से दूर भागना, दूसरों को इस से विमुख करना—यह भयावह अज्ञानता से भरपूर आत्मवंचना है। आत्मघातक दुस्साहस है।

जिनप्रतिमा को न मानने से हानि—

(1) मूर्ति को न मानने के कारण बत्तीस सूत्रों के अतिरिक्त अन्य आगमों से, पूर्वधरों द्वारा रचित निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीकाओं आदि ज्ञान के समुद्र समान महाशास्त्रों से तथा उनके उत्तमोत्तम सद्बोधों से वञ्चित रहना पड़ा। एवं आगमों के सूत्रों की और ग्रन्थकर्ता गीतार्थ प्रामाणिक महापुरुषों को अप्रामाणिक मान कर ज्ञान और ज्ञानियों की आशातना का घोर पाप कर्म उपार्जन करने का अवसर प्राप्त करना पड़ा।

(2) बत्तीस आगमों के भी निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीकाओं को न मानकर और उनसे विपरीत स्वकपोलकल्पित (मनमानी) टीकाएँ और टब्बे आदि बनाकर स्व-पर को बनर्थ की भयंकर खाई में डूबने का कारण बना।

(3) अन्य ग्रन्थों तथा 32 सूत्रों में भी जो मूर्तिपूजा विषयक पाठ है उन पाठों को उड़ाकर, अथवा उनके मनघडंत अर्थ करके अथवा उन पाठों के बदले मनमाने पाठों का प्रक्षेप करके सैंकड़ों मूल ग्रन्थकर्ताओं के अभिप्रायों के विरुद्ध उत्थल-पुथल व चोरी करनी पड़ती है।

(4) मूर्ति को न मानने से यथार्थ तीर्थ-भूमियों में गमन करना आदि स्वतः बन्द करने का समय आया। इससे तीर्थयात्रा से होनेवाले लाभों से अपने आपको वञ्चित रखना पड़ा। तीर्थयात्रा से होने वाले लाभ, संसारिक वृत्तियों की निवृत्ति, ब्रह्मचर्यादि धर्म पालन, देवपूजा, तथा शुभक्षेत्रों में द्रव्य व्यय आदि द्वारा जो पुण्योपार्जन आदि होता है उससे भी वञ्चित रहना पड़ा।

(5) जिनमन्दिर में न जाने से श्री जिनेन्द्रदेव की द्रव्यपूजा छूट जाती है। प्रभु भक्ति में जो शुभ द्रव्य व्यय होना था तथा भगवान के समक्ष स्तुति, स्तोत्र, चैत्यवन्दनादि होने थे उन सब लाभों से वंचित होना पड़ता है।

(6) जो पुण्यात्माएँ जिनमन्दिर, तीर्थों आदि में प्रभुभक्ति के निमित्त जाती हैं उनकी निन्दा तथा टीकाटिप्पणी करने से क्लिष्ट पाप कर्मों का उपार्जन तथा बोधि-दुर्लभता आदि महादोषों की प्राप्ति होती है।

(7) जिन-प्रतिमाओं, मन्दिरों, तीर्थों से विमुख होने से उन के स्वामित्व अधिकार से भी वंचित होना पड़ता है।

प्रतिमा आदि की उपयोगिता

मूर्ति मान्यता के विरोधियों का कहना है कि—

(1) जैसे मृत पति की प्रतिमा, चित्र, फ़ोटो, मूर्ति आदि की उपासना, भक्ति, जप, नामस्मरण आदि करने से पतिव्रता स्त्री की काम-भोग की तृप्ति, पुत्रादि की प्राप्ति की कामना पूरी नहीं हो सकती।

(2) जैसे पत्थर की गाय-भैंस-बकरी अथवा इनके चित्र से दूधादि की प्राप्ति नहीं हो सकती।

(3) जैसे पत्थर आदि के सिंह में जीवित सिंह के सामर्थ्य का अभाव है।

वैसे ही तीर्थकर की मूर्ति, चित्र, फ़ोटो आदि की उपासनादि से आत्म-कल्याण सम्भव नहीं है। अतः जड़ को चेतन के समान समझना सरासर भूल है, अपने आपको धोखा देना है। जड़ मूर्ति में चेतनमय असल वस्तु की क्षमता कहां सम्भव है ?

इसलिये हम तो निराकार ईश्वर को मानते हैं और उसके गुण भी निराकार हैं। मूर्ति द्वारा उसके स्वरूप को जानना और उसकी उपासना, साधना, आराधना, सब असम्भव है। ईश्वर के गुणों की ही उपासना करनी चाहिये। इसी से ही आत्मा का कल्याण सम्भव है।

समाधान (1) जिस स्त्री का भरतार मर गया है अथवा परदेश गया हुआ है यदि वह स्त्री आसन बिछा कर अपने पति का नाम लेवे अथवा माला लेकर जाप करे तो क्या इसे उसकी काम-भोग-लालसा, अथवा पुत्रादि की प्राप्ति की इच्छा पूरी हो जावेगी ? कदापि नहीं। तब तो तीर्थकरों के नाम का जाप भी नहीं करना चाहिए ? क्योंकि आपकी धारणा के अनुसार जो वस्तु विद्यमान है उसका नाम स्मरण, जापादि करने से भी कोई लाभ संभव नहीं है। परन्तु आप तो तीर्थकरों के नाम की माला भी फेरते हैं, वह भी उससे लाभ की इच्छा से ही करते हैं।

जहां वासना होती है, कुछ पाने की इच्छा होती है, काम-भोग पुत्रादि पाने की कामना होती है; ऐसी उपासना से किसी प्रकार का आत्मकल्याण सम्भव नहीं। इस प्रकार की उपासना यदि तीर्थकर के नाम जापादि से भी की जावे तो आत्मा के भवभ्रमण का ही कारण है। फिर वह चाहे उनकी जड़ मूर्ति की हो अथवा जीवित तीर्थकर की क्यों न हो।

भक्त जो कुछ भी साधना, उपासना करता है वह आत्मकल्याण की भावना से श्रद्धापूर्वक उनके प्रति पूज्यभाव का परिचय देता है। पतिव्रता स्त्री अपने मृतपति के चित्र, फ़ोटो अथवा मूर्ति को नमस्कार कर अपनी भक्ति और श्रद्धा का परिचय देती है। उस समय काम वासना भोग वाँछा अथवा पुत्र प्राप्ति की भावना का लेशमात्र भी अवकाश नहीं है। क्योंकि वह जानती है कि मृत भरतार से पुत्रादि की प्राप्ति असम्भव है। मृतपति के दर्शन, स्मरण, नाम जपने से यह भावना तो वह पतिव्रता स्त्री अवश्य कर सकती है कि उसे पति के अभाव में एकनिष्ठ, ब्रह्मचर्य (शील) पालन करने का सामर्थ्य प्राप्त हो। जिससे वह शुद्ध-पवित्र जीवनयापन करके अपने आपको

आजीवन पतिव्रता सिद्ध कर सके। मृतपति की मूर्ति, चित्र, फोटो के सामने सच्चे हृदय से ऐसी भावना सदा-सर्वदा रखने से वह अपने शुद्ध पतिव्रत धर्म पालन करने में अवश्य सफल होगी; यह बात निःसंदेह है। इसी प्रकार यह बात भी निःसंदेह है कि वीतराग-सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवन्त की प्रतिमा, चित्र, फोटो की पूजा, उपासना द्वारा उनके गुणों का स्मरण करते हुए वैसे गुणवान बनने के दृढ़ संकल्प से, उनके समान बनने की भावना से, वैसे आत्मकल्याणकारी आचरण करने के लिए यह भव्यात्मा अग्रसर होकर आचरण की सरलता और पवित्रता से अवश्य सर्व कर्मों को क्षय कर निर्वाण प्राप्त करने में सफल हो सकती है। अतः पति के चित्रादि से पुत्रप्राप्ति का तर्क शुद्ध नहीं परन्तु कूट कुतर्क मात्र है।

2. पत्थर की गाय—सिंह आदि को देखकर असली गाय—सिंह का बोध होता है। भूगोल-खगोल आदि के चित्रों को देखकर पृथ्वीतल तथा आकाशीय पदार्थों का बोध होता है। यह बात स्कूलों और कालेजों में पढ़ने वाले विद्यार्थी जानते हैं।

गौ का भक्त गाय के दूध, मूत्र, गोबर आदि पाने की भावना से उसकी उपासना नहीं करता। बछड़ा-बछड़ी पाने के लिए उसकी उपासना नहीं करता। वह तो गाय में माता की कल्पना करके उसके चरणों को स्पर्श करता है। इस बात को हम दृष्टांत द्वारा स्पष्ट करते हैं—

एक आदमी गाय को बेचने के लिए बाजार में लाया। 1-कसाई ने देखा कि उसके शरीर में मांस कितना है? उसकी दृष्टि उसके मांस पर गयी। 2-चमार ने उस के चमड़े को देखकर उसका मूल्यांकन किया। 3-ग्वाले ने दूध को देखकर उसका मूल्य लगाया। गाय एक होने पर भी एक की दृष्टि मांस पर, दूसरे की चमड़े पर तथा तीसरे की दूध पर गई और उसी के अनुसार उन्होंने भिन्न-भिन्न प्रकार से गाय का मूल्यांकन किया। 4-चौथा व्यक्ति आया वह गाय माता का भक्त था। उसकी दृष्टि न मांस पर, न चमड़े पर और न दूध पर गई। उसे इस बात को जानने की इच्छा भी नहीं हुई कि वह बांझ है अथवा संतानोत्पत्ति की क्षमता वाली है। न मोटापे पर, न पतलेपन पर, न कद पर, न रंग, न बचपन, जवानी अथवा बुढ़ापे पर, न रोग पर, न स्वास्थ्य पर दृष्टि गई उसने तो गाय के आकार को देखकर उसकी महत्ता के विराट स्वरूप के दर्शन किए और भक्ति से उसके चरणों में सिर झुका दिया।

वैसे ही जिनप्रतिमा के द्वेषी प्रतिमा को देखते ही सटपटा जाते हैं। इन्हें वहां जड़ और पत्थर के सिवाय कुछ बोध नहीं रहता, जिससे वे द्वेष तथा आशातना के कनूस्ति भावों से पाप कर्म का बन्ध करके दुर्गति के भागी बनते हैं। किन्तु सम्यग्दृष्टि प्राणी तीर्थंकर की मूर्ति में तीर्थंकर के विराट स्वरूप का—अनन्त गुणों का चिंतनकर प्रभु भक्ति में मस्त हो जाता है, तल्लीन होकर तदात्म्य भाव में स्थिरता प्राप्तकर आत्म स्वरूप में रम जाता है और अन्त में सर्व कर्म क्षयकर शाश्वत सुख रूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

मूर्ति का अर्थ है—आकृति, रूप, शकल, नकशा, चित्र, फोटो, प्रतिबिंब, प्रतिमा आदि। वैज्ञानिक, विद्यार्थी, इंजीनियर, अध्यापक आदि तथा सांसारिक, व्यावहारिक, धार्मिक इत्यादि चाहे कोई भी व्यक्ति अथवा कार्य हो; बिना मूर्ति के न तो इतना ज्ञान ही हो सकता है और न किसी का काम ही चल सकता है। छोटे से छोटा बालक तथा बड़े से बड़ा अध्यात्मयोगी कोई भी वयों न हो उसे अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिए सर्व प्रथम मूर्ति की आवश्यकता रहती है। इस विषय में प्राचीन तथा वर्तमान विद्वानों के दो मत नहीं हैं।

अध्यापक चित्रपट (नक्शे Map) से विद्यार्थी को भूगोल-खगोल का ज्ञान कराता है। डाक्टर जड़ अस्थि पिंजर अथवा इनके चित्रों से जीवित मानव के रोगों का ज्ञान तथा चिकित्सा का अभ्यास कराता है। इंजीनियर मानचित्रों के आधार से नगरों इमारतों, सड़कों आदि का निर्माण करता है। वैज्ञानिक इसीके आधार से बड़ी-बड़ी वस्तुओं की गहराइयों को पा लेता है। आत्म शान्ति का अभिलाषी जड़ शास्त्र को पढ़ कर आत्मज्ञान प्राप्त करता है। साधक और योगी को भी अपने चित्त को स्थिर और एकाग्र करने के लिए मूर्ति आदि का सहारा लेना पड़ता है। मुमुक्षु आत्माओं का अन्तिमधेय जन्म-मरण आदि दुःखों का अन्त कर अक्षय सुख प्राप्त करने का होता है। परन्तु इस महान उद्देश्य की पूर्ति के लिए सर्वप्रथम चंचल मन की एकाग्रता, इन्द्रियों का दमन, कषायों पर विजय प्राप्त करना अनिवार्य है। ऐसी अवस्था प्राप्त करने के लिए एक मात्र निमित्तकारण तीर्थकर प्रभु की ध्यानस्थित, शान्तमुद्रा, प्रशमरस-निमग्न मूर्ति ही है। फिर वह मूर्ति चाहे पाषाण की हो, चाहे काष्ठ, घातु, अथवा अन्य किसी वस्तु से निर्मित हो। उपासक का लक्ष्य तो प्रतिमा द्वारा परमात्मा के सच्चे स्वरूप का चिंतन कर अपने वास्तविक शुद्ध स्वरूप को पाना है।

जड़ मूर्ति से लाभ

शंका—1-हम तो मात्र भावनिक्षेप को ही मानते हैं बाकी के तीन निक्षेपों को नहीं मानते। 2-जड़ प्रतिमा की भक्ति उपासना पूजा आदि से कोई लाभ नहीं। 3-वह न तो हमें उपदेश दे सकती है और न ही हमारी शंकाओं का समाधान कर सकती है। 4-उसमें न तो कोई ज्ञान-दर्शन-चरित्र आदि गुण हैं और न ही उसमें चैतन्यमय आत्मा है। 5-न तो हमें पाप के गर्त में गिरतों को बचा सकती है और न ही धर्म मार्ग में लगा सकती हैं। ऐसी जड़-निरूपयोगी मूर्ति की आराधना से कोई लाभ तो है ही नहीं 'दूसरी बात यह है कि जब हमें यह मालूम है कि भगवान तो मोक्ष पथार चुके हैं तब उनकी मूर्ति को साक्षात् भगवान समझकर अपने आपको घोखा कैसे देवें? और मन कैसे स्वीकर करे कि यह परमात्मा तीर्थकर है? मूर्ति को देखने से हमारे भाव बिगड़ जाते हैं। कषायों का अविर्भाव हो जाता है। अतः इसे मानने से हमारा पतन है।

समाधान —1-जैसे साधु के संयम के साधन वस्त्र, पात्र, उपकरण आदि अजीब है इनसे साधु के चारित्र-संयम की साधना होती है वैसे ही जिनप्रतिमा की स्थापना

से ज्ञान शुद्धि, दर्शन शुद्धि और चारित्र्य शुद्धि संभव है। कहा भी है कि—

“यत् संयमोपकाराय वर्तते प्रोक्तमेतदुपकरणम् ।

धर्मस्य हि तत्साधनमतोऽन्यदधिकरणमहार्हम् ॥”

2. असल में मूर्ति की पूजा नहीं की जाती, पूजे जाते हैं परमात्मा के गुण जिनमूर्ति द्वारा तो परमात्मा के गुणों का स्मरण हो आता है। उनके विराट स्वरूप के दर्शन हो पाते हैं। मूर्ति तो परमात्मा का तथा उनके गुणों की पूजा तथा भक्ति का आधार है। उपासना का माध्यम है।

3. तीर्थंकर प्रभु जब ध्यानावस्था में होते हैं, मीनावस्था में होते हैं, उस समय उनका दर्शन करने वाले को प्रभु के प्रवचन (उपदेश), शंका समाधान या प्रश्नों का समाधान अथवा प्रश्नों के उत्तर आदि कुछ भी प्राप्त नहीं होते तो भी भगत् उनके दर्शन करके अपने आप को कृतकृत्य मानता है; इसी प्रकार जिनप्रतिमा के दर्शन करने वाला श्रद्धालु भगत् कृतकृत्य हो जाता है।

4. तीर्थंकर प्रभु जब विद्यमान होते हैं उस समय भी ऐसे लोग मौजूद थे जिन को उन्हें देखकर द्वेष उत्पन्न होता है, कषायों का अविर्भाव हो आता है। प्रभु को उपसर्ग करनेवाले भी थे, प्रभु के विरोधी भी थे। प्रभु महावीर से प्रतिबोध पाकर, उनसे दीक्षा लेकर और साक्षात् उनसे आगमों का ज्ञान प्राप्त करके भी जमाली आदि जैसे निन्हव शिष्यों ने उनका विरोध किया, उनकी अवहेलना की, उनका प्रतिपक्षी बन कर अपना अलग मत स्थापन किया अपने आपको तीर्थंकर होने की उद्घोषणा भी कर डाली। गोशाला जैसों ने अपने आपको आपका शिष्य होने की उद्घोषणा की, आपसे ही शिक्षा पाकर आपका प्रतिपक्षी बना और आप पर तेजोलेश्या छोड़ी। ऐसे ही अन्य निन्हवों ने भी प्रभु का अविनय, अपमान, आशातना अवहेलना करके दुर्गति पाई तथा गौतम आदि गणधरों, आनन्द आदि श्रावकों, चन्दनबाला आदि जैसी साध्वियों, रेवती जैसी श्राविकाओं ने प्रभु की भगती से सद्गति तथा निर्वाण की प्राप्ति की। प्रभु से द्वेष करने वालों को पाप और मिथ्यात्व का उदय था और उनके प्रति भक्ति के भाव रखने वालों को सम्यक्त्व तथा पुण्य का उदय था। इसी प्रकार जिनप्रतिमाओं को देखकर जिसे द्वेष उत्पन्न होता है अथवा कषाय का अविर्भाव हो आता है, जिसके भाव बिगड़ जाते हैं, उसको पाप और मिथ्यात्व को उदय का कारण है। इसलिए वे पाप कर्मों का उपा-र्जन करके दुर्गति के भागी बनते हैं। इन में न तो प्रभु का दोष है और न उनकी प्रतिमा का दोष है। दोष है तो उसके अपने अन्तर की दुर्भावना का। अर्थात् दीपक के तले के बन्धरे के लिए प्रकाश का दोष नहीं दीपक का अपना ही दोष है जिन्हें जिनप्रतिमा के दर्शन कर भक्ति के भाव उत्पन्न होते हैं वे पुण्यात्मा निकटभवि हैं। कोई वस्तु अच्छी अथवा बुरी नहीं होती। जिसकी जैसी भावना होती है सामने वाली वस्तु उसे वैसी ही दिखलाई देती है। जैसे एक महिला है, बेटा इसे माता के रूप में देखता है। भाई उसे बहन के रूप में देखता है। बाप उसे बेटी के रूप में देखता है। पति उसे पत्नी के

रूप में देखता है। स्त्री लम्पट उसे कुदृष्टि से देखता है। एक महिला पुत्र की दृष्टि में पूज्य है और वही महिला लम्पट की दृष्टि ने काम तृप्ति का साधन है। इस बात को विशेष स्पष्ट करने के लिए यहां एक दृष्टांत उपयोगी होगा—

खीया-पाया

एकदा कुछ जैन साध्वियां विहार करते हुए एक नगर में पधारीं। वहां के श्रीसंघ की तरफ से जोरदार विनती होने से उन्होंने उसी नगर में वर्षावास (चीमासा) किया। वहां की राजकन्या को उनके सम्पर्क में आने से संसार से वैराग्य हो गया। चतुर्मास उठने के बाद माता-पिता की आज्ञा लेकर उसने भागवती दीक्षा ग्रहण की। साध्वी के पांच महाव्रत स्वीकार कर अणगार बनी। वहाँ से विहार कर अन्यत्र जाने के लिए प्रस्थान किया। रास्ते में रात हो जाने से सब साध्वियों ने एक बड़े वृक्ष के नीचे रात्री विश्राम लिया। उस वृक्ष के कोटर में एक विषैले सांप का आवास था। उसने राजकुमारी साध्वी को डंक मारा। साध्वी का स्वर्गवास हो गया। काल के आगे किसी का ज़ोर नहीं, कौन जानता था कि यह सोलह वर्षिया राजकन्या नव-दीक्षिता साध्वी इतनी अल्प अवस्था में कालकलिवत हो जाएगी। साध्वियां इस मृत देह को बोसरा कर (वहीं छोड़कर) प्रातः होते ही आगे को रवाना हो गईं। इतने में इधर से एक बूढ़ा बाबा संन्यासी आ निकला। उस शव को देखकर उसके शरीर में रोमांच हो आया। वहीं उसके कदम रुक गये। वह आँखें गाड़कर बड़े गोर से उस शव को एकटक से देखने लगा मन ही मन बुड़बड़ाने लगा और गम्भीर चिंतन में पड़ गया। “अहा! कितनी सुन्दर है यह युवती! कोमल सुघड़ सम्पूर्ण अंगोपांग, लावण्यमय शरीर, पूरा जोबन, इसकी आकृति से ऐसा अनुमान होता है कि यह कन्या किसी समृद्ध सुखी परिवार की है। संभवतः राज्यकन्या हो तो इसमें कोई अतिशयोक्ति न होगी। धिक्कार है इसको और धिक्कार है इसके जीवन को कि सब प्रकार की भोगोपभोग की सामग्री को पाकर भी सांसारिक सुखों से वंचित रही और संन्यास लेकर जंगल में भटक मरी, प्राणों से भी हाथ धो बैठी। धिक्कार है इसके माता-पिता को कि जिन्होंने इसका विवाह कर किसी का घर नहीं बसाया और संन्यास दिलाकर घर से निकाल बाहर किया। इसे देखकर मेरा मन चाहता है कि इसे अपने शरीर से लिपटा लूँ। पर क्या करूँ यह तो शव है, मिट्टी की ढेरी है। मैं इससे अपनी कामवासना की तृप्ति न कर पाऊँगा। यदि यह जीवित मुझे मिल जाती तो मैं इसे अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार कर चिरकाल तक संसार सुख अवश्य भोगता। इस प्रकार विचारों की उधेड़-बुन में अपने भाग्य को कोसता हुआ डगमगाते कदमों से वहाँ से रवाना हो गया।

कुछ देर बाद कोई दूसरा संन्यासी उधर आ निकला। उसकी निगाह उस शव पर पड़ते ही वह चौंक पड़ा। कहने लगा—ओहो! कितनी सुन्दर, नवयौवना, कोमल और सम्पूर्ण अंगोपांग वाली यह ललना! आकृति से भोली-भाली। ऐसा मालूम होता है कि संन्यासिनी के वेश में कोई राजकन्या है। भर जवानी में संसार को असार

जानकर सब प्रकार के भोगोपभोगों का त्याग कर सन्यास ग्रहण करके जगत के भोग-ग्रस्त प्राणियों के सामने इनकी असारता का आदर्श उपस्थित किया। कौन जानता था कि यह इतनी जल्दी काल का ग्रास बन जावेगी। हे देवी ! धन्य है तुम्हें और धन्य है तुम्हारे माता-पिता को, जिन्होंने सांसारिक भोगोपभोगों को पापजन्य दुर्गति का कारण और असार जान कर उनका त्याग कर सन्यास धारण किया कराया।

धिवकार है मुझे कि घर गृहस्थी तथा धन-दौलत, परिवारादि का त्याग कर सन्यास लेकर तथा इतनी वृद्धावस्था हो जाने पर भी काम-विकारों को मन से न निकाल पाया, उन पर विजय न पा सका। बाह्य सन्यास से आत्मा का कल्याण कदापि सम्भव नहीं ऐसा महापुरुषों का कहना है। मेरे दांत गिर गए हैं मुख से लारें टपकने लगीं हैं। शरीर जर्जरित होने आया है पर सच्ची वैराग्य भावना का प्रादुर्भाव आज तक न कर पाया। अब भी चेत जा, विकराल काल मुँह फाड़े तेरी तरफ़ दौड़ा चला आ रहा है। ओह ! कौसी दयनीय दशा है मेरी। बार-बार धिवकार है मुझ पापात्मा को। ऐसे विचारों की उधेड़बुन में लाठी को टेकता हुआ आगे चल पड़ा।

अब जरा सोचिए कि उस शवमें कोई जीवित आत्मा तो विद्यमान नहीं थी। एक युवती की जड़ आकृति के सिवाय और तो कुछ नहीं था उसे देख कर पहले ने दुर्भावना से घोर पाप कर्मों का बन्धन कर लिया और दूसरे ने अपनी आत्मा की आलोचना से कर्मों की निर्जरा कर डाली और आगे को ऐसे खोटे विचारों का सर्वथा त्याग कर निर्दोष सन्यास धर्म का पालन करते हुए सच्चा पथगामी बना। जैसी जिसकी भावना वैसा उसे फल। एक ने अपनी आत्मा का पतन किया। खो गया, बाजी हार गया। दूसरे ने पा लिया, अपनी आत्मा को जागृत करके चला गया।

इसी प्रकार यदि किसी महानुभाव को जिनप्रतिमा को देखकर द्वेष होता है तो उसके पतन का कारण उसके अन्दर रहा हुआ द्वेष ही है। उसके खोटे विचार ही हैं। उसकी दुर्भावनाएं ही हैं। न कि वीतराग सर्वज्ञ प्रभु की मूर्ति। कहा भी है कि—

“यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी।”

अर्थात्—जैसी जिसकी भावना होती है वैसी ही उसे सिद्धि भी होती है।

गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है कि—

“जिसके मन भावना जैसी, प्रभु मूरत तिन देखी तैसी।”

इस प्रकार तीर्थंकर प्रभु की प्रतिमा के पास जाकर अपनी आत्मा का कल्याण चाहने वाले केलिए जरूरी है कि उसके मन में प्रभु के प्रति-अटूट श्रद्धा हो, हृदय भक्ति से परिपूर्ण हो। और आत्मकल्याण की भावना हो तभी कुछ पा सकेगा, बरना नहीं। इस बात को स्पष्ट करने के लिए जैनाचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकर अपने द्वारा रचित ‘कल्याणमन्दिर स्तोत्र’ में स्पष्ट फ़रमाते हैं कि—

आर्कणतोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि,

नूनं न जेतसि मया विधृतोऽसि भवतया ।

जातोऽस्मि तेन जनबान्धव दुःखपात्रं,
यस्मात् क्रिया प्रतिफलन्ति न भावशून्याः ॥38॥

अर्थात्—हे लोक बन्धु लोक के हितकारक ! मैंने पहले किसी भी भव में आप का उपदेश भी सुना होगा, आपकी पूजा भी अवश्य की होगी और आप के दर्शन भी किये होंगे। परन्तु श्रद्धापूर्वक भक्तिपूर्ण भावना से चित्त में आपको धारण तो किया ही नहीं। यही कारण है कि सब कुछ करते हुए भी मैं दुःख का पात्र ही बना रहा हूँ। कारण स्पष्ट है कि यदि सुनने, पूजा और दर्शन आदि करने की सब क्रियाएं भाव शून्य हों तो फलदायक होती ही नहीं। इसीलिए मेरी सब क्रियाएं निष्फल गई हैं।

साक्षात् वीतराग सर्वज्ञ प्रभु से कुछ पाने के लिए गौतम स्वामी जैसे विनयवान श्रद्धालु बनने की आवश्यकता है और उनके समान भावना होने से श्रद्धालु उपासक उन से कुछ पाने की पात्रता प्राप्त कर सकता है।

परन्तु गोशाले और जमाली आदि जैसे उदंड द्वेषी निन्हव क्या पा सकते हैं वहां जाकर वे अपना पतन ही तो करेंगे, पाप के गर्त में पड़कर नरकगति के भागी ही तो बनेंगे, जिस प्रकार छोटे भावों वाला अथवा भावशून्य व्यक्ति साक्षात् जीवित तीर्थंकर के पास जाकर भी अपना पतन कर लेता है, वैसे ही मिथ्यादृष्टि, दूरभवि और अभवि भी अपना पतन ही करेंगे। शुद्ध भावों से जिनप्रतिमा की साक्षात् तीर्थंकर प्रभु के समान उपासना, दर्शन, पूजन, भक्ति आदि करने से भव्य प्राणी मोक्ष तक पा सकता है। जो द्वेष करता है, जिनप्रतिमा का विरोधी होकर उत्थापन अथवा निन्दा करता है वह अपना पतन करता है, दूसरों को भी मिथ्या प्रलाप द्वारा भक्ति मार्ग से हटाकर पाप के गर्त में धकेलने का कारण बन कर स्व-पर को दुर्गति का भागी बनाता है। अतः इसमें सन्देह नहीं है कि जिनप्रतिमा को साक्षात् तीर्थंकर मान कर शुभ भावों से भक्ति करने से उत्तम फल की प्राप्ति कर सकते हैं और अनूपम अलौकिक मोक्ष की प्राप्ति भी कर सकते हैं।

जिन महानुभावों ने जिनप्रतिमा पूजन के गूढ़ रहस्य को समझ लिया है वे तो संसार से सदा विरक्त रह कर पूजाभक्ति द्वारा सांसारिक सुख भोगों को पाने की लेश-मात्र भी इच्छा नहीं रखते। उनकी भावना तो कर्मजन्य सब सुख-दुखों से मुक्त होकर शाश्वत सुख रूप आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करके मोक्ष पाने की रहती है। पाप और अन्याय से वे सदा दूर रहते हैं। ईश्वर के प्रति श्रद्धा, प्रेम और भक्ति, धर्म पर दृढ़ श्रद्धा, विश्वास तथा प्रतिमा में ईश्वरत्व की बुद्धि रखना उनका प्रधान ध्येय होता है। जिनप्रतिमा की भक्ति से सदाचार, शान्ति, सुख और समृद्धि प्राप्त होते हैं और मोक्ष तक भी प्राप्त होता है। इस बात में सन्देह का किञ्चिन्मात्र भी अवकाश नहीं है। कहा भी है—“मानो तो देव नहीं तो पत्थर ही है।” प्रभु मूर्ति सब कुछ देती है, उससे पाने की अपने में योग्यता भी चाहिए। व्यापार से धन, समृद्धि, मान, प्रतिष्ठा सब कुछ प्राप्त होते हैं। पर किसको? व्यापार कुशल बुद्धिमान को। मूर्ख जड़बुद्धि तो मूल

पूजी को भी खो बैठता है और दीवालिया बनकर जगह-जगह ठोकरें खाता हुआ मारा-मारा फिरता है तथा सब जगह अपमान की दृष्टि से देखा जाता है। इसमें व्यापार का क्या दोष ? यह तो सब जड़बुद्धि की करामत है। गुरु द्रोणाचार्य की मिट्टी की मूर्ति का आलम्बन लेकर ही तो भीलपुत्र एकलव्य ने धनुर्विद्या प्राप्त कर ली थी। वह अर्जन से भी बढ़ गया और धनुर्विद्या में पारंगत हो गया था।

5. विरोध के समर्थन में—हम एक भाव निक्षेप को ही मानते हैं बाकी के तीन निक्षेपों को नहीं मानते। वर्तमान में सशरीरी तीर्थंकर प्रभु भाव निक्षेप से तो विद्यमान नहीं हैं। उनके गुण भी निराकार हैं। सिद्धावस्था में अशरीरी ईश्वर अरूपी है और उसके गुण भी निराकार हैं। उस निराकार का ध्यान उपासना आदि अल्पज्ञ जन कैसे कर सकते हैं ? जड़ प्रतिमा में न तो तीर्थंकर की आत्मा ही है और न उनकी आत्मा के गुण ही विद्यमान हैं। अतः हमारे सामने भाव निक्षेप में इस समय न तो तीर्थंकर ही है और उनकी प्रतिमा में भी भाव निक्षेप न होने से मान्य नहीं है। साकार के बिना ध्यान भी सम्भव नहीं है। इसके लिए तो साकार इन्द्रियगोचर दृश्य पदार्थों की आवश्यकता रहती है। साधु के शरीर में आत्मा है, उसकी आत्मा में साधु के गुण भी हैं। वह उपदेश आदि देकर हमें मार्ग दर्शन भी करा सकता है। इसलिए हम साधु की आत्मा को मानते हैं, वह भाव निक्षेप में विद्यमान है और भाव निक्षेप से ही आत्म-कल्याण सम्भव है। बाकी के तीन निक्षेप निरर्थक होने से मानना उचित नहीं है।

समाधान—उपर्युक्त दलील पर कुछ विचार करने से पहले चार निक्षेपों के स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है। क्योंकि साधारण जन इनके स्वरूप को समझे बिना विषय की गहराई तक न पहुंच पावेंगे।

चार निक्षेपों का स्वरूप

वाचक उमास्वाति कृत—तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में निक्षेप का स्वरूप तथा प्रकार; इस प्रकार कहे हैं—

“नाम-स्थापना-द्रव्य-भावतस्तन्यासः ॥” (अ० 1 सू० 5)

अर्थात्—नाम, स्थापना, द्रव्य और भावरूप से सम्यग्दर्शन, तीर्थंकर आदि का न्यास होता है अर्थात् पदार्थों के भेद को न्यास अथवा निक्षेप कहा जाता है। प्रत्येक पदार्थ के, अपेक्षाओं को लेकर भिन्न-भिन्न अंश होते हैं। उन अंशों में दोष न आये और सच्चा स्वरूप कैसे जाना जाय यह बताने के लिए निक्षेपों का प्रतिपादन किया गया है। ज्ञेय पदार्थ अखण्ड है तथापि उसे जानने पर ज्ञेय पदार्थ के जो भेद (अंश पहलू) किये जाते हैं उसे निक्षेप कहते हैं। निक्षेप चार प्रकार के हैं—यथा—

“चउण्हं जिणा-नाम, ठवणा, दव्व, भाव जिण भेएआ ।”

अर्थात्—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव; जिन के भेद से जिन चार प्रकार के हैं।

निक्षेपों के भेदों की व्याख्या—

1. नाम निक्षेप—

गुण, जाति या क्रिया की अपेक्षा किये बिना और जो अर्थव्युत्पत्त सिद्ध नहीं

है किसी का यथेच्छ नाम रख लेना-सो नाम निक्षेप है। अथवा जिस किसी जड़ अथवा चेतन वस्तु का नाम पहचान के लिए रख लिया जाता है—वह नाम निक्षेप है। नाम के अनुसार चाहे उसमें गुण हों अथवा न हों, इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। धनपाल नाम होते हुए भी उसके पास चाहे कोड़ी भी न हो, चाहे करोड़पति हो, उसे धनपाल के नाम से ही पुकारा जावेगा। किसी का नाम नरसिंह है जिसका अर्थ होता है पुरुषों में सिंह के समान शूरवीर; चाहे उसमें अतुल शक्ति पराक्रम हो अथवा मक्खी को उड़ाने की भी शक्ति न हो, चाहे वह चूहे को भी देखकर डर जाता हो तो भी हम उसे नरसिंह ही कहेंगे। तीर्थंकर नाम होते हुए भी चाहे वह सर्वथा अल्पज्ञ हो अथवा सर्वगुण संपन्न तीर्थंकर हो हम उसके रखे गए नाम के अनुसार ही पुकारेंगे। अथवा गुण दोष की अपेक्षा बिना किसी का नाम साधु रख देना इत्यादि। कहने का आशय यह है कि इस निक्षेप में गुण दोष की अपेक्षा नहीं रहती।

2. स्थापना निक्षेप—

(1) श्री तीर्थंकर प्रभु की अविद्यमानता में साकार अथवा निराकार पदार्थ में 'वह यही है' इस प्रकार अवधान करके स्थापना करना, उसे स्थापना निक्षेप कहते हैं। जैसे श्री पार्श्वनाथ प्रभु की प्रतिमा को श्री पार्श्वनाथ मानना। भेदभाव रहित रूप में (स्थापना जो निमित्त मात्र है उसे) निमित्त कारण में कर्तापन का आरोप करके उसका ध्यान करने से ध्येय (स्व-स्वरूप) की प्राप्ति होती है। कहा भी है कि—

“तस विरह तस थापना अभिन्न श्रद्धाधार, कारण कर्तारोप थी नैगमनय अनु-सार” (सहजानन्द)।

कर्ता की कृपा के आरोप बिना न तो भक्तिभाव उल्लसित होता है और न देह आदि पदार्थों पर से ममत्व कम होता है। इसलिए ईश्वर कृपा को मानकर सिद्धांत-कारों ने भक्ति मार्ग का उपदेश दिया है। यह आत्म-साक्षात्कार का सुखद तथा सुगम उपाय है। नैगम नय के अनुसार भी स्थापना निक्षेप पूज्य है (2) जो वस्तु असली वस्तु की प्रतिकृति, मूर्ति या चित्र है अथवा जिसमें असली वस्तु का आरोप किया गया हो उसे स्थापना निक्षेप कहते हैं। (3) अथवा किसी अनुपस्थित वस्तु का किसी दूसरी उपस्थित वस्तु में सम्बन्ध या मनोभावना को जोड़कर आरोप कर देना कि “यह वही है”। सो ऐसी भावना को स्थापना कहा जाता है। जहां ऐसा आरोप होता है वहां जीवों की ऐसी मनोभावना होने लगती है कि “यह वही है”। जैसे भव्य आत्मा अथवा अभव्य आत्मा में साधु के महाव्रतों के अभाव में साधु वेषधारी को साधु कहना अथवा मान लेना। अथवा सोतेली माता को अपनी माता मान लेना। दत्तक पुत्र को अपना पुत्र मान लेना।

स्थापना दो प्रकार की होती है—(1) यावत्कथित, (2) इत्वरिका।

(1) यावत्कथित स्थापना—जिस वस्तु की स्थापना की गई हो जब तक वह वस्तु रहे तब तक उस वस्तु में स्थापना कायम रहे। उसे यावत्कथित स्थापना कहते हैं।

जैसे गुरु की प्रतिमा में गुरु की स्थापना, तीर्थंकर की प्रतिमा में तीर्थंकर की स्थापना ।

(2) इत्वरिका स्थापना—जिस वस्तु में कुछ समय के लिए स्थापना की जाती है, सदा के लिए नहीं, उसे इत्वरिका स्थापना कहते हैं । जैसे सामायिक आदि करते समय चित्र, पुस्तक, जपमाला में गुरु की अथवा पंच-परमेष्ठी की स्थापना । धर्म क्रिया समाप्त हो जाने पर उसमें से स्थापना हटा लेना ।

ये दोनों स्थापनाएं भी दो-दो प्रकार की हैं—(1) तदाकार, (2) अतदाकार ।

(1) तदाकार अथवा सद्भूतस्थापना—जिस वस्तु का जो आकार है वैसे आकृति में स्थापना करना । जैसे तीर्थंकर, साधु आदि के फोटो-चित्र में तीर्थंकर, साधु आदि की स्थापना करना । अथवा भारत के चित्र को भारत कहना, राजा के चित्र को राजा और माता-पिता के चित्र को माता-पिता कहना ।

(2) अतदाकार अथवा असद्भूत स्थापना—वस्तु का जैसा आकार है उस आकार के अतिरिक्त आकार वाली वस्तु में उसकी स्थापना करना । जैसे पुस्तक, जप-माला, स्थापनाचार्य (अक्ष, लकड़ी आदि) में आचार्य की स्थापना । अथवा तीर्थंकर, साधु आदि की स्थापना करना । अथवा लकड़ी में घोड़े आदि की कल्पना करना । अथवा शतरंज के मोहरों को हाथी घोड़ा आदि कहना, शास्त्रों को ज्ञान कहना । इत्यादि ।

अर्थात्—किसी वस्तु के सदृश अथवा असदृश वस्तु में किसी अन्य वस्तु की स्थापना कर लेना यह स्थापना निक्षेप है । फिर वह सदाकाल के लिये हो अथवा अल्प-काल के लिए हो ।

विवाह शादि के प्रसंग पर सुपारी और गुड़ रखकर गणपति-गणेश की स्थापना कर लेते हैं । पूजा और विवाह संस्कार कर लेने के बाद सुपारी और गुड़ में से स्थापना हटा लेते हैं, विसर्जन कर देते हैं । पश्चात् उस सुपारी और गुड़ को खा जाते हैं । तुम कहोगे कि गणेश जी को खा गए ? ऐसा नहीं है, क्योंकि वह स्थापना इत्वरिका थी । स्थापना का विसर्जन कर लेने के बाद गणेश जी की कल्पना उस वस्तु में नहीं रहती ।

नाम निक्षेप और स्थापना निक्षेप में अन्तर

नाम निक्षेप और स्थापना निक्षेप में यह अन्तर है कि—नाम निक्षेप में पूज्य-अपूज्य का व्यवहार नहीं होता और स्थापना निक्षेप में यह व्यवहार होता है । नाम निक्षेप में केवल उस व्यक्ति का नाम ज्ञात होता है और उसकी स्थापना में उस वस्तु का बोध होता है । दोनों निक्षेपों में यह अन्तर है । आकृति को देखकर आकृति वाले का ज्ञान होता है । जैसे घनुर्धारी राम की मूर्ति को देखकर राम को बोध होता है ।

(3) द्रव्य निक्षेप—

भूत और भविष्यत् पर्याय की मुख्यता को लेकर उसे वर्तमान में कहना-जानना सो द्रव्य निक्षेप है । जो भाव निक्षेप का पूर्वरूप या उत्तररूप हो अर्थात् जो उसकी

पूर्व या उत्तर अवस्था रूप हो वह द्रव्य निक्षेप है। भाव निक्षेप की पूर्व अवस्था अथवा उत्तर अवस्था को वर्तमान में मान लेना द्रव्य निक्षेप है। जैसे कि श्रेणिक राजा, रावण, कृष्ण भविष्य में तीर्थकर होंगे, उन्हें वर्तमान में तीर्थकर कहना-जानना-मानना और भूतकाल में हो गए भगवान महावीरादि तीर्थकरों को वर्तमान तीर्थकर मान कर स्तुति करना सिद्धों को अरिहंत मान कर तीर्थकर अवस्था की उपासना करना सो द्रव्य निक्षेप है अथवा महावीर के जीव को ऋषभ के पौत्र और भरत के पुत्र मारीचि के भव में भविष्य में होने वाले महावीर के जीव में तीर्थकर अवस्था को लक्ष्य में रख कर भरत चक्रवर्ती का मारीचि को नमस्कार करना, यह द्रव्य निक्षेप से तीर्थकर की उपासना है। उनकी आत्मा की उपासना द्रव्य निक्षेप से हुई। एक ऐसा व्यक्ति जो वर्तमान में साधु नहीं है पर या तो वह साधु हो चुका है या आगे साधु बनने वाला है, उसे वर्तमान में साधु कहना-जानना सो द्रव्य निक्षेप है।

स्थापना निक्षेप और द्रव्य निक्षेप में भेद—

स्थापना निक्षेप में बताना मात्र आरोपित है, उसमें वह मूल वस्तु कदापि नहीं है, वह वहाँ कदापि नहीं हो सकती और द्रव्य निक्षेप में वह (मूल वस्तु) भविष्य में प्रगट होगी अथवा भूतकाल में थी। दोनों के बीच समानता इतनी है कि वर्तमान काल में वह दोनों में विद्यमान नहीं है और इतने अंश में दोनों में आरोप है।

(4) भाव निक्षेप—

केवल वर्तमान पर्याय की मुख्यता से जो पदार्थ वर्तमान जिस दशा में है उसे उस रूप वाली कहना, जानना सो भाव निक्षेप है। अथवा जिस अर्थ में शब्द की व्युत्पत्ति व प्रवृत्ति का निमित्त बराबर घटित हो, वह भाव निक्षेप है। जैसे एक ऐसा व्यक्ति जो सेवक का काम करता है सो भाव निक्षेप है। जैसे सीमधर स्वामी भगवान वर्तमान तीर्थकर के रूप में विराजमान हैं। उन्हें तीर्थकर कहना, जानना और भगवान महावीर को वर्तमान में सिद्ध मानना कहना, जानना सो भाव निक्षेप है। अथवा जब तीर्थकर भगवान समवसरण में विराजमान हों, चौतीस अतिशय और पैंतीस गुणवाली वाणी एवं बारह प्रकार की पर्षदा सहित हों वह भाव जिन हैं। अथवा साधु भाव से साधु गुणों का धारक हो और बाहर से साधु के वेश में हो, वह भाव साधु है। ऐसा जानना, कहना भाव निक्षेप है।

“नाम जिणा जिण नामा, ठवण जिणा पुण जिणिंद पडिमाओ, दब्बजिणा जिण जीवा, भाव जिणा समवसरणत्था।”

(अ) अर्थात्—(1) नाम जिन उनके नाम को कहते हैं। (2) स्थापना जिन उनकी प्रतिमा आदि को कहते हैं। (3) द्रव्य जिन (भूतकाल में हो गए अथवा भविष्य काल में होने वाले) जिन की आत्मा को कहते हैं। यानी चाहे जिन होकर पूर्ण कर्मों को क्षय कर सिद्धावस्था में मोक्ष में विराजमान है। अथवा जिन होने से पहले श्रेणिक कृष्ण, रावण की आत्माएं नरक में हैं तो भी उन्हें वर्तमान में जिन मानना या कहना

यह द्रव्य जिन है । (4) भाव जिन केवलज्ञान पाकर समवसरण में चौतीस अतिशय, पैंतीस गुणों वाली वाणी और बारह पर्षदा सहित भाव जिन है ।

(आ) अर्थात्—(1) नाम साधु—साधु के नाम को कहते हैं । (2) स्थापना साधु—साधु के चित्र मूर्ति आदि को कहते हैं । अथवा आत्मा में साधु की गुण अवस्था न होने पर भी उसके वेश अथवा आकृति में साधु के गुणों की कल्पना करके साधु मानना, कहना । (3) द्रव्य साधु—भूत काल में हो गए अथवा भविष्य में होने वाले साधु की आत्मा में साधु अवस्था का संकल्प करके साधु मानना या कहना । (4) भाव साधु—भाव से आत्मा में साधु के गुण तथा द्रव्य से साधु वेश सहित साधु को साधु मानना कहना । इन चारों निक्षेपों को स्वीकार किए बिना कार्य की सिद्धि सम्भव नहीं है ।

यदि भाव निक्षेप शुद्ध है तो ही उनके चारों निक्षेप वन्दनीय हैं ।

इस बात को एक दो उदाहरण देकर समझाते हैं :—

1. श्री भगवती सूत्र में प्रारम्भ में श्री गणधरदेव ने ब्राह्मी लिपि को नमस्कार किया है । ग्रंथों को ज्ञान मानकर नमस्कार किया जाता है । यह स्थापना निक्षेप की दृष्टि से । क्योंकि लिपि भी जड़ है और शास्त्र भी कागजादि और स्याही से निर्मित होने से जड़ हैं, पर ज्ञान चैतन्य है । इसका भाव निक्षेप शुद्ध है इसलिए इसका स्थापना निक्षेप भी शुद्ध है । इसीलिए गणधरदेव ने लिपि को नमस्कार किया है क्योंकि वह निक्षेप शुद्ध होने से पूजनीय और वन्दनीय है । यह हुआ स्थापना निक्षेप को वन्दन ।

2. लोगस्स के पाठ में चौबीस तीर्थकरों के नामों को नमस्कार करते हैं । वर्तमान में इन चौबीस तीर्थकरों में से कोई भी विद्यमान नहीं है । तीर्थकर अवस्था प्राप्त करने के बाद वे सिद्धावस्था को प्राप्त कर चुके हैं । इसलिए उनका नाम उच्चारण करके कीर्तन करते हैं । यह नाम निक्षेप की अपेक्षा से वन्दना की गई है । क्योंकि तीर्थकर का भाव निक्षेप शुद्ध है इसलिए उनका नाम निक्षेप भी शुद्ध होने से वन्दनीय है । यह हुआ नाम निक्षेप को वन्दन ।

3- दूसरी बात यह है कि लोगस्स के पाठ में चौबीस तीर्थकरों को नमस्कार किया है । इनमें से वर्तमान में कोई भी तीर्थकर विद्यमान नहीं है । वे सिद्ध अवस्था में विद्यमान हैं । इसलिए वे वर्तमान में भाव जिन नहीं हैं । यदि कहे कि वर्तमान में मोक्ष में चौबीस तीर्थकरों की आत्माएं विद्यमान हैं, हम उन्हें नमस्कार करते हैं और उन्हीं का कीर्तन करते हैं । परन्तु वे तो सिद्ध हैं । अरिहंत और सिद्ध एक अवस्था नहीं है । दोनों अवस्थाएं अलग-अलग हैं । श्री पंचपरमेष्ठी नवकार मंत्र में अरिहंतों को और सिद्धों को अलग-अलग माना है और अरिहंतों को पहले नम्बर पर तथा सिद्धों को दूसरे नम्बर पर नमस्कार किया गया है ।

तथा भविष्य में होने वाले पद्मनाभ आदि (श्रेणिक आदि के जीवों) को तीर्थकर मानकर भी नमस्कार कीर्तन आदि करते हैं किन्तु इनकी आत्माओं में अभी अरिहंत

अवस्था नहीं है, वे तो नरकादि में पड़े हैं। तीर्थंकर नाम कर्म निकचित करने से भविष्य में होने वाले तीर्थंकर हैं। स्पष्ट है कि भूतकालीन और भविष्यकालीन अवस्थाओं का वर्तमान में संकल्प करके वन्दन-कीर्तन-नमस्कार आदि करते हैं। यह द्रव्य निक्षेप से जिनको नमस्कार किया जाता है।

यदि कहो कि अतीतकाल में हो गए श्री ऋषभदेव आदि चौबीस तीर्थंकरों को वे जिस आकार में थे उस आकार को मन में धारण करके नमस्कार करते हैं आकार तो रूपी है और रूप जड़ पुद्गल का गुण है न कि आत्मा का और इस समय उनके आकार में भी तीर्थंकर अवस्था नहीं है। तो स्पष्ट है कि उनके आकार की कल्पना करके आपने भूतकाल में हो गए तीर्थंकरों को नमस्कार किया। तो स्थापना निक्षेप को बन्दन नमस्कार हो गया और इसके द्वारा आप ने जिनके प्रति भक्ति का प्रदर्शन किया।

श्री स्थानांग सूत्र तथा श्री नन्दी सूत्र में वर्णन आया है कि:—

“मारीचि के भव में तापस के वेश में (बाह्य और अभ्यंतर से दोनों में जब तीर्थंकर की अवस्था का अभाव था तब उसे वर्धमान-महावीर मानकर भरत चक्रवर्ती ने वन्दना की। इस घटना को शास्त्रकारों ने वर्णन कर उसके इस कृत्य की प्रशंसा की है और उसे उचित माना है। यह भविष्यकाल को होने वाली जिन अवस्था को वर्तमान काल में मानकर द्रव्य निक्षेप को वन्दन किया गया।

4. शक्रस्तव—नमुत्थुणं के पाठ में अरिहंत भगवन्तों को भाव निक्षेप से वन्दन किया गया है।

प्रभु का साथ छोड़ देने वाला गोशाला, जमाली आदि शिष्यों को वन्दन न करने का कारण उनमें भाव निक्षेप का अभाव है।

इसीलिए कहा है कि जिसका भाव निक्षेप शुद्ध है उसके चारों निक्षेप वंदनीय हैं। जिसका भाव निक्षेप शुद्ध नहीं उनका कोई निक्षेप भी पूजनीय नहीं है। तीर्थंकर का भाव निक्षेप शुद्ध है उनमें तीर्थंकर के गुणों का अभाव नहीं था इसलिए इनके भाव निक्षेप के समान ही नाम, स्थापना और द्रव्य निक्षेप भी वंदनीय, नमंसनीय, पूजनीय हैं। ऊपर दिए हुए सूत्र पाठकों का सब जैन संप्रदाय पाठ करते हैं और मानते हैं। फिर वे चाहे मूर्ति पूजक हों अथवा मूर्ति विरोधक हों। अतः वे इन सूत्र पाठों के द्वारा सब तीर्थंकरों (जिनों) के चारों निक्षेपों को बड़ी श्रद्धा भक्ति से वन्दना नमस्कार करते हैं तथा कीर्तन आदि भी करते हैं, यह बात स्पष्ट है।

क्या जड़ वस्तु का आत्मा पर प्रभाव होता है ?

मूर्ति मान्यता के विरोधी कहते हैं कि जड़ वस्तु का आत्मा पर क्या प्रभाव होने वाला है और यदि उसका कोई प्रभाव नहीं तो आत्मा को क्या लाभ-हानि होने वाले हैं ? अतः जड़ मूर्ति मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

समाधान—श्री दशवैकालिक सूत्र के आठवें अध्ययन में कहा है कि—

“चित्त भित्तीणं णिज्जाए नारि वा सुलकियं, मखरमिव दट्ठु विट्ठं पडि-
समाहरे ॥”

अर्थ—(साधु) को नारी के चित्र वाली दीवाल को नहीं देखना चाहिए क्योंकि स्त्री के चित्रादि को देखना विकार उत्पन्न का हेतु है। इसलिए जैसे सूर्य के सामने देख कर दृष्टि पीछे खींच लेते हैं, वैसे ही चित्र को देख कर दृष्टि को वहां से फौरन हटा लेना चाहिए।

इससे स्पष्ट है कि स्त्री विकार का निमित्त होने से उसका चित्र भी मन में विकार लाने का कारण बन सकता है इसलिए ब्रह्मचारी साधु को उसे नहीं देखना चाहिए। यदि अचानक उस पर दृष्टि पड़ भी जावे तो उसे शीघ्र ही पीछे खींच लेनी चाहिए। यह बात प्रत्यक्ष प्रमाण से भी सिद्ध है। अतः जड़ वस्तु का प्रभाव आत्मा पर अवश्य होता है। इस बात को मूर्ति विरोधी भी यथावत स्वीकार करते हैं।

जैसे स्त्री का चित्र विकार का कारण है वैसे वीतराग की प्रतिमा के दर्शनों से भी आत्मा पर अवश्य प्रभाव पड़ता है। जिससे विचक्षण बुद्धिमान भव्य जीव विवेकी होकर अपने में वीतरागता के भाव लाकर कर्ममल को भस्म कर शाश्वत सुख मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है।

2. जैन शास्त्रों में कहा है कि यदि कोई बच्चा मार्ग में लकड़ी को घोड़ा मान कर खेल रहा हो और जैन साधु उधर जा निकले तथा उसके मार्ग में इस घोड़े से टक्कावट आती हो तो उसे बालक को यह कहना चाहिए कि “बच्चे ! अपना घोड़ा रास्ते से हटा ले, रास्ता छोड़ दे ताकि मैं यहां से निकल जाऊं।” किन्तु साधु उस बच्चे को लकड़ी हटा ले ऐसा न कहे। यदि उस क्रिये हुए कल्पित घोड़े को साधु लकड़ी हटा ले कहे तो उस साधु का मूषावाद (झूठ) बोलने का दोष लगता है। इस बात को अपने आपको जैन मानने वाले मूर्ति विरोधक भी स्वीकार करते हैं।

अब जरा सोचिए कि इस जड़ लकड़ी में घोड़ापन क्या है ? न तो उसमें घोड़े की आकृति है और न उसमें घोड़े की आत्मा ही है। जड़ लकड़ी ही तो है। यह घोड़े की इत्वरिका—अतदाकार—असद्भाव स्थापना ही तो है। स्थापना से ही तो लकड़ी को घोड़ा कहने के लिए शास्त्रकारों ने उसे सत्य की कोटि में स्वीकार किया है ?

क्या मूर्ति के विरोधी जड़ पूजा नहीं करते ?

मूर्ति की उपासना के विरोधी जिनप्रतिमा को वन्दन, पूजन, भक्ति का विरोध करते हैं, उन्हें इसमें क्या आपत्ति है इसका विवेचन करके हम ने विस्तार से बतला दिया है। स्पष्ट है कि उनकी मान्यता कितनी निस्सार और भ्रांतिपूर्ण है। इस विषय में आगे चलकर और भी प्रकाश डालने का प्रयास किया जाता रहेगा।

जिन प्रतिमा के माध्यम से तीर्थंकर की भक्ति का निषेध करके इस मत के साधु मात्र अपनी भक्ति कराने का प्रचार व समर्थन करते हैं। वे अपने माने हुए जड़ साधु स्वेष को, अपने जड़ शरीर और उपकरणों को भी पूज्य मानकर उनकी भी अविनय,

नहीं करते, पर सत्कार, सम्मान, आदि करते-कराते हैं। साधु के चरणों की जड़ धूल को बड़े भक्ति भाव और श्रद्धा से सिर आंखों पर लगाते हैं। उन के गुरु के बैठने का आसन, पहनने के वस्त्र, औघा (रजोहरण) और मुंहपति की भी अविनय अवहेलना नहीं करते। साधु अपने फोटो चित्र छपवाकर अपने भक्तों को उनका दर्शन करने की प्रेरणा और उपदेश देते हैं। अपने मरे हुए साधुओं की समाधियां बना कर उनकी पूजा भक्ति भी करते हैं। अब इस विषय में जरा गहराई से कसौटी पर कस कर परखें, इसके लिए यहाँ एक सच्ची घटना का उल्लेख करते हैं—

एक जैन धर्मानुयायी कन्या का नियम था कि जब तक जिनेन्द्रदेव के मन्दिर जी में तीर्थकर प्रतिमा के दर्शन न करेगी तब तक अन्नजल ग्रहण न करूंगी। इसमें रज-स्वला के समय अथवा अन्य रोगादि के कारण देवदर्शन न करने का आगार रख लिया था। क्योंकि अशुचि, अवस्था में जिनमन्दिर में प्रवेश का निषेध किया गया है। भाग्य-वश उसका विवाह जिनप्रतिमा के विरोधी संप्रदाय में हो गया। किन्तु वह अपने ग्रहण किए नियम (प्रतिज्ञा) के अनुसार प्रतिदिन जिनमन्दिर में जाकर देवदर्शन किया करती थी। एकदा उस नगर में ढूँढ़क (स्थानकवासी) साधुओं का चतुर्मास था। जब वह कन्या देवदर्शन के पश्चात् उन साधुओं का दर्शन करने जाती तब वे साधु उसको जिनप्रतिमा के दर्शन में मिथ्यात्व बतलाकर उस के दर्शन का त्यागकर के अपने (उन साधुओं के) दर्शन करके भोजन करने की प्रतिज्ञा लेने की प्रेरणा करते रहते। एक दिन उस कन्या ने उनके दर्शन करके भोजन करने की भी प्रतिज्ञा ले ली और उनके दर्शन करने के बाद ही भोजन करती। जब ये साधु वहाँ से विहार कर गये तब वह कन्या भी उनके साथ ही चल पड़ी और उनके दर्शन करने के बाद ही अन्न-जल ग्रहण करने लगी ऐसे ही जब कुछ दिन बीतने लगे तो उसके ससुराल वाले यह देखकर बड़े चिंतातुर थे कि अब तो बहू भी हाथ से गई। साधु भी परेशान थे कि इस स्त्री को कब तक अपना पीछा करने देंगे। साधुओं के मन को उधेड़-बुन ने परेशान कर दिया। उन्होंने उस स्त्री को ससुराल-घर में लौट जाने के लिए कहा। उस स्त्री ने सानुनय विनयपूर्वक साधुओं से कहा—गुरुदेव ! आपने मुझे प्रतिज्ञा दिलाई है कि आपके दर्शन करने के बाद ही मैं अन्न-जल ग्रहण किया करूँ। जब आप विद्यमान थे तब तो मेरी प्रतिज्ञा का पालन हुआ। अब आपके अभाव में आपके दर्शन न मिलने से भूखों मरने की नौबत आ जावेगी। मैं नहीं जाऊँगी। तब बहुत तंग आकर बड़े साधु ने अपना एक फोटो निकाल कर उस कन्या को देते हुए कहा कि—यह फोटो लेजाओ इसके प्रतिदिन दर्शन करके भोजन कर लिया करना। उस बहू ने उस फोटो को लेकर—साधु को सम्बोधित करते हुए कहा कि—“महाराज ! यदि तीर्थकर की प्रतिमा जड़ होने से आप उसकी पूजा भक्ति और दर्शन का निषेध करते हैं तो आपकी फोटो सजीव है अथवा जड़ ? यदि जड़ है तो वह गुणहीन होने से दर्शन के योग्य कैसे ? यह कहकर उस फोटो को उनके सामने ही फाड़कर फँकते हुए कहा कि निर्दोष तीर्थकरदेव की प्रतिमा को अपूज्य मानने वाले सदोष (मिथ्या प्रलापी) आप जैसे कुगुरु की फोटो पूज्य क्यों ? तब ये साधु निरुत्तर होकर चुप रह गये और कन्या घर लौट गई।

सातवां प्रकाश

निक्षेप

क्या साधु के वेश में सब साधु हैं ?

साधु सामने आता है अथवा साधु के दर्शन करने को जाते हैं। उसके चरणों को स्पर्श कर चरण धूली को बड़ी श्रद्धा, भक्ति और आदर के साथ मस्तक पर चढ़ाते हैं और ऐसा करके अपने को कृतकृत्य मानते हैं। किन्तु उस साधु के वेश में तथा उसके शरीर में विद्यमान आत्मा में साधु के गुण हैं अथवा नहीं? उसमें भाव से छठा-सातवां आदि गुणस्थान भी हैं या नहीं, इसका आप को क्या निश्चय है? आत्मा अरूपी है, इन्द्रियों और मन द्वारा अरूपी का दर्शन असम्भव है, क्योंकि इन्द्रियों और मन की अरूपी वस्तुओं को देखने-जानने की क्षमता नहीं है। एक चोर, पतित, व्यभिचारी, चरित्रभ्रष्ट व्यक्ति भी साधु के वेश में आपके सामने आना संभव है। आप उसके धारण किये हुए वेश को देखते ही बड़ी श्रद्धा और भक्ति से उसके चरणों में सिर झुका देते हैं, उसके चरणों की धूली को अपने सिर आँखों पर चढ़ाते हैं और उसे निवास के लिए स्थान तथा आहार पानी देकर अपने को कृतपुण्य मानते हैं।

इस विषय को विशेष रूप से समझने के लिए हम साधु के चार भागों से विचार करेंगे— (1) साधु का वेश है भाव से साधु नहीं। (2) साधु का वेश भी नहीं है भाव से भी साधु नहीं है। (3) साधु का वेश नहीं है भाव से साधु है। (4) साधु का वेश भी है और भाव से भी साधु है।

1. साधु वेश तो है भाव से साधु नहीं है—

(अ) साधु का वेश है पर उसमें साधु के गुण नहीं हैं वह दिखावे के लिए प्रति-क्रमण आदि साधु योग्य धर्मानुष्ठान भी नित्य बहुत उत्तम रीति से करता है। तोते की तरह रटा हुआ बड़ा प्रभावोत्पादक प्रवचन भी करता है। छटादार भाषणों से समा बांध देता है। बड़े प्रभावोत्पादक लेखों से, ग्रंथ रचना से जनता पर अपना सिक्का भी जमा देता है। उसको मानने वाले मानव समूह की भी कमी नहीं है।

(आ) एक व्यक्ति उत्तम वैराग्य भावना से साधु दीक्षा लेता है। कुछ समय के बाद उसके भाव पलट जाते हैं। मन-ही-मन में वह साधु वेश को छोड़कर भाग निकलने के उपायों की तलाश में लगा रहता है। परन्तु प्रत्यक्ष में उसके मनोगत भावों को कोई भांप जावे इसकी वह पूरी सावधानी रखता है। साधु के बाह्याचार का आचरण भी बड़ी तत्परता से करता है। ऐसी अघेड़बुन में उसे कई महीने बीत जाते हैं, मौके की ताक में रहते हुए भी उसे भाग निकलने का अवसर प्राप्त करने की सुविधा नहीं मिल पाती। मौका पाते ही वह भाग निकलता है। इसमें संदेह नहीं कि वेश छोड़ने से पहले उसकी आत्मा से साधु अवस्था कई मास पहले ही पलायन कर चुकी थी, ऐसी अवस्था

में उसमें साधु के गुण तो थे नहीं। उस समय उस साधु वेशधारी को वन्दना, उसकी भक्ति आदि की, उसका आदर सत्कार किया तब आप आराधक हुए कि विराधक ? यदि आप कहें कि आराधक हैं तो ऐसा संभव नहीं। क्योंकि उसकी आत्मा में साधु के गुण तो नहीं और आपका सिद्धान्त है कि गुणों की विद्यमानता वाले को ही साधु मानना उसका ही भक्ति सत्कार करना। अथवा विराधक बनते हैं। यदि विराधक हैं तो आप पाप के भागी बने। क्योंकि उसमें भाव निक्षेप तो है ही नहीं।

(इ) मिथ्यादृष्टि, दूरभवी अथवा अभवी जो निश्चय ही पहले मिथ्यादृष्टि गुण-स्थानवर्ती हैं अथवा जो साधु के आचार से पतित सारे जीवन साधु वेश में रहते हैं। उन्हें भी आप साधु मानकर ही वन्दना, नमस्कार करते हैं और आहार-पानी, उपकरण आदि सामग्री देकर अपनी भक्ति का प्रदर्शन करते हैं। तो स्पष्ट है कि जिसकी आत्मा में साधु के गुणों की गंध भी नहीं है; उसके हाड-चाम आदि सप्तधातु से तथा गंदगी से भरे जड़ शरीर के पूतले में तथा साधु के जड़ वेश में साधुपद की कल्पना कर उसका सत्कार करते हैं। ऐसे व्यक्ति की भक्ति करके आपने घोर पाप कर्म का बन्ध किया। भाव से पतित साधु अपनी कुत्सित भावना से किसी की बहु बेटियों की इज्जत पर भी कुदृष्टि कर सकता है ऐसा व्यक्ति धर्म-समाज के माथे पर कलंक का टीका है और मृत्यु के बाद भी दुर्गति का पात्र है। सारांश यह है कि—जो भाव से साधु नहीं मात्र साधु वेशधारी है उसे जो वन्दना आदि की, उसका आदर सत्कार किया सो क्या समझ कर किया ? क्या मान कर किया ? भाव से साधु मान कर किया तो उसमें साधु के गुणों का अभाव होने से उसमें भाव निक्षेप न होने से पाप के भागी बने मात्र इतना ही नहीं किन्तु साथ ही उन्मार्ग सेवन का समर्थन कर धर्म, समाज, देश के लिये अनर्थकारी बने। क्योंकि आप की मान्यता है कि गुणों की विद्यमानता होगी तभी नमस्कार आदर सत्कार आदि करेंगे। वरना नहीं। इसी कारण से गोशाला और जमाली में भाव से साधु गुणों का अभाव होने से प्रभु महावीर के पास आने वाले साधुओं ने उन्हें वन्दन नहीं किया था।

2. वेश से साधु नहीं भाव से साधु है—

(अ) कोई व्यक्ति साधु का वेश नहीं लेता, द्रव्य से साधु की दीक्षा ग्रहण नहीं करता, भाव से उसकी आत्मा में साधु के सर्वगुण विद्यमान हैं। भाव से साधु होने पर भी उसको साधु के वेश का अभाव है। जैसे भरत चक्रवर्ती, मरुदेवी माता आदि ने गृहस्थ के वेश में ही भाव मुनि अवस्था प्राप्त कर तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान की प्राप्ति की।

(आ) भाव से साधु के गुणों को विद्यमान रखते हुए किसी विशेष लाभ की दृष्टि से अथवा विद्याभ्यास आदि के लिए विशेष परिस्थितियों के कारण मुनि वेश को छोड़कर अन्य लिंगियों के वेश को स्वीकार करके अथवा गृहस्थ वेश में रहने पर क्या आप उसको साधु मानकर वन्दना नमस्कार करेंगे ? श्री हरिभद्र सूरि के शिष्य हंस तथा विहंस

विदिग्म्वर पंथ के दो मुनि अकलंक-निष्कलंक जैन मुनि का वेश छोड़कर बौद्ध दर्शन का अभ्यास करने के लिए भाव से जैन साधु के गुणों सहित रहे। तथा महोपाध्याय यशो-विजय जी महाराज काशी में अन्य दर्शनी पण्डितों से अन्य जैनेतर दर्शनों का अभ्यास करने के लिए जैन साधु वेश का त्यागकर बटुक के वेश में रहे। क्योंकि उस समय बौद्ध तथा ब्राह्मण लोग जैनों को विद्याभ्यास नहीं कराते थे। इसलिए भाव से जैन साधु होते हुए भी उनको जैन साधु वेश को त्याग करने के लिए बाध्य होना पड़ा। तो क्या साधु वेश के त्यागी भाव साधु को आप साधु समझकर वन्दना करेंगे? आप कदापि नहीं करेंगे। कहेंगे कि मुनि वेश बिना भाव साधु को वन्दना करने की शास्त्रज्ञा नहीं है। भरत चक्रवर्ती आदि महापुरुषों के गृहस्थ वेश में केवलज्ञान पा लेने के बाद भी जब तक उन्होंने मुनि वेश धारण नहीं किया तब तक उनको इन्द्र ने भी वन्दन नहीं किया।

3. वेश से भी साधु नहीं भाव से भी साधु नहीं—

(अ) एक साधु का देहान्त हो गया। मृत्यु से पहले यदि उसकी आत्मा में साधु के गुण थे तो जब वह मर गया तब उसकी आत्मा देवलोक में जाकर देवता के शरीर में उत्पन्न हुई। देवता को कोई व्रत नहीं होता (देशव्रत तथा सर्वव्रत दोनों का अभाव है)। इसलिए उसकी आत्मा में इस समय साधु के गुणों का सर्वथा अभाव है यानी इस समय उसकी आत्मा में न तो साधु के गुण हैं न शरीर पर साधु का वेश है (भरतक्षेत्र में इस पांचवें आरे में साधु को मुक्ति नहीं है) तथा उस साधु के शव में भी साधु के गुणों का अभाव ही है ऐसा होने पर भी मूर्तिविरोधी उनके भगत लोग उस मुर्दे का बड़ी-बड़ी दूर से आकर उसको भक्ति से नतमस्तक होते हैं। उस मुर्दे की अर्थी को खूब सजाते हैं। उस अर्थी के सामने जय-जय नन्दा, जय-जय भद्रा के गगन भेदी नारे लगाकर अपनी श्रद्धा और भक्ति का प्रदर्शन करते हैं। उस मुर्दे का अग्नि संस्कार करने में हजारों, लाखों रुपये को स्वाहा करते हैं। बडे सम्मान के साथ चन्दन की चिता में जलाते हैं। उस मुर्दे पर फूल भी बरसाते हैं। उस मुर्दे को जो भी आदर सत्कार दिया गया, यह सब क्या है? महा अहिंसक होने का दम भरने वालों की इस समय अहिंसा कहां नौ दो ग्यारह हो गई? बाहर से आने वाले इस मुर्दे के दर्शनार्थी, अर्थी के साथ जानेवाले भक्तजन, उस मुर्दे को कच्चे सचित पानी से स्नान कराने, भक्तों के पट्टुचने की प्रतीक्षा में उस मुर्दे को कई-कई दिनों तक बर्फ में रखने और अन्त में उस मुर्दे को चिता में फूंकने से होने वाली वर्णनातीत हिंसा करने वालों से पूछा जाय कि यह सब जो कुछ भी नाटक रचा गया है, इसे क्या समझकर रचा गया है? क्या यह सब धर्म के नाम पर किया गया है अथवा क्या समझकर किया गया है?

(आ) कोई शास्त्रज्ञान का ज्ञाता व्यक्ति जिसमें न तो साधु के गुण हैं और न साधु का वेश ही धारण किये हो अर्थात् भाव से साधु के गुण उसकी आत्मा में विद्यमान नहीं है और न ही उसके साधु का वेश है तो क्या आप उसको वन्दन करेंगे। आप कहेंगे कि कदापि नहीं। तो आप ही बतलाइए कि उस साधु के मुर्दे को जिस में न भाव साधु

(भाव निक्षेप) अवस्था ही है और न बाह्य शरीर में ही साधु की क्रियाएं विद्यमान हैं आपके सिद्धान्त के सर्वथा प्रतिकूल होने पर भी ऐसा क्यों किया ?

(4) किसी साधु का चित्र, फोटो, मूर्ति अथवा स्मृतिस्तूप (समाधिस्थल पर निर्मित छद्मी तथा उसमें उनके पाषाण निर्मित जड़ चरण) है। उस साधु पर आप को अनन्य भक्ति और श्रद्धा भी है तो क्या आप उस जड़ चित्र, फोटो, मूर्ति अथवा स्मृतिस्तूप की बेअदबी (अपमान) करेंगे ? अथवा किसी दूसरे के द्वारा उस का होता हुआ अपमान बरदाश्त करेंगे। आप कहेंगे कदापि नहीं। चित्र आदि तो जड़ हैं साधु के गुणों का उनमें सर्वथा अभाव है यह बात प्रत्यक्ष होते हुए भी आपको उनके जड़ चित्र आदि का अविनय क्यों अनुचित प्रतीत होता है और आपके मन को ठेस क्यों लगती है ? इससे स्पष्ट है चित्र आदि के अपमान से आपने अपने पूज्य साधु का अपमान माना। कागज के टुकड़े अथवा पाषाण का नहीं।

(1) तो इससे यह बात स्पष्ट है कि साधु के वेश में सब साधु नहीं होते तो भी आप अपनी मान्यता के प्रतिकूल सब साधुवेशधारियों को वन्दना आदि करने में धर्म मानते हो।

(2) उन के चित्र, फोटो, मूर्ति, स्मृतिस्तूप के अपमान को अपने साधु का अपमान मानते हो।

(3) आत्मा में भाव से साधु के गुण होने पर भी वेश त्यागी साधु अथवा साधु के वेश बिना महापुरुष को साधु मानकर वन्दना नहीं करते और न ही साधु के रूप में उसका सत्कार करते हो।

(4) साधु के मुर्दे का जीवित साधु से भी बढ़-चढ़कर सत्कार करते हो और उनके प्रति हिंसामय आडम्बर पूर्वक भक्ति का प्रदर्शन करने में अपने आपको कृतकृत्य और धन्य मानते हैं।

थोड़ा और सोचिए

(1) साधु जब ध्यानावस्था में अथवा मौन अवस्था में होता है, उस समय उस से उपदेश सुनना, प्रश्नों के उत्तर पाना तथा शंका समाधान करना सम्भव नहीं है। तब आप उन्हें वन्दना करके क्या अनुभव करते हैं ? यही न कि आपने साधु का दर्शन कर धर्म लाभ किया है।

(2) बीमार, गूंगा, बहरा, अंधा, अनपढ़ अथवा जड़ बुद्धि कोई भी वेशधारी साधु हो। चाहे उसे पढ़ा लिखा कुछ भी याद न हो, न ही वह उपदेश देने की क्षमता रखता हो अथवा योग्यता होते हुए भी उपदेश आदि देने में असमर्थ हो। कोई भी वेशधारी साधु हो अथवा साध्वी हो, उनसे किसी भी प्रकार के लाभ प्राप्त होने की संभावना न होते हुए भी उन्हें पूज्यमान आप सब को वन्दन, भक्ति, सत्कार आदि करके धर्म तो मानते ही हैं न ? अर्थात् साधु वेशधारी में गुण-अवगुण, योग्यता-अयोग्यता, उपदेशादि देने की समर्थता-असमर्थता की अपेक्षा रखे बिना उन्हें आहार

वस्त्रादि देकर, उनकी सेवा श्रूषाकर उनको वन्दना नमस्कार कर उनकी भक्ति उपासना कर, उनकी जय बोलकर धर्म मानते हैं ।

इससे स्पष्ट है कि आपकी भक्ति का कारण साधु का जड़ वेश ही मुख्य है । न कि उनके गुण, योग्यता अथवा उनसे उपदेशादि से होने वाले लाभ मुख्य कारण हैं ।

(3) यदि किसी पशु-पक्षी आदि को साधु का वेश दे दिया जावे तो उसे कदापि साधु समझकर वन्दना नहीं करेंगे । कारण यह है कि सब जानते हैं कि पशु-पक्षी के शरीर में रहने वाली आत्मा में साधु के गुण प्राप्ति की योग्यता नहीं है और न ही आज तक किसी पशु-पक्षी तिर्यंच को साधु वेश में किसी ने देखा है । इसलिये पशु-पक्षी का भाव निक्षेप शुद्ध न होने के कारण उसका कोई भी निक्षेप अथवा उसपर लादा गया साधु का वेश होने पर भी उसे पूजा सत्कार वन्दना आदि के योग्य नहीं माना जाता । इसी प्रकार अभी दूरभवी तथा मिथ्यादृष्टि मनुष्य साधु वेशधारी का भी भाव निक्षेप शुद्ध न होने से चारों निक्षेप अशुद्ध है इसलिये वन्दना, पूजा, सत्कार आदि के अयोग्य ही हैं ।

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मनुष्य फिर वह चाहे स्त्री हो अथवा पुरुष हो यदि उसने उनकी मान्यता के अनुकूल जड़ साधु वेश पहना हो तभी उसे साधु मानकर वन्दना नमस्कार करने और उनको आहार पानी, निवासस्थान आदि से सेवा भक्ति करने में साधु की भक्ति मानते हैं और ऐसा करने से उन्हें धर्म लाभ की प्राप्ति हुई ऐसा मानते हैं । चाहे भाव से वह साधु अभी है, मिथ्यादृष्टि है, दूरभवी है अथवा आत्मा में साधु के गुण रहित वेशधारी है इस की न तो कोई कसौटी है और न ही मापदण्ड है । इसलिये मानना पड़ेगा कि साधु वेशधारी मनुष्य के पौद्गलिक शरीर और वेश में साधु की कल्पना करके ही चलते हैं और उसी कल्पना के आधार से ही उन्हें साधु मानकर उनकी सेवा वन्दना आदि करते हैं और ऐसा करने से धर्म मानते हैं । तो आप ही बतलाइये कि साधु के चित्र, फोटो, आकृति, स्मृतिस्तम्भ में अथवा आत्मा में साधु के गुणों के अभाव में भी इन सबको भाव साधु मानकर उनकी सेवा, भक्ति, आदर-सत्कार आदि करना स्थापना निक्षेप की पूजा भक्ति नहीं तो और क्या है ? इस प्रकार आपने साधु का स्थापना निक्षेप पूज्य माना और जिनका भाव निक्षेप सर्वथा विद्यमान है । शुद्ध ऐसे तीर्थंकर के स्थापना निक्षेप को पूज्य मानने में आनाकानी क्यों ?

(4) साधु के देहांत हो जाने के बाद उसके मुर्दे तथा आत्मा दोनों में साधु के गुणों का अभाव होने पर भी उन में साधु के गुणों को मानकर यदि उस मुर्दे का सत्कार किया जाता है सो उस साधु की अतीतकाल की जीवित अवस्था के गुणों को वर्तमान में मानकर करते हो । तो कहना होगा कि (2) साधु के द्रव्य निक्षेप को भी पूज्य मान लिया और यदि ऐसा मानकर उसकी पूजा सत्कार आदि में आप धर्म मानते हैं तो तीर्थंकर प्रभु के द्रव्य निक्षेप की अवहेलना क्यों करते हो ? यदि आप द्रव्य निक्षेप को

पूज्य मानना स्वीकार नहीं करते तो आपने उस मुर्दे की भक्ति क्या मानकर को ? क्योंकि जड़ की भक्ति में तो आप पाप मिथ्यात्व और अधर्म मानते हैं। भूतकाल में हो गये साधुओं की जयतियां मनाते हैं। इससे भी द्रव्य निक्षेप की मान्यता की पुष्टि होती है।

(5) साधुओं के नाम की माला जाप आदि करते हो। उनके नाम की जय बोलते हो। इससे आपने नाम निक्षेप भी पूज्य मान लिया।

(4) वेश से भी और भाव से भी साधु को मानना तो आप स्पष्ट स्वीकार करते ही हैं। इसलिए (1) भाव निक्षेप को पूज्य मानना आपको स्वीकार ही है।

(1) अतः यह सिद्ध हुआ कि आपका चारों निक्षेपों को पूज्य न मान कर मात्र भाव निक्षेप पूज्य मानने का सिद्धांत होते हुए भी सबमें भावनिक्षेप विद्यमान हो ऐसा निश्चित नहीं। अतः साधु के चारों निक्षेपों को बराबर पूज्य माने बिना छुटकारा नहीं है और मजे की बात तो यह है कि साधु के चारों निक्षेपों की पूज्य मान्यता को आचरण में लाते हुए भी तीर्थंकर के चारों निक्षेप मानने से इनकार कर रहे हैं और उनके मात्र भाव निक्षेप की मान्यता के थोथे आधार पर श्री जिन-प्रतिमा की पूजा भक्ति का निषेध कर अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय दे रहे हैं।

(2) परन्तु कौन से साधु का भाव निक्षेप शुद्ध है इसे परखने का कोई भी माप दण्ड आपके पास नहीं है और यह भी स्पष्ट है कि जिस साधु के भावनिक्षेप का सर्वथा अभाव है ऐसे अभवी, भवी मिथ्यादृष्टि और दूरभवी भाव से मिथ्यादृष्टि होने से उसके चारों निक्षेप अपूज्य हैं। अथवा सम्यग्दृष्टि होते हुए भी चारित्र मोहनीय के उदय के कारण किसी साधु में चारित्र का अभाव होने से साधु के गुणों का अभाव अवश्यभावी है। वेशधारी साधुओं में किस का भाव निक्षेप शुद्ध है किसका अशुद्ध है इसको जानने के लिए भी इस समय कोई विशिष्ट ज्ञानवान विद्यमान नहीं है तो हर-एक साधु वेशधारी में शुद्ध भाव निक्षेप मान कर अपनी आत्मवचना ही तो कर रहे हैं।

(3) यदि कोई मनुष्य मिथ्यादृष्टि साधु वेश लेकर साधु बन जाता है तो उसका ज्ञान और चारित्र भी मिथ्या है। यह जैनदर्शन का अबाध्य सिद्धांत है और इस सिद्धांत को सब जैन संप्रदाय एकमत से स्वीकार करते हैं। मूर्ति विरोधी जैन भाई भी इसे स्वीकार करते हैं। तो ऐसे साधु को भाव साधु (साधु के साक्षात् गुण) मान कर उसे वंदना नमस्कार करना भी तो मिथ्यात्व ही है। मात्र इतना ही नहीं परन्तु ऐसे साधुओं की भक्ति प्रशंसा से उनका उन्मार्ग में धकेलने में सहायक बनकर उन्हें प्रोत्साहित करके जैन शासन की हानि का भी कारण बन रहे हैं।

(4) यदि यह बात मान भी ली जावे कि साधु वेशधारी मुर्दे में साधु के गुणों की कल्पना करके तथा जीवित मिथ्यादृष्टि मनुष्य साधु वेशधारी के आत्मा में साधु के गुणों की कल्पना करके आप उनकी पूजा भक्ति करते हैं। तो प्रश्न होता है कि यदि

आप मांस, हाड, चाम, मल, मूत्र आदि से भरे मानव शरीर में जिसमें साधु गुणों का सर्वथा अभाव है ऐसे विकृत आत्मा तथा गंदगी से भरे शरीर में साधु के गुणों का कल्पना करके पूज्य मानना धर्म मानते हैं और ऐसा करने से अपने आपको सम्यग्दृष्टि शिरोमणि मानते हैं।

तो वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकर जिनेश्वर देव की निर्दोष निर्विकार, पवित्र नासाग्र दृष्टि पद्मासनासीन अथवा खड़गासन में कायोत्सर्ग मुद्रा में योगातीत अवस्था में चौदहवें गुणास्थानवर्ती शैलेशीकरण में स्थित प्रतिमा में जिन का भावनिक्षेप निश्चय ही शुद्ध है ऐसे साक्षात् तीर्थंकर प्रभु की आत्मा की गुणों सहित कल्पना करके उस प्रतिमा की वंदना, नमस्कार, भक्ति, उपासना, पूजा आदि करने में दोष क्यों ? प्रभु प्रतिमा तो न किसी को हानि पहुंचाती है और न ही किसी पर कुदृष्टि डालती है। प्रभु तो निश्चय से मोक्षगामी हो चुके हैं। यदि अन्य आकृतियों को देखकर उन-उन आकृति वालों का ज्ञान होना सम्भव है तो श्री वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा की मूर्ति रूप आकृति से प्रभु के स्वरूप को समझने और उसकी भक्ति-पूजा में संदेह क्यों ? स्थानक वासी-ढूँढक अपने मृत साधुओं की जयंतियां, वर्षियां, शताब्दियां बड़े समारोह पूर्वक मनाते हैं जबकि उनकी आत्मा में भाव निक्षेप का इस समय सर्वथा अभाव है। इस समय उस साधु के नाम का भी वह व्यक्ति विद्यमान नहीं है और उन्हें स्थापना एवं द्रव्य निक्षेप मान्य हैं ही नहीं और इन दोनों निक्षेपों के सिवाय उनकी जयंतियां, वर्षियां, शताब्दियां मनाना भी उनकी मान्यता के विरोधी हैं फिर वे ऐसा क्यों करते हैं ? इस के समर्थन में वे नैगमनय का सहारा लेते हैं। उनका कहना है कि भूतकाल में ही साधु को हम इस समय साधु मानकर उसके प्रति श्रद्धा-भक्ति के निमित्त उनकी जयंतियां आदि मनाते हैं।

प्रश्न यह है कि अभव्य मनुष्य भी वेशधारी साधु होता है उले भाव से कभी भी साधु के गुण प्राप्त नहीं होते क्योंकि उसमें ऐसी योग्यता का सर्वथा अभाव है और आपके पास साधु के अभव्य, भव्य होने की कोई कसौटी भी नहीं है। जिस मृत साधु की आप जयंति मनाते हैं यदि वह साधु अभव्य था तो उसकी जयंति मनाने से उसमें नैगमनय का भी अभाव होने से आपके इस सिद्धांत से भी विरोध आता है। इसलिए आपको ऐसा करना भी आपके सिद्धांत से सर्वथा अनुचित है। यहां यह समझ लेना चाहिए कि बाकी के तीन निक्षेप उन्हीं के बन्दनीय और पूजनीय है जिनका भाव निक्षेप पूजनीय है। इसलिए श्री भगवती सूत्र, श्री उववाई और श्री रायपसेणीय आगमों में श्री तीर्थंकर देव तथा अन्य महर्षियों का नाम निक्षेप बन्दनीय और पूजनीय कहा गया है क्योंकि उनका भाव निक्षेप पूजनीय है। परन्तु अभवि दूरभवि, मिथ्या-दृष्टि अथवा भाव-चारित्र के बिना साधु को साधु मानकर पूज्य मानना घोर मिथ्यात्व है। ऐसा हम पहले भी लिख आए हैं।

श्री तीर्थंकर देव के चारों निक्षेपों को पूज्य मानने के लिए जैनागमों के प्रमाण

1. नाम निक्षेप को पूज्य मानने के प्रमाण

उववाइ, रायपसेणी, भगवती आदि आगमों में कहा है कि—

“श्री अरिहंत भगवान के नाम-गोत्र के सुनने से भी निश्चय महाफल होता है। इस से यह स्पष्ट है कि नाम निक्षेप के जपने से और सुनने से महाफल होता है। यह सूत्र पाठ—“तं महाफलं खलु अरिहंताणं भगवंताणं नाम गोयस्स वि सेवणाए।”

2. स्थापना निक्षेप की पूज्य मानने के प्रमाण

इसका विवरण बड़े विस्तार पूर्वक ‘विज्जाचारण’ मुनियों के नन्दीश्वर द्वीप में शाश्वती जिनप्रतिमाओं को वन्दना करने के लिए जाने वाले प्रसंग में कर आए हैं। जिज्ञासु वहां से जान लें। यहां पिष्टपेषण करना व्यर्थ है।

3. द्रव्य निक्षेप को पूज्य मानने के प्रमाण

आगमों में श्री तीर्थंकर देवों के च्यवन, जन्म, दीक्षा कल्याणकों में इन्द्रों द्वारा तीर्थंकर भगवन्तों की भक्ति के लिये कल्याणक महोत्सव मनाने के लिए अनेक प्रसंगों का वर्णन आया है। इस से स्पष्ट है कि प्रभु का द्रव्य निक्षेप भी पूजनीय है। क्योंकि केवलज्ञान से पहले तीर्थंकर की आत्मा में भाव निक्षेप नहीं होने से द्रव्य निक्षेप की अपेक्षा से भक्ति है। देखिए तीर्थंकर देवों के चारों निक्षेपों को पूज्य मानने से इनकार करने वाले जिनप्रतिमा के विरोधी संप्रदाय भी साधु के चारों निक्षेपों को मानते हैं। इस का विस्तार से वर्णन हम पहले कर चुके हैं।

4. भाव निक्षेप को पूज्य मानने के प्रमाण

केवलज्ञान हो जाने के बाद जब तीर्थंकर प्रभु विद्यमान होते हैं तब उनके आठ प्रातिहार्य समवसरण आदि की इन्द्रों द्वारा रचना एवं तीनोंलोक के प्राणियों द्वारा प्रभु पूजे जाते हैं। जैन आगमों-शास्त्रों आदि के सुनने पढ़ने वालों से यह बात भी छिपी नहीं है।

जिनप्रतिमा विरोधियों का कहना है कि—यदि जिनप्रतिमा को देखकर शुभ ध्यान पैदा होता है तो मल्लिनाथ जी की राजकुमारी अवस्था की मूर्ति को देखकर उस के पूर्वजन्म के छह साथी जो इस जन्म में अलग-अलग स्थानों के राजा थे, वे कामातुर क्यों हुए ? इस लिए स्थापना से क्या लाभ ?

समाधान—कालिकाचार्य की बहन सरस्वती नामक साध्वी को रूपवती देख कर गर्दभिल्ल राजा कामातुर हो गया और उसे उठाकर अपने अन्तःपुर में डाल लिया जिसके परिणाम स्वरूप कालिकाचार्य ने युद्ध में गर्दभिल्ल को हराकर साध्वी को बचाया। रूपवान साधु को देखकर कई स्त्रियां कामातुर हो जाती हैं तो क्या साधु-साध्वी भी वन्दनीय नहीं हैं ? किंतु जो पुहष अथवा स्त्री, साध्वी अथवा साधु को देख कर कामातुर हो जाते हैं उनके मनोविकारों का दोष है। सो उन्हें मोहनीय कर्म का

उदय और नीचगति कर्म का बंधन है। हम पहले लिख आये हैं कि शास्त्र में जिस मकान की दीवाल आदि में स्त्री का चित्र चित्रित हो उसे साधु न देखे और वहाँ निवास भी न करे क्योंकि उसको देखने से मन में विकार आना सम्भव है परन्तु स्थूलिभद्र की गृहस्थावस्था के प्रेमिका कोशा नाम वाली वेश्या थी, उसके वहाँ वे बारह वर्षों तक सांसारिक सुख भोगते रहे। बाद में संसार से विरक्त होकर सब प्रकार के भोगोप-भोगों का त्यागकर पांच महाव्रत अंगीकार कर निर्ग्रन्थ श्रमण (जैन साधु) हो गये। वर्षा ऋतु आने पर वर्षावास (चतुर्मास) बिताने के लिए गुरु की आज्ञा लेकर कोशा वेश्या के यहाँ गए और जिस कमरे की दीवालें पर कामभोग के चौरासी आसनों के चित्र बने थे, उस चित्रशाला में सारा चौमासा व्यतीत किया। वहाँ सदा सर्वथा निर्दोष निष्कलंक रहते हुए चतुर्मास व्यतीत करके गुरु के पास लौटे। गुरु जी ने उनका बहुमान पूर्वक सत्कार किया और दुष्कर-दुष्करकारक कहकर उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा भी की। शास्त्रकारों ने उनके इस अलौकिक अनन्य साहस पूर्ण उदाहरण को स्वर्णाक्षरों से लिखा। इससे स्पष्ट है कि यह सब भावना पर निर्भर है न कि चित्र अथवा स्थापना का दोष या करामात है। स्थापना तो साधु के लिए आलम्बन अवश्य है। इसके विषय में हम पहले "खोया-पाया" के दृष्टांत में विवेचन कर आये हैं।

समवायांग, दशाश्रुतस्कन्ध, दशवैकालिक आदि आगमों में गुरु की तेतीस आशातनाओं में पाद-पीठ-संथारा प्रमुख को पर लगे तो गुरु की आशातना हो, ऐसा कहा है। पर उस पाद-पीठ-संथारा आदि में गुरु तो विद्यमान नहीं है तो भी उनकी पांव लगने से आशातना मानी है। तो यह स्थापना हो गई और इसकी आशातना-अविनय करना पाप बतलाया है मूर्ति मान्यता के निषेधक कहते हैं कि यदि तीर्थंकर की मूर्ति की उपासना से आत्मबंचना नहीं है तो मूर्ति निर्माता की पूजा क्यों न की जावे क्योंकि मूर्ति स्रष्टा की कृपा का ही तो परिणाम है जिसने उसे आपको दिया है।

इसका समाधान यह है कि मूर्ति बनाने वाले में तीर्थंकर के गुण विद्यमान नहीं है इसलिये उसकी उपासना करने से आत्मकल्याण संभव नहीं। कोई भी समझदार व्यक्ति तीर्थंकर को उत्पन्न करने वाले माता-पिता को उपास्य नहीं मानता तथा साधु के माता-पिता में साधु के गुणों का अभाव होने से उनको पूज्य आप भी नहीं मानते। यदि आप मूर्ति निर्माता को पूज्य मानने का तर्क लेकर तीर्थंकर प्रतिमा की उपासना का निषेध करना चाहते हैं तो आप को भी साधु को वन्दना नमस्कार न करके उसके मातापिता को साधु से भी अधिक पूज्य मानने में आपत्ति क्यों है? पर आप भी ऐसा नहीं करते। मूर्ति निषेधक यह भी कहते हैं कि मूर्ति में जीवित तीर्थंकर के शरीर वाले पुद्गलों का अभाव होने से वह तीर्थंकरवत् पूज्य नहीं है।

समाधान यह है कि तीर्थंकर प्रतिमा की उपासना के विरोधी पंथ जो अपने साधु-गुरुओं के चित्र-फोटो को बनवाकर उनका सम्मान तथा आदर करते हैं तो उसमें भी उस साधु के शरीर के पुद्गलों से भिन्न पुद्गल हैं फिर ऐसा क्यों करते हैं? दूसरी बात

यह है कि तीर्थंकर प्रतिमा द्वारा तीर्थंकर के गुणों का चिंतन-मनन-उपासना की जाती है न कि जड़ पुद्गल की पूजा-भक्ति। जीवित तीर्थंकर के भी गुणों को पूजा की जाती है न कि पुद्गल की। मूर्ति पूजा को न मानने वाले कहते हैं कि मूर्ति पूजा में एकान्त हिंसा है। पूजा में फल-फूल आदि जो द्रव्य चढ़ाए जाते हैं उन की हिंसा होती है। पर्व के दिनों में फलों आदि सचित्त आहार का श्रावक को त्याग होता है, उस दिन भी इन फलों आदि को मूर्ति की पूजा में चढ़ाते हैं अतः इसमें भी दोष है।

जिनप्रतिमा पूजन का ध्येय तथा लाभ—

1. पूजन का ध्येय

प्रत्येक कार्य के पीछे एक ध्येय होता है। मूर्ति स्थापित करने का भी एक ध्येय है और वह यह है—“चंचल मन को, जो स्वभाव से ही विषयासक्त और कामी है उसे शुद्ध गुणों की ओर प्रेरित किया जा सके।” चंचल मन की गति किसी से छिपी नहीं है। इसलिये महापुरुषों ने साधारण व्यक्तियों के लिये कुछ ऐसे आलम्बनों की विशेष आवश्यकता समझी। जिन के सहारे इस चंचल मन को सुधार कर सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त किया जा सके।

मूर्तिपूजा से व्यवहार में चंचल मन को परमात्मा के गुणों में कुछ अभ्यस्त किया जा सके, महापुरुषों की तो सदा यही निर्मल भावना रही है। इसके सहारे से पहले परमात्मा में बहुमान और अनुराग बढ़ता है। फिर धीरे-धीरे मानव उनके शुद्ध गुणों में ओतप्रोत होकर विषयों से हटने लगता है। इस आलम्बन से रुचि न रखने वाले अथवा कम रुचि रखने वालों में भी शुद्ध गुणों में रुचि उत्पन्न हो जाती है। और भक्त मनुष्य सत्पथगामी बन जाता है। अधिक क्या कहा जाय न तो परमात्मा को इससे कुछ लेनादेना है और न भक्त ही सांसारिक वस्तुओं की वांछा रखता है। अनुराग पूर्वक परमात्मा के गुणों का स्मरण अनुमोदन करते हुए उन्हीं गुणों को अपनी आत्मा में जगाना ही सब समय साधक का ध्येय रहता है।

श्रमण भगवान महावीर से पहले-प्रागैतिहासिक काल से लेकर आज तक जिन-प्रतिमाओं की स्थापना तथा उनकी भक्ति और पूजन होता आ रहा है। जिनप्रतिमा की उपासना द्वारा मिथ्यादृष्टि से लेकर सर्वविरति निरग्र्य मुनियों तक ने आत्मकल्याण किया है। तीर्थंकर महावीर के निर्वाण के बाद भरतक्षेत्र में तीर्थंकर का सर्वथा अभाव है उनके बाद तो मात्र तीर्थंकर की मूर्ति द्वारा ही तीर्थंकर की अनुपस्थिति को पूरा किया जा सकता है और किया जा सकेगा। जैन आगमों में तिर्यंच से लेकर मनुष्यों इन्द्रों, देवी देवताओं, गृहस्थ स्त्री-पुरुषों, त्यागी साधु-साध्वियों तक ने जिनप्रतिमा की उपासना से आत्मकल्याण करने के प्रमाण विद्यमान हैं।

1. जैसे कि प्रभु महावीर के समकालीन महाराजा श्रेणिक के पुत्र प्रधान-मन्त्री अभयकुमार ने अनार्यदेश में उत्पन्न अपने मित्र आर्द्रककुमार को जिनप्रतिमा भेजी। जिसे देखकर दर्शन करने से उसे जातिस्मरण ज्ञान का प्रकाश प्राप्त हुआ।

सम्यक्त्व प्राप्त कर प्रतिबोध पाकर आर्य देश में आकर जैन साधु की दीक्षा ग्रहण की।

2. विद्युन्माली देवता द्वारा निर्मित प्रभु महावीर की चन्दन की प्रतिमा सिंधु-सौवीर देश की राजधानी वीतभयपत्तन में उदायन राजा की पटरानी प्रभावती ने अपने राजमहल में मंदिर बनवाकर विराजमान की और उसकी प्रतिदिन प्रातः मध्याह्न तथा संध्या (तीन समय) पूजा करती रही।

3. अंतिम केवली जम्बूस्वामी के शिष्य पट्टधर श्री प्रभवाचार्य के पट्टधर श्री शय्यंभवसूरि ने श्री शान्तिनाथ प्रभु की मूर्ति के दर्शन करने से प्रतिबोध पाकर जैन साधु की दीक्षा ग्रहण की। बाद में यह शय्यंभव श्रीसंघ नायक आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। यह प्रभु श्री महावीर के पश्चात् प्रथम संघनायक पंचम गणधर श्री सुधर्मा स्वामी के चौथे पाट पर हुए। 1-मुधर्मास्वामी, 2-जम्बू स्वामी, 3-प्रभवाचार्य, 4-शय्यंभवसूरि हुए। यह समय भगवान महावीर के निर्वाण के बाद प्रथम शताब्दी का है।

4. जैनाचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकर जो राजा विक्रमादित्य के प्रतिबोधक धर्म-गुरु थे, जिनको आज दो हजार वर्षों से भी ऊपर हो गए हैं। उन्होंने श्री पार्श्वनाथ प्रभु की स्तुति रूप श्री कल्याणमंदिर स्तोत्र की रचना की। इस स्तोत्र के पाठ के प्रभाव से शिवलिंग में से श्री पार्श्वनाथ की मूर्ति प्रगट हुई।

इस कल्याणमंदिर स्तोत्र के कुछ श्लोकों द्वारा उनकी जिनप्रतिमा की भक्ति का परिचय देना बहुत उपयोगी है जिससे पता लग जावे कि जिनप्रतिमा की साक्षात् तीर्थंकर पार्श्वनाथ के रूप में उपासना कर आत्मकल्याण के लिए कैसे सफल हुए। कहने का आशय यह है कि जब तक जिनप्रतिमा को साक्षात् भगवान मानकर भक्ति न की जावे तब तक न तो भाव ही प्रगट होते हैं और न ही तन्मयता ही होती है।

कल्याणमन्दिर स्तोत्र द्वारा

श्री पार्श्वनाथ प्रभु के चार निक्षेपों की भक्ति

1. नाम निक्षेप

(प्रभु के नाम स्मरण का माहात्म्य)

आस्तामच्चिन्त्यमहिमा जिन संस्तवस्ते,

नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति ।

तीव्रातपोपहतपान्थजनान्निदाघे,

प्रीणाति पद्मसरसः सरसोऽनिलोऽपि ॥7॥

अर्थात्—हे जिनेश्वर ! आप के स्तोत्र की महिमा अचिन्त्य है। यदि आपका स्तोत्र न भी किया जावे तो भी माल तुम्हारा नाम ही तीन जगत के प्राणियों को संसार में भटकने से बचा लेता है। जैसे गरमी के सख्त ताप से संतप्त-व्याकुल पथिक जनों को कमलों के सरोवर की ठण्डी वायु ही प्रसन्न करती है तो फिर सरोवर का जल तथा उसमें उगे हुए कमल उस पथिक को प्रसन्न करें उसमें आश्चर्य ही क्या है? इसी

प्रकार तुम्हारे नाम मात्र से स्मरण से ही प्राणियों का भवभ्रमण दूर होता है। तो फिर आपकी स्तुति करने से भवभ्रमण दूर हो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

2. द्रव्य निक्षेप

(प्रभु के ध्यान का माहात्म्य)

हृद्वर्तिनि त्वयि विभो शिथिली-भवन्ति
जन्तो क्षणेन निविडा अपि कर्मबन्धाः ।

सद्योभुजङ्गममया इव मध्यभाग-
मभ्यागते वनशिखण्डिनि चन्दनस्य ॥8॥

अर्थात्—हे प्रभो ! जैसे वन का मोर जब चन्दन वन के मध्य भाग में आता है तब चन्दन वृक्ष से लिपटे हुए सर्पों के सब बंधन ढीले पड़ जाते हैं। वैसे जब आप हम भक्तजनों के हृदय में निवास करते हैं तो प्राणी के दृढ़ कर्मबन्धन शिथिल हो जाते हैं।

भावार्थ—यह जीव अनादिकाल से आठों कर्म रूपी सर्पों से जकड़ा हुआ है। पर जब भक्तजन हृदय रूपी वन में मोर रूपी आपको ध्यान-स्मरण-जाप द्वारा विराजमान करते हैं तो तत्काल ही वे दृढ़ कर्म बन्धन ढीले पड़ जाते हैं।

सारांश यह है कि पार्श्वनाथ प्रभु इस समय सिद्धावस्था में है उनकी तीर्थंकर अवस्था को वर्तमान में मानकर उनको अपने हृदय में विराजमान करना द्रव्य निक्षेप द्वारा प्रभु की भक्ति आचार्य श्री ने की है।

3. स्थापना निक्षेप

(प्रभु प्रतिमा के दर्शन का माहात्म्य)

मुच्यन्त एव मनुजाः सहसा जिनेन्द्रः
रौद्रेरुपद्रवशतैस्त्वयि वीक्षितेऽपि ।
गोस्वामिनि स्फुरति तेजसि दृष्टमात्रे,
चौरैरिवाशुपशवः प्रपलायमानैः ॥9॥

अर्थात्—हे जिनेश्वर ! तुम्हारे दर्शन करने मात्र से ही मनुष्य सैकड़ों भयंकर उपद्रवों से तत्काल मुक्त हो जाता है। जैसे देदीप्यमान तेज वाले सूर्य राजा अथवा गोपाल को मात्र देखने से ही चोरों द्वारा पशु-गौएँ आदि छोड़ दी जाती हैं।

(नोट) यह बात लक्ष्य में रखने की है कि आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के समय में कोई भी तीर्थंकर प्रमु विद्यमान नहीं थे। पार्श्वनाथ प्रभु को हुए लगभग एक हजार वर्ष हो चुके थे। इस लिए स्पष्ट है कि उन्होंने श्री पार्श्वनाथ प्रभु की प्रतिमा के ही दर्शन कर उन्हें सम्बोधित किया है। यह उनके स्थापना निक्षेप की भक्ति-स्तुति है।

भाव निक्षेप

(प्रभु के ध्यान का माहात्म्य)

त्वं तारको जिन कथं भविनां न एव,
त्वामुद्वहन्ति हृदयेन यदुत्तरन्तः ।

यद्वा वृतिस्तरति यज्जलमेष नून,
मन्तर्गतस्य भरुतः स किलानुभावः ॥10॥

अर्थात्—हे जिनेश्वर ! आप भव्य प्राणियों के तारणहार कहलाते हैं; वह कैसे ? क्योंकि संसार सागर से तिरने वाले मानव आप श्री को अपने हृदय में धारण करते हैं, इसलिए उन्हें तारने वाले आप कैसे हो सकते हैं ? जैसे नाव अपने अंदर बैठने वाले को तिराकर ले जाती है, वैसे ही तिरने वाले प्राणी अपने हृदय में आपको धारण करके तिराकर ले जाते हैं। अतः तारणहार तो भव्य प्राणी कहे जा सकते हैं ? ऐसी शंका कर स्वयं स्तोत्रकार ही इसका समाधान करते हैं कि यह बात योग्य है कि आप श्री ही तारक हैं—चमड़े की मशक जो पानी में तैरती है उसे तिराने में उसके अंदर रही हुई वायु का ही प्रभाव है। अर्थात्—जिस प्रकार चमड़े की मशक के अंदर रखा हुआ वायु उस मशक को तिराने वाला होता है यदि उसमें से वायु निकाल ली जावे तो मशक पानी में डूब जावेगी। उसी प्रकार भव्य प्राणियों के हृदय में रहे हुए आप ही उन भव्य प्राणियों के तारक हैं। यानी आपका ध्यान धरने से ही प्राणी संसार समुद्र को तिर सकते हैं।

जिन प्रतिमा का प्रभाव

इत्थं समाहितषियो विधिवज्जिनेन्द्र,
सान्द्रोल्लसत्पुलककञ्चुकिताङ्ग भागाः ।
त्वद्बिम्ब निर्मलमुखाम्बुजबद्धलक्ष्या;
ये संस्तवं तव विभो रचयन्ति भव्याः ॥43॥

जन-नयन-कुमुद-चन्द्र प्रभास्वराः स्वर्ग संपदो भुक्तत्या ।

ते विगलित-मल-निचया, अचिरान्मोक्षं प्रपद्यन्ते ॥44॥ युग्मम् ॥

अर्थात्—हे जिनेश्वर ! लोगों के नेत्र रूपी चंद्रविकासी कमलों को विकस्वर करने में चंद्र समान आप स्थिर बुद्धि रखने वाले, अत्यन्त विकस्वर रोमांचित शरीर वाले और तुम्हारे बिम्ब (प्रतिमा-मूर्ति) के निर्मल मुख कमल में लक्ष्य रखने वाले भव्य प्राणी ऊपर कहे अनुसार विधि पूर्वक आपकी स्तुति करते हैं; वे देदीप्यमान स्वर्ग की सम्पत्ति भोग कर शीघ्र ही सर्व कर्म मल को क्षय कर मोक्ष प्राप्त करते हैं।

5. जैनाचार्य श्री मानतुंग सूरि जी महाराज भोज के समय में हो गए हैं। वे अपने 'भक्तामर स्तोत्र' में प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव की स्तुति करते हुए उन की प्रतिमा के सामने क्या कहते हैं; जरा इस पर भी कुछ विचार करें।

आप विक्रम की दसवीं शताब्दी में हुए हैं और महावीर प्रभु के बीसवें पाट पर हुए हैं उस समय भी भरतक्षेत्र में कोई तीर्थंकर विराजमान नहीं थे। स्थापना निक्षेप की स्तुति रूप श्री ऋषभदेव का गुण कीर्तन किया है।

भक्तामर स्तोत्र से आचार्य माननुंग द्वारा की गई—
श्री ऋषभदेव प्रभु की प्रतिमा के सामने स्तुति

श्री जिनेश्वर प्रभु के दर्शन का फल
दृष्टा भवंतमनिमेष विलोकनीयं,
नान्यत्र तोषनुपयाति जनस्य चक्षुः।
पीत्वा पयः शशिकर द्युतिदुग्धसिन्धोः,
क्षारं जलं जलनिधेरशितुं क इच्छेत् ॥11॥

अर्थात्—हे प्रभो ! स्थिर दृष्टि में देखने योग्य ऐसे आप श्री के दर्शन के बाद मनुष्य की दृष्टि अन्य देवों को देखने से संतुष्ट नहीं होती । जिस प्रकार चन्द्रमा की किरणों के समान उज्ज्वल कांतिवाले क्षीरसमुद्र का जल पी लेने के बाद लवणसमुद्र का खारा पानी कौन पीना चाहेगा ?

भगवान के रूप का वर्णन

यैः शांतरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं,
निर्मापिस्त्रिभुवनैक ललाभ भूत ! ।
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां,
यत्ते समानमपरं न हि रूपमस्ति ॥12॥

अर्थात्—तीन भुवन में अद्वितीय अलंकार तुल्य हे प्रभो ! राग-द्वेष की कांति को नाश करने वाले अथवा शांतरस की कांति वाले परमाणुओं द्वारा जो आप का शरीर बना है; वे परमाणु पृथ्वी पर उतने ही हैं । क्योंकि इस जगत में आप के समान किसी दूसरे का रूप दृष्टिगोचर नहीं होता । यदि ऐसे परमाणु और होते तो आपके समान कोई दूसरा रूप भी दिखाई देता ।

तीर्थंकर के मुख का वर्णन

वक्त्रं वव ते सुर-नरोरग-नेत्रहारि,
निःशेषनिर्जित जगत्त्रितयोपमानम् ।
बिम्बं कलंक मलिनं वव निशाकरस्य,
यद्वासरे भवति पाण्डुपलाशकल्पम् ॥13॥

अर्थात्—हे सुन्दर मुख वाले प्रभो ! देवों, मनुष्यों तथा भुवनपतियों के नेत्रों को हरने वाले मनोहर तथा तीन जगत में विद्यमान कमल, दर्पण, चन्द्र आदि की सब उपमाओं को जीतने वाला आपका मुख कहीं और कलंक से मलिन तथा दिन में पलाश के पत्ते के समान फीका दिखलाई देने वाला चन्द्रमा का बिम्ब कहां ? यानी यदि आप के मुख को चन्द्रमा की उपमा दे तो सर्वथा अयोग्य है । क्योंकि दोनों की तुलना हो सके यह बिल्कुल सम्भव नहीं ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि “जिनप्रतिमा” आत्म साधना के लिए सम्यग्दृष्टि भय प्राणी के लिए अचूक साधन है । इसके दर्शन और भक्ति तथा पूजन के

साहाय्य के लिए श्री सिद्धसेन दिवाकर, हरिभद्र सूरि, उपाध्याय यशोविजय तथा महान योगी आनन्दघन, श्री मानतुंग आचार्य जैसे ने कल्याणमंदिर और भक्तामर आदि जैसे अनेक स्तोत्रों द्वारा अपने भक्ति भावों को कितना सुन्दर व्यक्त किया है। इसी प्रकार जो भव्य प्राणी जिनप्रतिमा की भक्ति द्वारा श्री तीर्थकर भगवन्तों की आराधना करता है वह अवश्य मुक्ति को भी प्राप्त कर सकता है। जब श्री जिनमंदिर में दर्शन करने जाते हैं तब श्री जिनप्रतिमा के सन्मुख "नमुत्थुणं अरिहंताणं भगवन्ताणं। नमो जिणाणं नमो अरिहंताणं आदि कह कर तीर्थकर भगवन्तों की भक्ति की जाती है। न कि नमो पडिमाणं कहकर किया जाता है। जैसे अनानुपूर्वी के अंकों पर से अंक 1 से नमो अरिहंताणं, अंक 2 से नमो सिद्धाणं, अंक 3 से नमो आयरियाणं, अंक 4 से नमो उवज्झायाणं और अंक 5 से नमो लोए सव्व साहूणं को नामोच्चोरण सहित नमस्कार करके पंचपरमेष्ठी की भक्ति और उपासना की जाती है। यहां पर पंचपरमेष्ठियों की अंकों के रूप में स्थापना की गई है। वैसे ही जिनप्रतिमा के रूप में परमात्मा की स्थापना करके तीर्थकर प्रभु की उपासना करते हैं। न कि एक, दो, तीन, चार पांच का उच्चारण करते हैं।

तीर्थ का महत्व और उसकी उपासना से लाभ

जैन शास्त्रों में तीर्थ शब्द की व्युत्पत्ति 'तीर्यंते संसार सागरों येन तत् तीर्थम्।' इस प्रकार से की गई है। जिस का अर्थ है—'जो संसार सागर से तारे उसे तीर्थ कहते हैं।'

तीर्थ दो प्रकार के हैं—1-जंगम तीर्थ, 2-स्थावर तीर्थ।

जंगम तीर्थ—चलते फिरते तीर्थ को कहते हैं। इसमें साक्षात् जीवित तीर्थकर सामान्य केवली, गणधर देव, साधु साध्वी-श्रावक-श्राविका आदि का समावेश होता है। ये स्वयं स्थान-स्थान पर जाकर अपने पवित्र चरित्र तथा सम्यग्ज्ञान-दर्शन द्वारा वस्तु के वास्तविक स्वरूप की जानकारी कराकर विश्व के प्राणियों को संसार से तारने का मार्ग दर्शन कराते हैं। इसलिए जंगम तीर्थ हैं।

2. स्थावर तीर्थ—जो एक स्थान पर स्थिति हों उसे स्थावर तीर्थ कहते हैं। जैनों के प्राचीन आगम ग्रंथों में तीर्थकरों की कल्याणक भूमियों, विहार भूमियों, उपसर्ग-स्थानों, एवं तपस्थलों आदि को स्थावर तीर्थ कहा है।

ये जिनमूर्तियां जिनमंदिर आदि तीर्थों के दर्शन-सम्यक्त्व की शुद्धि, प्राप्ति, तथा दृढ़ता का कारण माने गये हैं। इन स्थावर तीर्थों का निर्देश आचारांग, आवश्यक आदि आगमों (सूत्रों) नियुक्तियों आदि में मिलता है। जो मौर्यकाल से भी प्राचीन है। इससे स्पष्ट है जिनतीर्थों का नाम इन आगमों की नियुक्तियों में विद्यमान है वे मौर्यकाल से भी पहले से विद्यमान हैं।

जिन तीर्थों के नाम आगमों, नियुक्तियों तथा भाष्यों में मिलते हैं उन्हें हम आगमोक्त तीर्थ कहेंगे। उनके नाम इस प्रकार हैं—

1-हस्तिनापुर, 2-शोरीपुर, 3-मथुरा, 4-अयोध्या, 5-काम्पिल्य, 6-बनारस

(काशी), 7-श्रावस्ति, 8-क्षत्रियकुंड, 9-मिथिला, 10-राजगृही, 11-अपापा(पावापुरी), 12-भद्रिलपुर, 13-चम्पापुरी, 14-कोशाम्ब्री, 15-रत्नपुरी, 16-चन्द्रपुरी, 17-सम्मेतशिखर और शार्ङ्गजय इत्यादि । ये सब तीर्थ भूमियां श्री तीर्थंकर देवों के च्यवन, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान तथा निर्वाण भूमियां होने के कारण जैनों के प्राचीन स्थावर तीर्थ हैं ।

जैनों के प्रथमांग श्री आचारांग सूत्र की चतुर्दशपूर्वधर आचार्य श्री भद्रबाहु कृत निर्युक्ति की निम्नलिखित गाथाओं में प्राचीन तीर्थों के नाम मिलते हैं—

दंसण-नाण-चरित्ते, तव-वेरग्गे य होइ उपसत्था ।

जाय जहा ताय तहा, सख्खणं वुच्छं सलक्खणं ओ ॥329॥

तित्थगराण भगवओ, पवयण-पावयणि-अइसयड्ढीण ।

अभिगमण-नमन-दरिसण-किसण संपूअणा थुणणा ॥330॥

जम्माऽभिसेय-निक्खमण-चरण-नाणुप्पया च निव्वाणं ।

दियलोअ-भ्रवण-मंदर-नंदीसर-भोमनगरेसु ॥331॥

अट्ठावयमुज्जिते, गयगपए य धम्मचक्के य ।

पास-रहावत्तनगं चमरुप्पायं च वंदामि ॥332॥

अर्थात्—दर्शन (सम्यक्त्व), ज्ञान, चरित, तप, वैराग्य, विनय विषयक भाव-नाएं जिन कारणों से शुद्ध बनती हैं, उनको मैं स्वलक्षणों सहित कहूंगा । 329

(1) तीर्थंकर भगवन्तों के, (2) इनके प्रवचनों के, (3) प्रवचन प्रभावक-प्रचारक आचार्यों के, (4) केवल, मनःपर्यव, अवधिज्ञानी, वैक्रिय आदि अतिशयी लब्धिधारी मुनियों के सम्मुख जाने, (5) उनको नमस्कार करने, (6) उनका दर्शन करने, (7) उनके गुणों का कीर्तन करने, (8) उनकी अन्नदान, वस्त्रादि से पूजा करने से दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप-वैराग्य संबंधी गुणों की शुद्धि तथा वृद्धि होती है । (यह जंगम तीर्थ की भक्ति हुई) । 330

(1) जन्म कल्याणक स्थान, (2) जन्माभिषेक स्थान, (3) दीक्षा स्थान, (4) श्रमण अवस्था की विहार भूमि, (5) केवलज्ञान उत्पत्ति का स्थान, (6) निर्वाण कल्याणक भूमि, (7) अमुरादि भवनों में, मेरु पर्वत में, नन्दीश्वर द्वीप के शाश्वत जिन चैत्रियों (तीर्थंकरदेवों की मूर्तियों) को, (8) व्यंतर देवों के भूमिस्थ नगरों में रही हुई जिनेश्वर प्रभु की प्रतिमाओं को, (9) अष्टापद उज्जयंत (गिरनार), गजाग्रपद, धर्मचक्र (तक्षशिला का श्री ऋषभदेव के चरण बिम्ब का तीर्थ), अहिच्छत्रा स्थित पार्श्वनाथ रथावतं पर्वत, चमरोत्पात, इन नामों से प्रसिद्ध जैनतीर्थों में विद्यमान जिन प्रतिमाओं को वन्दन करता हूं । 331-332

सारांश यह है कि निर्युक्तिकार श्रुतकेवली चौदहपूर्वधर श्री भद्रबाहु स्वामी ने तीर्थंकर भगवन्तों के जन्म, दीक्षा, विहार, निर्वाण, केवलज्ञान उत्पत्तिस्थानों आदि को तीर्थ कहा है और वहाँ रही हुई जिनप्रतिमाओं को वन्दन किया है । मात्र इतना ही

नहीं परन्तु राजप्रश्नीय, जीवाजीवाभिगम, स्थानांग, भगवती सूत्र आदि मूल जैनागमों में वर्णित देवलोकों में, असुर भवनों में, मेरु आदि पर्वतों में, नंदीश्वर द्वीप में, और व्यंतर देवों के नगरों आदि में विद्यमान शाश्वत जिनप्रतिमओं को भी वन्दन किया है। [यह स्थावर तीर्थ की भक्ति हुई]।

भारतीय संस्कृति अध्यात्म प्रधान है। आत्मा को परमात्मा बनाने के लिए अनेक प्रकार के साधन या धर्म भारतीय मनिशियों ने बतलाये हैं। उनमें महापुरुषों का नाम स्मरण, उनकी भक्ति, पूजा, गुणानुवाद, स्तुति, प्रार्थनादि महत्व के माने गए हैं। क्योंकि हम परमात्मा बनना चाहते हैं। तो परमात्मा के प्रति हमारा अत्याधिक आकर्षण, प्रेम, तदरूप होना बहुत आवश्यक है। वह अनुराग अनेक रूपों से प्रगट होता है। सच्ची भक्ति भगवान के निकट भक्त को पहुंचाती है।⁶ गुणी बनने का सच्चा और सरस उपाय यही है कि देव-गुरु के प्रति हमारी आदर भावना हो। गुणानुराग के साथ-साथ गुण ग्रहण की भावना हो।⁷ महापुरुषों का ध्यान हमें उनके प्रगट हुए गुणों या स्वरूप का भान कराता है। हम में जो ज्ञानादि गुण छिपे या दबे पड़े हैं वे परमात्मा में प्रगट या व्यक्त हैं। इसलिए उनके स्मरण से हमारा वास्तविक स्वरूप सामने आ जाता है और जिन उपायों से उन्होंने आत्मविकास तथा स्वरूपोपलब्धि प्राप्त की है वह मार्ग भी हमारे जानने में आ जाता है और तभी हम उस मुक्तिमार्ग के प्रति अग्रसर होने का प्रयत्न भी कर सकते हैं।

जिस तरह नाम का माहात्म्य है उसी तरह महापुरुषों से सम्बन्धित स्थानों का भी है। वे जिस भूमि पर जन्में, दीक्षा ली, साधना की, विशिष्ट ज्ञान प्राप्त किया तथा निर्वाण पधारे वे सब स्थान हमारे आत्मकल्याण में परमसहायक होने से कल्याणक भूमि कहे जाते हैं। जिस महीने या तिथि में महापुरुषों के जन्म, निर्वाणादि हुए हों वह तिथि कल्याणक तिथि कही जाती है। तपश्चर्या आदि के द्वारा उस तिथि की आराधना की जाती है। महापुरुषों के सम्बन्धित स्थानों को तीर्थ मानते हुए उन स्थानों की यात्रा करके आत्मा में शुभ भावों की वृद्धि की जाती है। उन स्थानों में रहते हुए आत्मा को विशुद्ध और निर्मलता के लक्ष्यवाले को अपने ध्येय की सिद्धि बहुत जल्दी और अधिक प्रमाण में हो सकती है। क्योंकि वहां के पुद्गुल परमाणु और वायुमंडल शांत और पवित्र होते हैं। वहां जाने पर और रहते हुए उन स्थानों से संबन्धित महापुरुषों का सहज ही स्मरण हो आता है और उनकी पूजा, भक्ति, गुणगान करने से आत्मा में अपूर्व भावोल्लास और आनन्द छा जाता है।

प्राणियों को शारीरिक अथवा मानसिक मलिनता सदा उद्भव होती

6—जिन स्वरूप पाईं जिन आराधने ते सही जिनबर होवे रे ।

ईली भूंग ने चटकाये, ते भूंगी जग जोवे रे ॥ (आनन्दधन)

7—जिन उत्तम गुण गावतां, गुण आवे जिन अंग ॥

रहती है। इस मलिनता से जड़ता के पुंज खड़े होते जाते हैं। जड़ता को दूर करने के लिए, उनसे मुक्ति पाने के लिए जीव सदा तरसता रहता है। वास्तव में मानव को शुद्धि और पवित्रता के लिए गूढ़-अगूढ़ आंतर स्वच्छता की आवश्यकता है। अतः मलिनता से स्वच्छ रहने के उपाय ढूँढ निकालने के लिए उसे सदा आनुरता बनी रहती है।

(1) शारीरिक मलिनता दो प्रकार की है। शरीरांगों की तथा आचार की। शरीरांगों की मलिनता भी दो प्रकार की है—अस्वच्छता तथा रोगादि।

(2) मानसिक मलिनता भी दो प्रकार की है—विचारों की और भावनाओं की।

दोनों प्रकार की शरीरांगों की मलिनता के कारण प्रकृति के प्रतिकूल आचरण है। इनकी स्वच्छता के लिए स्वच्छ जलवायु, मिट्टी, धूप, अग्नि लंघन और खुराकादि प्राकृतिक उपायों का सम्यक् प्रकार से सेवन करना अनिवार्य है इन उपायों से बाह्य शरीर की स्वच्छता तथा स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं और इस शारीरिक जड़ता से छुट्टी पा सकते हैं। दूसरी शारीरिक मलिनता आचार की है उसका आधार मानसिक मलिन विचारों तथा भावनाओं पर है। प्राणी के जैसे विचार और भावनाएं होंगी वैसे ही उसका आचार होगा। अर्थात् मानसिक मलिनता के प्रभाव से आचरण में मलिनता आती है। मानसिक विचार तथा भावनाएं जितनी पवित्र और शुद्ध होंगी, आचरण भी उतना ही पवित्र और शुद्ध होगा। मलिनता से बचने के लिए तथा स्वच्छता पाने के लिए मानव, पर्वत, नदी, सरोवर और समुद्र आदि की तरफ आकर्षित होता है। जहां स्वयं प्रकृति ने संसारी जीव को नहीं विगाड़ा। वहां जाने के लिए मन उत्कंठित रहता है। वहां जाकर गुलामी में से स्वतंत्रता का अनुभव होता है तथा प्रकृति के सौंदर्य से जीव को सुख एवं शांति का अनुभव होता है परन्तु मात्र प्राकृतिक दृश्य की सुन्दरता देखने से मलिनता दूर नहीं होती। पर्वत और नदियां आदि तीर्थ नहीं हो जाते। हिमालय अथवा मंसूरी आदि में प्राकृतिक सौंदर्यता देखने से मनोरंजन तो हो सकता है पर तीर्थ भावना नहीं होती। गंगा-यमुना आदि नदियों में स्नान करने से शरीरांगों की मलिनता तो दूर हो सकती है पर आचार-विचार-भावना शुद्धि आदि के लिए यह पर्याप्त नहीं हैं।

बाह्य आचारों, अभ्यंतर विचारों तथा भावनाओं की पवित्रता के लिये, कर्म-बंधन से छुटकारा पाने के लिए एवं दुःखों से मुक्त होने की भावना से ही हमारी संस्कृति में तीर्थ अथवा तीर्थयात्रा का उद्भव होना मालूम होता है। इसलिए मात्र सैर-सपाटे से, स्नानादि से और प्राकृतिक सौंदर्य देखने से तीर्थयात्रा का लाभ सम्भव नहीं है।

आचार-विचार-भावना की शुद्धि के लिये यदि तीर्थयात्रा करने का हेतु हो तो हम बाह्य और अभ्यंतर पवित्रता पाने के लिए बैरागी, त्यागी, तपस्वी परमपूज्य, ज्ञानी, ध्यानी महापुरुषों के जन्म स्थान, उनके ज्ञान दर्शन प्राप्ति स्थान, क्रीड़ास्थल,

विहार-स्थल, निर्वाण-स्थल, तपश्चर्या की भूमियां, साधनाधाम ये सब तीर्थ स्थान ही साधन बन सकते हैं। इसीलिए ऐसे स्थानों को जैनगमों में तीर्थ कहा है। ऐसे परम पवित्र स्थानों में प्रत्येक साधक यात्री की आत्मा में प्रकाश प्रकट होता है। जीवन की उच्चभूमिका प्राप्त होती है। आत्मदर्शन की झांकी होती है तथा पूर्वपुरुषों के जीवन दृश्य ऐसे किसी भी तीर्थ पर जाने से मूर्तिमान बनकर दृष्टिगोचर होते हैं। उनके आदर्श जीवन का अनुकरण करने के लिए आत्मा को प्रेरणा मिलती है। आत्मा तेजस्वी और प्रफुल्लित बनता है। मानसिक शुद्धता के साथ-साथ शारीरिक शुद्धता पाने का शुभावसर मिलता है।

शरीर नश्वर है, इसकी शुद्धि क्षणिक है। आज का मानव इस बाह्य शुद्धि एवं तड़क-भड़क के पीछे अपने आपकी, शाश्वत आत्मा की पवित्रता और शुद्धि को भूलता जा रहा है। इसलिए मानव धीरे-धीरे दानव बनता जा रहा है। आत्मिक शुद्धि के बिना शारीरिक शुद्धि की कोई महत्ता नहीं। बाह्य शुद्धि मात्र से आत्मिक शुद्धि सम्भव नहीं, आत्मिक शुद्धि से बाह्य शुद्धि स्वयमेव हो जाती है। विचार तथा भावनाएं शुद्ध होते ही बाह्य आचार शुद्धि स्वयमेव हो जाएगी। इसमें कदापि संदेह नहीं है।

मानसिक शुद्धि से ही इहलौकिक और पारलौकिक सुख सम्भव है। यहां तक कि कर्म-बन्धनों से मुक्त होकर आत्मा संसार सागर से सदा केलिए पार हो जाएगा। और जन्म-मरण के चक्र से छूट कर शाश्वत सुख और शान्ति के स्थानभूत मोक्ष प्राप्त कर लेगा। अतः मुमुक्षु आत्माओं केलिए ऐसे तीर्थस्थान ही आचार-विचार और भावना की मलिनता से पवित्रता और शुद्धता पाने केलिए अचूक साधन हैं।

दासोऽहं

साधना के क्षेत्र में महापुरुषों ने 'दासोऽहं' का गम्भीर रहस्य समझाया है। 'दासोऽहं' की तीन भूमिकाएं हैं—(1) दासोऽहं, (2) सोऽहं, (3) अहं।

बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था—ये एक ही जीवन की तीन अवस्थाएं हैं और उनका प्रादुर्भाव समयानुसार होता है। इसी प्रकार आत्मविकास की उपरोक्त तीन भूमिकाओं का भी क्रमशः प्रकटीकरण होता है। यदि एक को त्यागकर दूसरी को पकड़ने चलें तो विकासक्रम के पथ पर पत्थर डालने तुल्य हो जाता है और पीछे उससे ठोकर लगने की भी सम्भावना होती है।

गुणस्थानों के अनुसार विकासक्रम तीन भागों में बांटा जा सकता है—(1) 1 से 6 गुणस्थान प्रमत्तावस्था, (2) 7 से 10 गुणस्थान तक अप्रमत्तावस्था, (3) 11 से 14 गुणस्थान तक वीतराग अवस्था।

(1) प्रमत्त अवस्था में विकास साधना का मंत्र है—'दासोऽहं'। (2) अप्रमत्त अवस्था में 'सोऽहं' की साधना होती है एवं वीतरागत्व तो 'अहं' आराधना के फल समान ही होता है।

क्रम छोड़ देने से जैसे घागे का गोला सारा ही अस्त-व्यस्त हो जाता है और

उसमें गांठें पड़ जाती हैं, उसी प्रकार आत्मविकास की पद्धति या क्रम का विचार किए बिना यदि साधना की जाए तो सिद्धि तो दूर रही। परन्तु आत्मा किकर्तव्य विमूढ़ हो जाती है।

‘दासोऽहं’ की साधना करते हुए दासत्व-भाव की प्रधानता होती है। ‘सोऽहं’ में भावना करते हुए पुरुषार्थ की प्रधानता होती है। ‘अहं’ में भाव करते हुए समभाव की प्रधानता होती है।

जैसे बचपन में बड़ों का आधार, यौवन अवस्था में अपना स्वयं का आधार और वृद्ध अवस्था में समता का आधार जीवन को सुखी बनाता है। उसी प्रकार इस पंचमकाल में प्रमाद का प्रभाव अधिक होने से, शारीरिक बल क्षीण होने से, विषय-कषायों की प्रबलता होने से, तथा अपने सामर्थ्य की कमी होने से—‘दासोऽहं’ भाव द्वारा ही साधना सुलभ बन सकती है।

नमस्कार का भाव—यह ‘दासोऽहं’ भाव की बुनियाद है। इसलिए वर्तमान काल में नमस्कार मंत्र को बालजीवों के लिए साधना हेतु परम आधारभूत कहा गया है। शास्त्रों में तो इस महामन्त्र को कल्पवृक्ष, कामकुम्भ और चिन्तामणि रत्न से बढ़कर माना गया है।

जैसे किसी भी कठिन धातु से कोई आकृति-अलंकार बनाने के लिए पहले उसे नरम बनाना पड़ता है, तत्पश्चात् ही उस पर सुन्दर कारीगरी की जा सकती है। इसी प्रकार वज्र से अधिक कठोर मन को ‘नमः’ में परिवर्तित करने के लिए ‘दासोऽहं’ भाव अत्यन्त आवश्यक है। चन्दन स्वभाव से शीतल होता है फिर भी रगड़ने से उस में गर्मी आ जाती है। इसी प्रकार मन को दुराराध्य माना जाता है परन्तु मन को नमस्कार महामन्त्र के ‘नमः’ की रटन द्वारा परिवर्तित किया जा सकता है।

सभी दार्शनिकों, चिंतकों और विचारकों का एक ही निर्णय है कि मन की दिशा में परिवर्तन होने पर सब ऋद्धि-सिद्धियां सरलता पूर्वक हस्तगत हो जाती हैं। परन्तु मन की दिशा बदलने के लिए ‘अरिहंत भागवन्तो’ के प्रति परम प्रीति, परम भक्ति और और समर्पण वृत्ति को खूब विकसित करना पड़ेगा।

नवकारमंत्र में प्रथम पद श्री अरिहंत-वस्तुतः पंचपरमेष्ठीमय है और दूसरे पद उनकी ही पूर्वोत्तर अवस्था के प्रतीक हैं। सारी शक्तियों और सिद्धियों का इसी एक ही पद में विश्लेषण किया जा सकता है। इसलिये शास्त्रकार फरमाते हैं कि कोई सिद्धि सम्पत्ति ऐश्वर्य, लब्धि और ऋद्धि की सरलता से प्राप्ति हेतु श्री अरिहंत पद की आराधना, भक्ति आवश्यक है।

श्री अरिहंत पद को नमन, पूजन, वन्दन करने से सब पापों का नाश होता है, पुण्यानुबन्धी पुण्य की वृद्धि होती है, रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चरित्र) की सिद्धि होती है और निकाचित कर्म भी निर्बल हो जाते हैं। उनका ऐसा होना स्वभाव सिद्ध है श्री अरिहंत पद की ध्वनि के साथ ही अन्तःकरण में ऐसी छाप पड़नी

चाहिए कि—प्राणिमात्र के पूजनीय, सुरेन्द्रों के सेवनीय, योगीन्द्रों के आदरणीय, मुनीन्द्रों के माननीय और नरेन्द्रों के नमस्करणीय, ऐसे सर्वोत्कृष्ट और सार्वभौमिक, धर्मचक्राधीश्वर एवं सर्वेश्वर आप ही हैं। आप मेरे स्वामी हैं, मैं आप का सेवक हूँ। आप मेरे देव हैं, मैं आपका दास हूँ। आप मेरे प्रभु हैं, मैं आपके चरणों की धूल हूँ।

इस प्रकार स्वामी सेवक भाव का गाढ़ सम्बन्ध हो जाने से हृदय में ज्ञान की ज्योति प्रकट होती है। दासत्व भाव का अभ्यास जैसे-जैसे बढ़ता है वैसे-वैसे वीर्योत्सास भी प्रकट होता है और वीर्योत्सास की वृद्धि के साथ-साथ अप्रमत्त भाव के अध्यवसाय भी प्रकट होने लगते हैं। अन्त में आत्मा क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होती है। क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हुई आत्मा की शक्ति के बारे में शास्त्रकार फ़रमाते हैं यदि एक आत्मा के कर्म दूसरी आत्मा में संक्रमण होने का विश्व विधान होता (जो असम्भव है) तो क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ आत्मा इतनी प्रबल शक्तिशाली होती कि वह अकेली ही संसार की सब आत्माओं को कर्ममुक्त बनाकर पूर्णानन्द का भोक्ता बना देती।

ऐसी शक्ति व स्थिति 'दासोऽहं' के क्रम में से उत्तरोत्तर बढ़ते हुए 'दा' अक्षर को हटाकर 'सोऽहं' भाव में आती हुई आत्मा की होती है। पीछे 'सोऽहं के सो' का भी त्याग कर परम शुद्ध वीतराग दशा में केवल 'अहं' चिदानन्द स्वरूप भाव ही रह जाता है।

आज प्रायः देखा जाता है कि उपासना क्रम का उल्लंघन होता है और उस के स्थान पर 'सोऽहं' व 'अहं' को ही प्रधानता दी रही है, परन्तु उससे उन्माद का ही पोषण होता है। प्रमाद और उन्माद दोनों बन्धु हैं जो इस आत्मा को चारों गतियों में भटकते हैं। ऐसा कहा जा सकता है कि इस विपरीत क्रम द्वारा वे अपने मिथ्या 'सोऽहं' और 'अहं' भाव में मेरु को मस्तक से तोड़ने में प्रयत्नशील हाथी के समान चेष्टा कर रहे हैं अथवा पवन के प्रचंड वेग को हाथ की हथेली से रोकने का पुरुषार्थ कर रहे हैं। 'दासोऽहं' के क्रम का त्याग कर जिस प्रवृत्ति के लिए पुरुषार्थ किया जाता है वह एक ऐसा प्रयत्न है कि जिससे यह महान् परिश्रम से सुनार द्वारा तैयार किए गए आभूषण के ढाँचे को लोहार के हथौड़े की एक ही चोट क्षण मात्र में तोड़ डालती है। अथवा बड़ी मेहनत से किसान के खड़े किए हुए घास के ढेर को अग्नि की एक चिंगारी जलाकर राख कर देती है। उसी प्रकार उन्माद व प्रमाद का एक ही आक्रमण आराधक की चिरकाल की कमाई को क्षणों में मिट्टी में मिला देता है।

सारांश यह है कि वर्तमान दूषमकाल में छठे गुणस्थानक तक की आत्माओं के लिए मेरी अल्पमति अनुसार 'दासोऽहं' की उपासना सर्वश्रेष्ठ है 'दासोऽहं' की सार्थकता इसमें है कि स्वामी की आज्ञा को शिरोधार्य करके उसके परिपूर्ण पालन के लिए सदा प्रयत्नशील बना जावे। इस प्रकार दासोऽहं के भावपूर्वक किये गए पूजा और नमस्कार के साथ जितनी श्रद्धा समर्पण व भक्ति की वृद्धि होगी उतने ही प्रमाण में दर्शन शुद्धि (सम्यग्दर्शन की शुद्धि) की सिद्धि शीघ्रता से अनुभव होगी।

दिगम्बर तेरहपंथ की अर्वाचीन पूजा पद्धति

श्वेतांबरों और बीसपंथी दिगम्बरों की पूजा पद्धतियों का हम उल्लेख कर आये हैं अब यहां दिगम्बर तेरहपंथी तथा दिगम्बर काहनपंथियों की पूजा पद्धति का उल्लेख करेंगे। इस पंथ का प्रादुर्भाव मुगल सम्राट शाहजहां के राज्यकाल में विक्रम की सोलहवीं शती में हुआ। इसका उल्लेख हम कर चुके हैं। काहन पंथ का प्रादुर्भाव बीसवीं सदी में हुआ। ढूँढक पंथ के साधु काहन जी ने स्वपंथ का त्याग कर इस नवीन पंथ की सौराष्ट्र में स्थापना की। ये पंथ जिनेन्द्रदेव की पूजा में जल, फल, फूल, नैवेद्य पूजा को सचित होने से हिंसा मानकर निषेध करते हैं और इनके स्थान पर फूलों के बदले केसर से रंगे चावल, लवंग, फलों के स्थान पर गरी गोले के छोटे-छोटे टुकड़े, नैवेद्य के स्थान पर गरी गोले के छोटे-छोटे टुकड़ों को पीलारंग कर तथा जल के भरे कलशों से जिनेन्द्रदेव के प्रक्षाल (स्नान) को हटा कर प्रतिदिन मात्र गोले कपड़े से प्रतिमा को पोंछ कर प्रक्षाल मान लेते हैं। पर सचित वस्तुओं के प्रयोग का निषेध करने पर भी इनकी पूजा में दसलाक्षणी में, प्रतिमा की प्रतिष्ठा के समय अभिषेक महोत्सव के अवसर पर जल से भरे अनेक बड़े-बड़े कलशों से जिनेन्द्र प्रतिमा का अभिषेक तथा प्रतिदिन धूप, दीप, आरती आदि सचित द्रव्यों से पूजा का विधान चालू है। अलंकारों और आंगी पूजा से भोग, परिग्रह और आडम्बर मान कर पूजन पद्धति से एकदम बहिष्कार कर दिया। पर प्रतिष्ठा के अवसर पर पंचकल्याणक महोत्सवों का आयोजन कर तीर्थकर प्रतिमा को वस्त्रालंकारों से सुसजित करके उसकी पूजा और आरती भी करते हैं।

दीप, धूप, आरती पूजा में धूप के धुएँ तथा आरती और दीप की ज्योति से स्थावर-त्रस जीवों का प्राणवध भी होता है। पर फल, फूल, नैवेद्य पूजा में तो हिंसा इसलिए संभव नहीं कि जिनेन्द्र प्रतिमा की पूजा में उनको अपनी त्याग तथा अर्पण करने की भावना से फूलों को प्रभु चरणों पर तथा फलों को प्रभु के आगे रख दिया जाता है जिससे इन्हें पीड़ा-किलामना बिल्कुल नहीं होती। ये पंथ तीर्थकर की मात्र केवली अवस्था को ही पूज्य मानते हैं। अन्य अवस्थाओं को अपूज्य मान कर उन अवस्थाओं की पूजाओं का निषेध करते हैं। अतः मात्र नग्न प्रतिमा को वैराग्य अवस्था को पूज्य मानकर पूजा करते हैं।

पर तीर्थकर की प्रतिमा को रथ अथवा पालकी में बिठलाकर रथयात्रा (जलूस) निकालते हैं जबकि जैनसाधु, अथवा तीर्थकर संसार त्यागकर जब अणगार मुनि की दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं तब से देहावसान तक न तो कभी स्नान ही करते हैं और न ही किसी वाहन की सवारी करते हैं। स्नान और वाहन की सवारी तो गृहस्थावस्था में ही होती है।

तीर्थकर को केवलज्ञान होने के बाद सदा अष्टप्रातिहार्य होते हैं और यही केवली अवस्था की पूजा है। पर ये पंथ जिस प्रतिमा को पूज्य मानते हैं वह सर्वथा

अष्ट प्रातिहार्य से रहित होने से छद्मस्थावस्था में अणगार की ध्यानमुद्रा की है। अतः छद्मस्थ वैरागी अवस्था की प्रतिमा केवली की प्रतिमा कैसे ?

दिगम्बर मंदिरों में पार्श्वनाथ की सर्पफनवाली प्रतिमाएं भी उनकी छद्मस्थ अवस्था की केवलज्ञान होने से पहले की हैं, उन्हें भी पूज्य मानते हैं।

अब प्रश्न यह है कि यदि तीर्थंकर की जल, फल, फूल पूजा में हिंसा है तो धूप, दीप, आरती, महाभिषेक में संचित जल से पूजा में इनसे भी विशेष अधिक हिंसा होने पर भी इसका निषेध क्यों नहीं ?

यदि अलंकार आंगी पूजाओं में भोग-परिग्रह, आडम्बर है तो रथयात्रा में क्यों नहीं ? प्रतिष्ठा के अवसर पर प्रतिमा को वस्त्रालंकारों से सुसज्जित करके पूजा रथयात्रा में भोगावस्था का आरोप कैसे नहीं ?

पाठक इस विवरण को पढ़ आए होंगे। यदि न पढ़ा हो तो उस प्रकरण को पढ़कर जिज्ञासा पूरी कर लें। अतः यहाँ उसका पिष्टपेषण करने की आवश्यकता नहीं।

अपरंच प्राचीन पूजा पद्धति को सदोष बतलाकर भी और उसको बदलकर भी आश्चर्य तो यह है कि पूजा में सूखी सामग्री का प्रयोग करते हुए भी पूजा के जो पाठ बोलते हैं उन में सब संचित द्रव्यों के नाम ही आते हैं। पुष्टि के लिये इनके भी कतिपय प्रमाण देखिए—

(1) इसी पंथ के संस्थापक भैया भगवतीदास ने अपनी कृति ब्रह्मविलास में जिनप्रतिमा की फल पूजा के वर्णन में निम्नलिखित कवित कहा है—

(1) जगत जीव तिन्हें जाति के गुमानी भया ।
 ऐसो कामदेव एक जोधा जो कहायो है ॥
 ताके शर जानी यत फूलन के वृन्द बहु ।
 केतकी कमल कुंद केवरा सहायो है ॥
 मालती महामुगन्ध बेल की अनेक जाति ।
 चंपक गुलाब जिन चरणन चढ़ायो है ॥
 तेरो ही शरण जिन जोर न बसाय याको ।
 सुमन सुं पूजो तोहीं मोहे ऐसे भायो है ॥

तथा—दिगम्बर जिनवाणी संग्रह में कहा है कि—जन्माभिषेक में 108 कलशों के जल से अभिषेक करके प्रभु का शृंगारादि भी करते हैं—

सहस्र अठोत्तर कलसा प्रभु जी के सिर ढारई ।
 फुनी शृंगार प्रमुख आचार सब करई ॥1॥

(2) दीपक तथा आरती पूजा के कवित ब्रह्मविलास में—
 दीपक अनाये चहुं गति में न आवे कहूँ ।
 वत्तिक बनाये कर्मवत्ति न बनतु है ॥

आरती उतारत ही आरत सब टर जाएं ।
पाप द्विग धरें पाप पंक्ति को हरतु है ॥

×	×	×	×
×	×	×	×

वीतराग देव जु की कीजै दीपक सों चित्त लाय ।
दीपत प्रताप शिवगामी यों भनतु है ॥1॥

- (3) इसी पंथ के संस्थापक पं० बनारसी दास कृत धूप पूजा का दोहा—
पावक दहे सुगंध कूं, धूप कहावत सोय ।
खेवत धूप जिनेश कूं अष्टकर्म क्षय होय ॥1॥

(4) जिनवाणी संग्रह में शान्तिनाथ भगवान की पूजा में सचित्त फलों का वर्णन—

नारिगी-पूंगी कदली-नर-नारि केल सोअहं यजे वर फलैवंर सिद्धचक्रं ।

- (5) जिनवाणी संग्रह में शान्तिनाथ की पूजा में नैवेद्य पूजा वर्णन—

पकवान नवीने पावन कीने घटरस भीने सुखदाई ।

मनमोदनहारे छुदा निवारे आगे धरें गुण गाई ॥1॥

इस प्रकार दिगम्बर तेरहपंथ आम्नाय ने सचित्त फल-फूल आदि का जिन प्रतिमा में पूजन का निषेध करते हुए भी पूजा के पाठों में इन सचित्त द्रव्यों का स्पष्ट उल्लेख कर जिनप्रतिमा पूजन की प्राचीन पद्धति का समर्थन ही किया है । फिर भी सचित्त द्रव्यों से पूजा में पाप मानते हैं ।

- (6) तीर्थंकर की सचित्त पुष्पों से पूजा के कुछ अन्य प्रमाण—

(अ) दिगम्बरों की दर्शन कथा में पुष्प द्वारा तीर्थंकर की पूजा केलिए जाते हुए-
रास्ते में हाथी के पांव के नीचे दबकर मर जाने से मेंढक के मन में पूजा की भावना से स्वर्ग गमन का वर्णन है ।

(आ) दिगम्बर वृहत्कथा कोष में लिखा है तेर नाम की नगरी में ग्वाले के पुत्र ने दिगम्बर मुनि के आदेश से साक्षात् केवली तीर्थंकर के चरणों पर सचित्त कमल चढ़ा कर पूजा की ।

(इ) इसी प्रकार दिगम्बरों की मुकटसप्तमि की कथा में श्रावण शुक्ला सप्तमि के दिन श्री ऋषभदेव, अथवा श्री मुनिसुव्रत स्वामी अथवा श्री पाशर्वनाथ की प्रतिमा की पूजा मुकुट को पुष्पों से सजाकर पहना कर तथा पुष्पमाला को गले में पहनाकर पूजा करें ।

श्री जिनेन्द्रदेव की पूजा विधि में पार हिंसा आदि कहने वालों को दिगम्बर श्री योगेन्द्र कृत श्रावकाचारसार संग्रह, आराधनाकथाकोष आदि ग्रंथों को अवश्य देखना चाहिए । उनमें लिखा है—

श्री जिनाभिषेक में पुष्पादि से पूजा करने में, तीर्थयात्रा, जिनबिम्ब प्रतिष्ठा आदि कार्यों में जो आरम्भ समारम्भ कहता हैं, सावद्य योग कहता है, हिंसारम्भ कथन

करता है—वह मिथ्यादृष्टि, दर्शनभ्रष्ट, पापी, सम्यग्दर्शन का घातक और जिनधर्म का द्रोही है।

दोनों दिगम्बर पंथों के पूजा विधानों में अन्तर का कोष्ठक

दिगम्बर बीसपंथ

दिगम्बर तेरहपंथ

1. **अभिषेक पूजा**—प्रतिष्ठित जिन प्रतिमा की जल, दही, दूध, घी इक्षुरस, सुगंध मिश्रित जलादि से अभिषेक पूजा की जाती है।

1. प्रतिष्ठित जिनप्रतिमा को गीले कपड़े से पोंछकर अभिषेक पूजा तथा थाली में चावलों का स्वस्तिक बनाकर तीर्थकर का आह्वान करके स्थापना कर और एक कटोरी में छोटे कलश से जल धारा देकर अभिषेक पूजा करते हैं।

2. **चंदन पूजा**—चंदन केशर कर्पूर आदि सुगंध द्रव्यों के मिश्रित रस से प्रतिष्ठित मूर्ति के चरण युगल पर तिलक और विलेपन से चंदन पूजा।

2. **चंदन पूजा**—चंदनादि मिश्रित द्रव्यों के घोल से तीर्थकर की स्थापना वाली थाली में धारा देकर चंदन पूजा।

3. **पुष्प पूजा**—सचित, ताजे, सुगंधित, अखंड विकसित नाना प्रकार के पुष्पों से प्रतिष्ठित जिनप्रतिमा के चरण युगल पर चढ़ाकर पूजा तथा तीर्थकर की प्रतिमा के गले में फूलमाला पहना कर।

3. **पुष्प पूजा**—चावलों को धोकर केशर से रंग कर तथा लबंग से वनस्पति परक पुष्पों के बदले में थाली में प्रतिष्ठित स्वस्तिक पर चढ़ा कर पुष्प पूजा।

4. **धूप पूजा**—अगर, शिलारस, चंदन, घी आदि से मिश्रित धूप बत्तियों को सुलगा कर मूर्ति के सन्मुख रखना तथा दसलाक्षणी पर्व में सुगंध दसमी के दिन नगर के सब जैनमंदिरों में बड़े आडम्बर पूर्वक लोहे के तसले में आग सुलगा कर खूब अधिक धूप सुलगाकर धूप पूजा की जाती है।

4. **धूप पूजा**—बीसपंथ की पूजा के समान ही प्रतिदिन तथा सुगंध दसमी (भादो सुदि दसमी) के दिन धूप पूजा की जाती है।

5. **दीपक पूजा**—घी का दीपक जला कर प्रतिष्ठित प्रतिमा के सन्मुख रखकर दीपक पूजा की जाती है। प्रायः सायं आरती जलाकर आरती भी करके दीपक पूजा की जाती है।

5. थाली में प्रतिष्ठित स्वस्तिक के सन्मुख घी का दीपक जला कर की जाती है।

6. **अक्षत पूजा**—प्रतिष्ठित प्रतिमा के सामने स्वच्छ चावलों की पांच ढेरियां

6. **अक्षत पूजा**—थाली में प्रतिष्ठित स्वस्तिक के सामने स्वच्छ चावलों की पांच

करके की जाती है ।

7. नैवेद्य पूजा—नाना प्रकार के पकवान प्रतिष्ठित जिनप्रतिमा के सामने चढ़ाकर पूजा की जाती है । तथा दीवाली की रात को महावीर के निर्वाण के बेसन के लड्डू चढ़ाकर भी की जाती है ।

8. फल पूजा—प्रतिष्ठित जिन प्रतिमा के सामने नाना प्रकार के हरे-सूखे फल चढ़ाकर की जाती है ।

9. नृत्य-गीत-स्तुति-स्तवन पूजा—प्रतिष्ठित जिन प्रतिमा के सामने नाच-गा कर की जाती है ।

10. कुंडल मुकट आदि अलंकार पूजा—मूर्ति के मस्तक पर मुकुट को फूलों को सजाकर पहनाकर तथा गले में रत्नों फूलों की मालाएं पहनाकर तथा प्रतिमा के मस्तक पर रत्न जड़ित स्वर्ण तिलक लगाकर करने का विधान है ।

देरियां करके की जाती है ।

7. नैवेद्य पूजा—प्रतिष्ठित थाली में स्वस्तिक के ऊपर गरीगोले के टुकड़ों को चढ़ाकर की जाती है । दीवाली की रात को बीसपंथ के समान ही बेसन के लड्डू चढ़ाकर की जाती है ।

8. फल पूजा—गरीगोले के रंगे हुए छोटे-टुकड़े स्वस्तिक पर थाली में चढ़ाकर की जाती है ।

9. बीसपंथ के समान ही की जाती है ।

10. एकदम निषेध करके अलंकार पूजा नहीं की जाती है ।

11. पूजा की समाप्ति के पश्चात् थाली में स्थापित जिनेन्द्रदेव की स्थापना का विसर्जन कर दिया जाता है ।

सारांश यह है

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि श्री जिनेन्द्र देव की प्रतिमा की पूजा के श्वेतांबर जैनों तथा दिगंबर बीसपंथियों के प्राचीन विधि-विधान में पूर्णतः समानता है । उसमें प्रायः कोई मतभेद नहीं है । एवं दोनों आमनायों में पुरुषों के समान ही स्त्रियों को भी जिनप्रतिमा को स्पर्श करने तथा पूजा का भी अधिकार है ।

यह भी स्पष्ट है कि पूजन के विधि विधानों में न तो हिंसा है और न ही आडम्बर तथा न ही जिनेन्द्र देव में भोग परिग्रह का दोषारोपण की गंध ।

श्री जिनेश्वर देव की प्रतिमा पूजन में जल, पुष्प, फल, धूप, दीप आदि सचित द्रव्यों को उपयोग में लेने से प्रमाद तथा कषायादि का अभाव एवं आत्मकल्याण कर्मक्षय की भावनाओं के कारण "प्रमत्तयोगात्प्राणव्यप्रोपणं हिंसा" के लक्षण का अभाव है । आंगी-अलंकार आदि की पूजा से जिनेन्द्र देव के परिग्रह के लक्षण रूप मूर्छा परिग्रह-अर्थात्—इच्छा-वासना-मोहादि का सर्वथा अभाव है इस लिए भोग और परिग्रह का दोषारोपण करना भी अज्ञता का सूचक है । इसलिये पूजा में हिंसा, परिग्रह आडम्बर

भोग आदि का मानना जैन सिद्धांत के एक दम प्रतिकूल है ।

अतः श्री जिनेन्द्र देव की नग्न, अनग्न, अलंकृत, सर्पफण मंडित, पद्मासनासीन, अर्द्धपद्मासनासीन' खड़ी ध्यानावस्था मुद्रावाली आदि सब प्रकार की प्रतिमाएँ चाहे मंदिरों में विराजमान हों चाहे रथ-पालकी में रथयात्रा के समय विराजमान हों सब पूजनीय हैं । यदि ऐसा न माना जाय तो रथ अथवा पालकी में बैठे हुए तीर्थंकर की मुद्रा को त्यागी, बैरागी, वीतराग-केवली अवस्था की मान्यता संगत नहीं होगी । क्योंकि चाहे नग्न हो चाहे चक्रवर्ती के वेश में हो जब वह रथ, पालकी, हाथी आदि पर बैठ जावेगा तब उसे कोई भी त्यागी, बैरागी अथवा योगी नहीं कहेगा । जैसे दिगम्बर नग्न साधु को रथ, पालकी, हाथी, घोड़े, ऊँट आदि सवारी पर चढ़ाकर लिए फिरें तो उसे उस पंथ के अनुयायी भी मुनि नहीं मानेंगे और नहीं उसे त्यागी समझकर वन्दनादि करेंगे अतः सवारी पर बिठलाकर जिनप्रतिमा का जलूस निकालना छद्मास्था-वस्था (पिंडस्थ अवस्था) की भक्ति का ही प्रतीक है । वह भी त्यागावस्था से पहले गृहस्थावस्था का । यह रथयात्रा दीक्षा (तप) कल्याणक को पूज्य मानने से ही संगत बैठती है । कल्याणक शब्द का अर्थ है जो भक्त जनों के कल्याण अर्थात् मोक्ष का हेतु हो । दीक्षा कल्याणक के वरघोड़े में प्रभु चक्रवर्ती के वेश में दीक्षा लेने के लिए पालकी आदि में बैठकर घर से निष्क्रमण करते हैं ।

3. श्वेतांबर-दिगम्बर दोनों आम्नयों के साहित्य में वर्णन है कि तीर्थंकर के सभी कल्याणकों तथा तपादि के पारणे के अवसर पर पुष्पवृष्टि होती है । यदि इस में हिंसा थी तो इसका निषेध किसी भी तीर्थंकर ने तो किया होता ? परन्तु उनका निषेध न करना ही यह संकेत करता है कि पुष्पादि सचित द्रव्यों से जिनेन्द्रदेव की पूजा में हिंसा नहीं है । दिगम्बर तेरहपंथी प्रतिमापूजन में तो सचित फल, फूल, नैवेद्य (पकवान) आदि द्रव्यों को चढ़ाने का बोलते हैं पर उनके बदले में सूखे द्रव्य चढ़ा कर तीर्थंकर के मंदिर में मृषावाद (झूठ बोलने) के अपराध सेवन की जोखम मोल लेते हैं ।

4. उपर्युक्त सब विवेचन किसी व्यक्ति, पंथ अथवा संप्रदाय की आलोचना अथवा द्वेष की भावना से नहीं किया गया । मात्र सत्य वस्तु को समझने-समझाने की दृष्टि से किया है । ताकि श्री वीतराग सर्वज्ञ, तीर्थंकर भगवन्तों के शुद्ध, रागद्वेष रहित सिद्धांतों को समझकर हृदयांगम करके सत-पथ-गामी बनें । हठाग्रह, पक्षपात त्याग कर आगमानुकूल आचरण करें । अज्ञानता बेसमझी, भ्रूँति तथा दृष्टिराग वश सत्यमार्ग का अपलाप तथा उपहास न करें सब जैन धर्मानुयायियों को वीतराग केवली भगवन्तों के सत्यमार्ग का अनुयायी बनने का सौभाग्य प्राप्त हो और जैनों के दोनों मूर्तिपूजक आम्नयों में विधि-विधानों को एक रूपता हो जाने से अलौकिक एकता स्थापित हो ।

5. मतभेद तो अज्ञान अथवा राग-द्वेष से या दोनों कारणों से सम्भव है ।

तीर्थंकर भगवन्त तो बीतराग सर्वज्ञ हैं उनमें राग-द्वेष और अज्ञान का सर्वथा अभाव है। इसलिए उनके सिद्धांत त्रिकालवर्ती सत्य हैं, उनमें भिन्न-भिन्न पन्थों को पनपने का अवकाश ही नहीं है। प्रभु ने तो सब दृष्टिकोणों को सत्य सापेक्ष रूप से समझाने के लिए स्याद्वाद-अनेकान्तवाद सिद्धांत का प्रतिपादन कर सब मत-मतांतरों को एक लड़ी में पिरोने की कला सिखलाई है। परन्तु खेद का विषय तो यह है कि आज उन्हीं बीतराग सर्वज्ञ के अनुयायी होने का दम भरने वाले अलग-अलग मत मतमतांतरों संप्रदायों में बट कर उनके सत् सिद्धांतों को ओझल करके फूट के बीजों को अंकुरित कर रहे हैं।

6. जिनप्रतिमा की मान्यता, उसकी पूजापद्धति निर्दोष तथा आत्मोत्कर्ष में साधक है और तीर्थंकर भगवन्तों ने अपने प्रवचनों में मोक्ष मार्ग का इसे साधन बतलाया है, इसके विधि-विधानों का निषेध करके अथवा जिनप्रतिमा द्वारा जिनेन्द्र प्रभु की भक्ति उपासना का विरोध करके अपराधी न बनें। दृष्टिराग और राग-द्वेष के वातावरण को दूर करके सरल हृदय से सत्य मार्ग अपनावें। सब जैन संप्रदाय सत-पथ-गामी बनकर आत्मकल्याण करें। तभी वास्तविक एकता सम्भव है। यह इस लेख का उद्देश्य है।



सर्पफण सहित श्री पार्श्व नाथ प्रभु

आठवां प्रकाश

चैत्य संबंधी विशेष विवरण

चैत्य पांच प्रकार के होते हैं

चैत्यानि च (1) भक्ति, (2) मंगल, (3) निश्चाकृत, (4) अनिश्चाकृत,
(5) शाश्वत चैत्यभेदात् पंच, यतः—

“भक्तौ मंगल चेद्भ्रम निस्सकड-मनिस्सकडं चेद्दए वा वि ।

सासय चद्दअ पंचममुद्दठं जिण वरिर्वोहं ॥1॥”

तत्र नित्य पूजार्थं गृहे कारिताऽहंतप्रतिमा भक्तिचैत्यं, गृहद्वारोपरि तिर्यक्कण्ठ-
मध्यभागे घटितं मंगल चैत्यं, गच्छसत्क चैत्यनिश्चाकृतं, सर्वगच्छ साधारणं अनिश्चाकृतं,
शाश्वत चैत्यं प्रसिद्धं । उक्तं च—

“गिह-जिन-पडिमाए भत्ति चेद्दअं, उत्तरंगघडिअम्मि,

जिन-विबं मंगल चेद्दअं तिसमयन्नुणोवि त्ति ॥1॥

निस्सकडं जं गच्छसंतिअं तदिअरं अनिस्सकडं ।

सिद्धायणं चद्दयं चेद्दअ-पणगं वि निदिट्ठा ॥2॥

(धर्मसंग्रह पृ० 125)

1. भक्ति चैत्य, 2. मंगल चैत्य, 3. निश्चाकृत चैत्य, 4. अनिश्चाकृत चैत्य,
5. शाश्वत (स्वाभाविक चैत्य), इनके अतिरिक्त 6. साधमिक चैत्य भी है ।

1. भक्ति चैत्य—कोई सेठ साहूकार, रहीस, राजा, महाराजा, चक्रवर्ती अपने
अन्तःपुर, महल या मकान में अपने और अपने घरवालों के लिए नित्य दर्शन, पूजन,
भक्ति के लिए अथवा घर में रोगी आदि को जिनदेव के दर्शनों की सुलभता के लिए,
परिवार में भक्ति का वातावरण कायम रखने के लिए श्री जिनेश्वरदेव का मन्दिर
बनवाता है उसे भक्ति चैत्य कहते हैं अथवा घर चैत्यालय भी कहते हैं ।

अथवा एकांत-प्रशांत-निर्जनस्थान में गिरि गुफाओं में एकाग्रचित्त से एकांत ध्या-
नादि में आरूढ़ होने के लिए श्री जिनेन्द्रदेव का मन्दिर निर्माण कराना भक्ति चैत्य है ।

इसी कारण से पहाड़ों के शिखरों पर इलोरादि की गुफाओं में, उड़ीसा में
महाराजा खारबेल द्वारा निर्मित खण्डगिरी-उदयगिरि की गुफाओं आदि में वर्तमान
में भी उक्त चैत्यों का अस्तित्व है ।

2. मंगल चैत्य—घर के मुख्यद्वार के ऊपर श्री जिनेश्वरदेव की मूर्ति कोतर
दी जाती है अथवा बना दी जाती है । यह प्रतिमा सेवा पूजा केलिये नहीं होती, परंतु
मंगल के लिए बनायी जाती है । इसे मंगल चैत्य कहते हैं । व्यवहार प्रवृत्ति में भी स्व-
रूप जागृति बनी रहे इसलिए प्रत्येक जैन गृहस्थ इस ध्येय की अनन्य श्रद्धा भक्ति द्वारा

अपने घर के द्वार पर आलेखित अथवा कोतरी हुई या चूने, सीमीटादि से जिनप्रतिमा को बनवाता है। अथवा चायनामिट्टी की टाइलों पर बनी हुई जिनमूर्ति को लगाता है।

इससे यह अनुमान लगाना सरल हो जाता है कि यह जैन धर्मानुयायी का घर है और गली मोहल्ले से गुजरने वाले श्रद्धालू व्यक्ति से भी जिनेन्द्रदेव के दर्शनों का लाभ ले सकते हैं। यह रिवाज आज लुप्त प्रायः हो चुका है। इस से नगर में जैनों के कितने घर हैं उनकी गिनती करने में भी सुविधा रहती थी।

3. निश्चाकृत चैत्य—जिसने अपने नाम से जिनप्रतिमा या जिनमंदिर बनवाया हो उसे निश्चाकृत चैत्य कहते हैं। इसमें संघ का अथवा दूसरे व्यक्ति का अधिकार नहीं होता। इसे जिस गच्छ वाला बनवाता है, वही व्यक्ति अथवा उसी गच्छवाले जा सकते हैं अन्य नहीं।

4. अनिश्चाकृत चैत्य—जो चैत्य किसी व्यक्ति अथवा किसी अमुक गच्छ का नहीं है अर्थात् किसी की निश्चा का नहो उसे अनिश्चाकृत चैत्य कहते हैं। इसे पंचायती चैत्य (मन्दिर-देरासर) भी कहते हैं। श्री वीतराग-सर्वज्ञ तीर्थंकर को मानने वाला कोई भी व्यक्ति उसमें जाकर भक्ति-पूजा-उपासना कर सकता है।

5. शाश्वत चैत्य—उत्पत्ति विनाश रहित अनादि अनन्त काल तक विद्यमान रहने वाला चैत्य शाश्वत चैत्य कहलाता है। इसे स्वभाविक जिनमन्दिर भी कहते हैं। नन्दीश्वर द्वीप आदि में शाश्वत चैत्यों का वर्णन शास्त्रों में आता है। इन्हें अकृत्रिम चैत्य भी कहते हैं। इन मन्दिरों में चार तीर्थंकरों की प्रतिमाओं का उल्लेख मिलता है। यथा—

1. उसभ (ऋसभ), 2. चन्द्रानन, 3. वारिषेण तथा 4. वर्द्धमान नाम के चार तीर्थंकर प्रत्येक काल में अवश्य होते हैं। इसी लिए इन्हें शाश्वत कहा गया है। अनादि काल से शाश्वत प्रतिमाओं के यही नाम हैं और अनन्तकाल तक रहेंगे। यही कारण है कि अकृत्रिम स्वभाविक चैत्यों में इन्हीं चारों तीर्थंकरों के नाम वाले जिनचैत्य (प्रतिमाएँ) सदा काल विद्यमान रहती हैं।

हम लिख आए हैं कि पंचमांग भगवती सूत्र में वर्णन है कि भरतक्षेत्र से जंधाचारण, विद्याचारण आदि मुनि नन्दीश्वर द्वीप में शाश्वत (अकृत्रिम) जिनचैत्यों की वन्दना नमस्कार करने जाते हैं और वहाँ से लौटकर यहां के अशाश्वत चैत्यों को वन्दन नमस्कार करते हैं। इस प्रसंग पर जो तीन बार चेइयाई वंदति का उल्लेख हुआ है उसका स्पष्टार्थ यह है कि चारण मुनि नन्दीश्वर द्वीप के शाश्वत चैत्यों को वन्दन करके फिर यहां लौट कर अशाश्वत चैत्यों को वन्दन करते हैं। आगमों, शास्त्रों धर्म-ग्रन्थों में जहां-जहां जिनप्रतिमा या चैत्य शब्द आता है उनका तीर्थंकर प्रभु की मूर्ति ही अर्थ होता है। इसका विवेचन हम विस्तार पूर्वक पहले कर चुके हैं। रायपसेणी जीवाजीवाभिगम, जम्बुद्वीप पण्णत्ति, ठाणांग, भगवती आदि किसी भी जैनागम में

देखिये शाश्वत¹ जिनप्रतिमाओं तथा शाश्वत जिनमन्दिरों का वर्णन मिलता है। जहाँ जहाँ शाश्वत चैत्यों का वर्णन है वहाँ वहाँ इन चारों नाम वाले तीर्थंकरों की भूर्तियां हैं।

आजकल भी शाश्वत जिन भगवन्तों की प्रतिमाओं का निर्माण कराकर उनकी मन्दिरों में स्थापनाएँ तथा प्रतिष्ठायें करवाकर उनकी पूजा उपासना करते हैं। ये चैत्य अकृत्रिम, शाश्वत चैत्य नहीं हैं किन्तु कृत्रिम होने से अशाश्वत चैत्य हैं। इन्हें निश्चाकृत अथवा अनिश्चाकृत चैत्य माना जावेगा। यहाँ चारों शाश्वत नामों के तीर्थंकरों की प्रतिमायें प्रतिष्ठित होने की अपेक्षा से शाश्वत जिनचैत्य भी कहते हैं उपर्युक्त पांच प्रकार के चैत्यों का वर्णन बृहत्कल्प भाष्य, व्यवहार सूत्र, प्रवचन सारोद्धार आदि में आया है।

6. चैत्य सार्धमिक—ये चैत्य बड़ों, पिता, पितामह आदि की प्रतिमा स्थापन करने से बनता है। गुरुमंदिरों का भी इसी में समावेश होता है।

कौसी जिनप्रतिमायें पूजने योग्य हैं ?

उपर्युक्त पांच प्रकार के चैत्यों में तीन प्रकार अशाश्वत निश्चाकृत, अनिश्चाकृत, भक्तिकृत चैत्यों के दोषों का शास्त्रों में इस प्रकार वर्णन है। इन दोषों रहित जिनेन्द्र प्रतिमा (चैत्यों) को पूजने से भव्यजीवों को रत्नत्रय आदि लाभों की प्राप्ति होती है। शाश्वती जिन प्रतिमाएँ सदा निर्दोष होने से सदा सर्वदा पूजने और वन्दन करने योग्य कही हैं।

जो कृत्रिम (अशाश्वत) जिनप्रतिमा (चैत्य) है उसके कपाल, नासिका, मुख, ग्रीवा, हृदय, नाभि, गृह्य, साथल, जानु (घुटने) पिडलियां और चरण इन ग्यारह अंगों में वास्तुशास्त्र आदि ग्रंथों में वर्णन किये हुए प्रमाणवाली हों। नेत्र, कान, कंधे, हाथ और अंगुलियां आदि सब अव्यव दोष रहित हो। पर्यकासन से युक्त हो, खड़ी कायोत्सर्ग मुद्रा में विराजित हो, सर्वांगसुन्दर हो तथा विधिपूर्वक मंदिर आदि में प्रतिष्ठित हो, ऐसी प्रतिमा पूजने से सब भव्य प्राणियों को रत्नत्रय आदि लाभों की

1. पांच भरत, पांच ऐरावत इन दस क्षेत्रों में एक सर्पिणी में प्रत्येक क्षेत्र में चौबीस-चौबीस तीर्थंकर होते हैं। इस प्रकार दस क्षेत्रों में इस अवसर्पिणी काल में दस चौबीसियाँ हुईं। भूतकाल की उत्सर्पिणी में भी दसों क्षेत्रों में दस चौबीसियाँ हुईं और भविष्य की उत्सर्पिणी में भी दस चौबीसियाँ होंगी; ऐसा नियम है। इस प्रकार कुल मिलाकर तीस चौबीसियों में 720 तीर्थंकर होते हैं। इन सात सौ बीस तीर्थंकरों में उपर्युक्त चार नाम के तीर्थंकर अनादि काल से होते आये हैं और अनन्त काल तक होते रहेंगे। इसीलिए इन्हें शाश्वत जिन कहते हैं और इनकी प्रतिमाओं को शाश्वत चैत्य कहते हैं। शाश्वत, स्वभाविक अकृत्रिम जिनमंदिरों में इन्हीं चार तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ विराजमान होती हैं।

प्राप्ति होती है ।

ऊपर कहे हुए लक्षणों से रहित जिनप्रतिमा अशुभ होने से अपूजनीक होती है । ऊपर कहे हुए लक्षणों से युक्त होने पर भी यदि किसी कारण से सौ वर्ष से पहले जिनप्रतिमा दूषित हो गयी हो तो वह भी पूजनीक नहीं है ।

आधार (सिंहासन), परिकर, तथा लांछन आदि खण्डित हों तो वह प्रतिमा भी पूजनीक है ।

जो उत्तम तथा प्रामाणिक पुरुष द्वारा विधिपूर्वक चैत्य (मंदिर) आदि में प्रतिष्ठित कराई हो और कदाचित् सौ वर्ष के बाद किसी अंग से खंडित न हो जावे तो भी पूजने योग्य है । इसलिए शास्त्रों में स्पष्ट कहा है कि—

“बरिस सयाओ उड्डअं बिबं उत्तमेहि संठवियं बिमलंगु वि पूइआई तं बिबं निपफल न जाओ ॥”

परन्तु इतना विशेष है कि श्री मूलनायक की प्रतिमा मुख, नेत्र, कटिभाग आदि से खंडित हो तो सर्वथा पूजने के अयोग्य है ।

जिस प्रकार धातु तथा लेपादि की प्रतिमायें विकलांग होने से फिर ठीक सर्वांग सुन्दर करवा ली जाती हैं । वैसे पाषाण, काष्ठादि तथा रत्नमयबिबं खंडित हो जाने से पुनः ठीक नहीं हो पाते । डेडोल अंग वाली, नीची दृष्टिवाली, अधो मखवाली, भयंकर मुखवाली प्रतिमा देखने वाले को शांत भाव उत्पन्न नहीं कर सकती । तथा स्वामी का नाश, राजादि का भय, द्रव्य का नाश, एवं शोक संतापादि अशुभ का सूचन करने वाली होने से अपूजनीय कही हैं ।

यथोक्त उचित अंगवाली, शांत-सौम्य दृष्टि वाली जिनप्रतिमा, सुंदर भाव को उत्पन्न करने वाली, शांत और सौभाग्य की वृद्धि करने वाली, शुभ अर्थ को देने वाली होने से सदा पूजनीय कही है ।

घरमंदिर में गृहस्थों को कैसी प्रतिमा पूजनी चाहिए ?

उपर्युक्त दोषों से रहित, एक से ग्यारह अंगुल के नापवाली, परिकर सहित अर्थात् अष्ट प्रतिहार्य सहित, स्वर्ण, चांदी, रत्न पित्तल अथवा अष्टधातु की सर्वांग सुंदर जिनप्रतिमा गृहस्थों को घर चैत्यालय (मंदिर) में पश्चराकर पूजा भक्ति करनी चाहिए । अन्य धातु की प्रतिमा कदापि नहीं लेनी चाहिए । घर चैत्यालय में ग्यारह अंगुल तक एकी (1, 3, 5, 7, 9, 11) अंगुल वाली प्रतिमा स्थापित करनी चाहिए । परन्तु दोकी (2, 4, 6, 8, 10) अंगुल¹ की प्रतिमा स्थापित नहीं करनी चाहिए । घरमंदिर में मल्लिनाथ, नेमिनाथ (अरिष्टनेमि) तथा महावीर की प्रतिमा स्थापित नहीं करनी चाहिए । ऐसा आचार्यों का मत है ।

अपरच शास्त्र में कहा है कि—

1: विशेष जानकारी के लिए—देखें हमारी शकुनविज्ञान पुस्तक ।

“समयावलि सुत्ताओ लेवोबल कट्ठ वंत लोहाणं ।

परिकर-माण-रहियं घरम्मि न हु पूयए बिबं ॥1॥

अर्थात्—परिकर बिना उपर्युक्त मान (नाप) रहित, तथा लेपवाली, हाथी दाँत, काष्ठ, लोहेवाली, बालू, मिट्टी की एवं चित्र में चित्रित जिनप्रतिमा को गृहस्थ के घर में पूजनीक नहीं है । इस लिए पूजनी नहीं चाहिए ।

घर मंदिर की प्रतिमा के आगे बहुत सामग्री की आवश्यकता नहीं है । उत्कृष्ट शुद्ध भक्ति भाव से स्नान (अभिषेक) आदि से पूजा करनी चाहिए । त्रिकाल पूजा करे । 1. प्रातः वासक्षेप से, 2-मध्याह्न में स्नान, चंदन, पुष्प, धूप, दीप, आदि से, 3-सायं आरती, मंगलदीपक से पूजा करनी चाहिए ।

हम लिख आए हैं कि ग्यारह अंगुल से बड़ी प्रतिमा घर मंदिर में पूजनी नहीं चाहिए । ग्यारह अंगुल से अधिक नापवाली प्रतिमा तो निश्चाकृत आदि मंदिरों में ही पूजने योग्य है ।

घर मंदिर में पूजनीक जिनप्रतिमा का स्वरूप

जिनप्रतिमा का मस्तक, कपाल, कान और नाक के ऊपर बाहर निकले हुए तीन छत्रों का विस्तार होता है तथा चरणों के आगे नव ग्रह और यक्ष-यक्षिणी का होना सुखदायक है ।

प्रतिमा के पाषाण और लकड़ी की परीक्षा

1. यदि प्रतिमा का और उनके परिकर का पाषाण दागवाला हो तो अच्छा नहीं है । इसलिए पाषाण की परीक्षा करके बिना दागवाली मूर्ति का निर्माण होना चाहिए ।

2. दाग की परीक्षा—(1) निर्मल काँजी के साथ बेलवृक्ष के फल की छाल पीसकर प्रतिमा के पत्थर अथवा लकड़ी पर लेप करने से दाग प्रगट हो जाता है । (2) पत्थर अथवा लकड़ी पर उपर्युक्त लेप करने से अथवा स्वाभाविक आदि मध्य के रंग का दाग हो तो उसके भीतर खद्योत (जुगुनु) जैसा जानना । भस्म जैसा दाग हो, रेत गुड़ जैसा दाग हो तो भीतर लाल मेंढक है । आकाश वर्ण दाग हो तो पानी, कबूतर के वर्ण का मंडल हो तो छिपकली, मंजीठ जैसा दाग हो तो मेंढक, लाल वर्ण का दाग हो तो गिरगिट, पीले वर्ण का दाग हो तो गोह, कपिल वर्ण का दाग हो तो चूहा, काले वर्ण का दाग हो तो सूर्य और चित्र वर्ण का दाग हो तो बिच्छू है; ऐसा समझना चाहिए । इस प्रकार के दाग वाला पत्थर अथवा लकड़ी हो तो संतान, लक्ष्मी प्राण और राज्य का विनाश कारक है । (3) पाषाण अथवा लकड़ी में कीला, छिद्र, पोलापन, जीवों के जाले सांध (जोड़) मंडलाकार रेखा अथवा कीचड़ हो तो बड़ा दोष माना है । (4) यदि प्रतिमा के पाषाण अथवा काष्ठ में किसी भी प्रकार की रेखा दाग हो और वह अपने मूल वस्तु के रंग जैसा ही हो ती दोष नहीं है । यदि मूल वस्तु के रंग से अन्य वर्ण की हो तो बहुत दोष वाली समझना ।

(1) पत्थर अथवा लकड़ी में नंदावर्त, शेषनाग, घोड़ा, श्रीवत्स, कछुआ, शंख, स्वस्तिक, हाथी, गाय, वृषभ, (बैल) इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, छत्र, माला, ध्वजा, शिवालिंग, तोरण, हरिण, प्रासाद (महल), मन्दिर, कमल, वज्र, गरुड़ सदृश रेखा हो तथा शिवालिंग, तोरण, हरिण, प्रासाद, कमल, गरुड़, शिव, ऋषभ की जटा के सदृश्य रेखा हो तो शुभदायक है। (2) प्रतिमा के हृदय, मस्तक, कपाल, दोनों स्कन्ध (कंधे), दोनों कान, मुख, पेट, पृष्ठभाग, दोनों हाथ, दोनों पग आदि किसी अंगपर अथवा सभी अंगों पर नीले आदि रंग वाली रेखायें हों तो उस प्रतिमा को अवश्य छोड़ देना चाहिए। यदि उक्त भागों के सिवाय दूसरे अंगों पर हों तो मध्यम है। परन्तु खराब चीरा और दूषणों से रहित, स्वच्छ, चौकनी और ठंडी प्रतिमा हो तो दोषवाली नहीं है। (3) चन्द्रकांतमणि, सूर्यकांतमणि, आदि सब रत्नमणि की जाति की प्रतिमा समस्त गुणवाली है।

घर चैत्यालय में यदि काष्ठ की प्रतिमा विराजमान करनी हो तो श्रीपर्णी, चन्दन, बेल, कदम्ब, रक्त चन्दन, पयाल, गुलर अथवा शीशम इन वृक्षों की लकड़ी की प्रतिमा उत्तम है। बाकी सब प्रकार की लकड़ी वर्जनीय है। किंतु इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उपर्युक्त वृक्षों की लकड़ी वृक्ष की उत्तम शाखा से बनी हुई होनी चाहिए तथा वह वृक्ष भी उत्तम भूमि में उगा हुआ होना चाहिए।

अपवित्र स्थान में उत्पन्न होने वाले; चीरा, मसा अथवा नस आदि दोष वाले पत्थर की प्रतिमा नहीं होनी चाहिए। सर्व दोषों से रहित मज्जवूत सफेद, पीला, लाल, हरे अथवा कृष्ण वर्ण वाले पत्थर की प्रतिमा होनी चाहिए।

घर चैत्यालय में पूजने योग्य जिनप्रतिमा का स्वरूप समचतुर्भुज पद्मासन युक्त मूर्ति का स्वरूप (1) मूर्ति के दाहिने घुटने से बाएं कंधे तक (2) बायें घुटने से दायें कंधे तक (3) एक घुटने से दूसरे घुटने तक तिरछा तथा (4) पलांठी के मध्यभाग के नीचे (वस्त्र) से कपाल के केशों तक; चारों तरफ से समान माप होना चाहिये। ऐसी प्रतिमा समचतुर्भुज संस्थान वाली कही जाती है। ऐसी पर्यकासन (पद्मासन) वाली प्रतिमा शुभ कारक है।

परिकरवाली प्रतिमा तीर्थंकर की तथा बिना परिकरवाली प्रतिमा सिद्धावस्था की हैं। सिद्धावस्था की प्रतिमा धातु के सिवाय पत्थर, लेप, हाथीदांत, लकड़ी या चित्राम की बनी हो तो नहीं रखनी चाहिये।

(1) यदि प्रतिमा के नख, अंगुली, भुजा, नासिका और चरण—इन में से कोई अंग खण्डित हो जावे तो शत्रु का भय, देश का विनाश, बन्धन कारक, कुल का नाश और द्रव्य का क्षय-ये क्रमशः फल होते हैं। (2) पादपीठ, गुह्यचिन्ह और परिकर इसमें से किसी का भंग हो जाय तो क्रमशः स्वजन, बाहन और सेवक की हानि होती है। (3) छत्र, श्रीवत्स और कान, इनमें से किसी का खण्डन हो जाय तो क्रमशः लक्ष्मी, सुख और बन्धु का क्षय होता है।

(2) विकृत आकारवाली प्रतिमा भी अशुभ है। ऐसी प्रतिमा भी घर मन्दिर में नहीं रखनी चाहिये। जैसे कि—प्रतिमा टेढ़ी नासिका वाली हो तो बहुत दुःखकारक है। छोटे अवयव वाली हो तो क्षय कारक है। खराब नेत्रों वाली हो तो विनाश कारक है। छोटे मुखवाली हो तो भोग की हानिकारक है। छोटी कटिवाली आचार्य का नाशकारक है। छोटी जंघावाली हो तो पुत्र और मित्र का क्षय करती है। हीन आसन वाली हो तो ऋद्धि नाशकारक है, हाथ और चरण से हीन हो तो धन क्षयकारक है। ऊर्ध्व मुखवाली प्रतिमा धन की नाशकारक है। टेढ़ी गर्दन वाली हो तो स्वदेश का विनाश करने वाली है। अधोमुख वाली हो तो चिंता उत्पन्न कारक है। ऊंचे, नीचे मुखवाली हो तो विदेशगमन कराने वाली होती है। विषम आसनवाली व्याधिकारक है। अन्याय के धन से प्राप्त प्रतिमा दुष्काल कारक है। न्यूनाधिक अंगवाली हो तो स्वपक्ष और परपक्ष को कष्ट देने वाली होती है। प्रतिमा यदि रौद्र (भयानक) रूप वाली हो तो कराने वाले का और अधिक अंगवाली हो तो शिल्पी का विनाश करे। दुर्बल अंगवाली हो तो द्रव्य का विनाश करे। पतले उदरवाली हो तो दुर्भिक्ष करे। ऊर्ध्व मुखवाली हो तो धन का नाश करे। तिरछी दृष्टिवाली हो तो अयुजनीय रहे। अति गाढ़ दृष्टि वाली हो तो अशुभ करे। अधोदृष्टि वाली हो तो विघ्न कारक जानना।

(3) घर मंदिर (गृह चैत्यालय) पर ध्वजादण्ड नहीं चढ़ाना चाहिए।

(4) जिनप्रतिमा की स्थापना दीवाल के साथ सटाकर कदापि न करें। क्यों कि यह अशुभकारी है।

(5) प्रभु की पूजा (1) ईशान कोण (उत्तर-पूर्व दिशा की कोण), (2) पूर्व-दिशा अथवा उत्तर दिशा की तरफ़ मुख रख कर करनी चाहिए।

(6) धातु, पाषाण, रत्नों की प्रतिमाओं का अभिषेक (स्नान) चन्दन तथा पुष्पों से पूजा की जाती है। काष्ठ कपड़े अथवा कागजादि पर चित्रित मूर्ति का पानी आदि से स्नान तथा केसर चन्दन से तिलक विलेपन नहीं कराना चाहिए। इनकी अंग पूजा वासक्षेप तथा पुष्पों से करनी चाहिए। जल से स्नान कराने तथा केसरादि के तिलक से ऐसी मूर्तियां, चित्र खराब हो जाते हैं। यदि काष्ठादि की प्रतिमा का अभिषेक कराने की भावना हो तो उसे दर्पण के सामने रखकर दर्पण में पड़े प्रतिबिम्ब पर पानी डालकर स्नान करा सकते हैं।

विधिपूर्वक जिनप्रतिमा कराने वाले को लाभ

विधिपूर्वक जिनबिम्ब कराने वाले को सदा समृद्धि की वृद्धि होती है। दारिद्र्य, दुर्भाग्य, अशक्त शरीर, दुर्गति, हीनबुद्धि, अपमान, रोग और शोकादि दोष कभी नहीं होते। जिनप्रतिमा जिनेश्वर समान ही कही है।

समुद्र में भी जिनप्रतिमा के आकार वाले मत्स्य उत्पन्न होते हैं। उन मत्स्यों को देखकर दूसरे आकार वाले मत्स्य जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

घर के द्वार के सामने देवों के निवास का शुभाशुभ फल

(1) घर के द्वार के सामने जिनेश्वर प्रभु की पीठ, (2) सूर्य और महादेव की दृष्टि, (3) विष्णु की बाईं भुजा, (4) सब जगह चण्डी देवी, (5) और ब्रह्मा की चारों दिशाएं सब अशुभ कारक हैं। इसलिए इन सबको अवश्य छोड़ना चाहिए।

(6) अरिहंत (जिनेश्वर) की दृष्टि घर के सामने या दक्षिण भाग हो, तथा (7) महादेव की पीठ या बाईं भुजा हो तो बहुत कल्याणकारक है परन्तु (8) इससे विपरित हो तो बहुत दुःखकारक है। यदि (9) बीच में सदररास्ते का अन्तर हो तो दोष नहीं माना जाता।

घर पर मंदिर की ध्वजा आदि की छाया का शुभाशुभ फल

पहले और अन्तिम (चौथे) पहर को छोड़कर दूसरे और तीसरे पहर में मंदिर की ध्वजादि की छाया घर के ऊपर गिरती हो तो दुःखकारक जानना। इसलिए इस छाया को अवश्य छोड़ना चाहिए। अर्थात् दूसरे तीसरे पहर में मंदिर की ध्वजादि की छाया जिस जगह पर गिरे ऐसी जगह पर घर नहीं बनाना चाहिए।

श्वेताम्बर जैन कैसी जिनप्रतिमाओं की उपासना करते हैं ?

हम लिख आए हैं कि श्वेताम्बर जैन तीर्थंकर भगवन्तों (जिनेन्द्रदेवों) की पांच कल्याणकों, साधना, तपस्या काउस्सग मुद्राओं में नग्न, अलङ्कृत, अनग्न आदि अनेक प्रकार की जिनप्रतिमाओं को पूज्य मानते हैं। इस बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए यहां कुछ पुरातत्त्व के ऐतिहासिक प्रमाण देकर पाठकों की जानकारी में वृद्धि करेंगे।

1. मथुरा (उत्तरप्रदेश) के कंकाली टीले की खुदाई से बहुत संख्या में तीर्थंकरों की अनेक प्रकार की प्रतिमाएं मिली हैं। उन में नग्न भी हैं। उन प्रतिमाओं पर अकित लेखों से यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि वे सब प्रतिमाएं बहुत प्राचीन (ईसा पूर्व कई शताब्दियां) काल में स्थापित और प्रतिष्ठित की गई थीं। मात्र कंकाली टीले से ही नहीं अपितु सारे ब्रज प्रदेश से ऐसी प्रतिमाएं जो उस काल में श्वेताम्बर जैनों द्वारा प्रतिष्ठित की गई थीं सर्वत्र प्राप्त हो रही हैं। बिद्वानों की धारणा है कि नग्न प्रतिमाएं दिगम्बर ही मानते हैं, श्वेताम्बर जैन नहीं मानते। इसलिए जहां भी खुदाई से अथवा अन्य स्थान से नग्न तीर्थंकर की प्रतिमा प्राप्त होती है, उसे लोग यह समझने लगते हैं कि यह प्रतिमा दिगम्बर पंथ वालों की है इसलिए दिगम्बर पंथ प्राचीन काल से ही विद्यमान चला आ रहा है। ऐसा समझकर इतिहासवेत्ता जैन इतिहास से प्रायः खिल-

1. दिगम्बर पंथ वाले तीर्थंकर की मात्र नग्न प्रतिमाएं ही मानते हैं अन्य प्रकार की प्रतिमाएं मानने के सख्त विरोधी हैं तथा वर्तमान में श्वेताम्बर जैनों में भी यह मान्यता जोर पकड़ती जा रही है कि नग्न मूर्तियां श्वेताम्बर नहीं मानते। मात्र दिगम्बर मानते हैं। जो कि मिथ्या है

घाड़ करते देखे जाते हैं ।

अतः हम यहां पर यह बात स्पष्ट करेंगे कि श्वेताम्बर जैन न मात्र अलंकृतादि अनग्न प्रतिमा ही मानते हैं अपितु नग्न तीर्थंकरों की प्रतिमाएं भी मानते हैं । यथा—

(1) कंकाली टीले से प्राप्त तीर्थंकर श्री महावीर की नग्न प्रतिमा श्वेताम्बर जैन श्राविका के द्वारा करवा कर प्रतिष्ठित कराई गयी थी, उस पर अंकित लेख इस प्रकार है :—

लेख—“सिद्धं सं० 20 ग्री० 1 दि० 25 कोटियतो गणतो वाणियतो कुलतो वयरीतो साखातो सिरिकातो भत्तितो वाचकस्य आर्य संघ सिंहस्य निवर्त्तनं दत्तिलस्यवि.....लस्य कोडुबिणिय जयवालस्य देवदासस्य नागदिन्नस्य च नागदिन्नाये च मातु सराविकाये दिण्णाए दाणं ई । वर्धमान प्रतिमा ।

अर्थ—विजय ! संवत् 20, उष्णकाल का पहला महिना, मिति 25 का कौटिक गण, वाणिज कुल, वयरि शाखा, सिरिका विभाग के वाचक आर्य संघ सिंह की निवर्त्तन (प्रतिष्ठित) है । श्री वर्धमान (महावीर) प्रभू की (यह) प्रतिमा दत्तिल की बेटी वी.....ला की स्त्री, जयपाल, देवदास तथा नागदिन्न (नागदत्त की माता नागदिन्ना श्राविका ने अर्पित की) ।

आर्किआलोजिकल रिपोर्ट में इस लेख की नकल के नीचे सर कर्निघम ने एक नोट भी लिखा है, जिसका अर्थ यह है कि यह लेख जोकि सम्बत् 20 ग्रीष्म ऋतु का प्रथम महिना मिति 25 का है इस में वर्णन है कि श्री वर्धमान की प्रतिमा भेंट की, यह प्रतिमा नग्न है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह जैनों के चौबीसवें तीर्थंकर श्री वर्धमान अथवा महावीर का प्रतीक है । यह मूर्ति ई० पू० वर्ष 37 की है । अर्थात् दो हजार वर्ष प्राचीन है ।

वह असल लेख यह है—

Alexander Cunningham C. S. ने अपनी Archeological Report 'Vol III Page 31 में Plate no 6 Script no 13 Samvat 20 Jain Figure में लिखा है—This inscription which is dated in the Samvat year 20, in the first Grishma (the hot season) the 25th day records the gift of one statue of Vardhman (Pratima) an as the figure is naked. There can be no dowbt that it represents the Jain Vardhman or Mahvira the twenty fourth Ponttifs (B. C. 37)

डा० बूलहर इस लेख के विषय में लिखता है कि—

“यह संवत् इंडोसैथियन नरेशों के साथ सम्बन्ध नहीं खाता किन्तु इनके पहले के किसी राजा का संवत् प्रतीत होता है । क्योंकि इस लेख की लिपि अत्यन्त प्राचीन है ।”

हम जब श्री कल्पसूत्र की स्थविरावली को देखते हैं तो ज्ञात होता है कि

सुट्टिय (सुस्थित) नामक आचार्य ने जो महावीर के आठवें पट्टप्रभावक थे उन्होंने कोटिक नामक गण स्थापित किया था। उस गण के विभाग रूप चार शाखायें और चार कुल हुए। तीसरी शाखा वयरी थी तथा तीसरा कुल वाणिज नामक था।¹

श्री कल्पसूत्र का मागधी भाषा का पाठ यह है—

“थरेहितो णं सुट्टिय-मुप्पडिबुद्धेहितो कोडिय काकदिएहितो वग्घावच्चस्स गुत्तेहितो इत्थ णं कोडिय गणे नामं गणे निग्गए। तस्स णं इमाओ चत्तारि सहाओ, चत्तारि कुलाइ एव-माहिज्जंति। से किं तं सहाओ ? साहाओ एवमाहिज्जंति तं जहा उच्चनागरी 1. विज्जाहरी 2. वयरी 3. य मज्झिमत्त्ला य 4. कोडिय गणस्स एसा हवंति चत्तारि साहाओ ॥1॥ से तं साहाओ। से किं तं कुलाइ ? कुलाइ एवमाहिज्जंति। तं जहा-पढमित्थ बंभलिज्जं 1, विइयं नामेण वित्थलिज्जं तु 2, तइयं पुण वाणिज्जं 3, चउत्पयं (पण्हाहणय 4; 121)

(2) बंगलादेश के दिनाजपुर जिलान्तरगत सुरोहोर गांव से जैनों के प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव प्रभु की मध्यवर्ति प्रतिमा के साथ उनके चारोतरफ घेरे हुए 23 अन्य तीर्थंकरों सहित एक पाषाण की चौबीस तीर्थंकरों की प्राचीन प्रतिमा मिली है। यह प्रतिमा भी नग्न है। इसमें श्री ऋषभदेव के सिर पर केशों का जटाजूट है जिसके केश प्रभु के कंधों पर लटक रहे हैं। तथा प्रभामण्डल (भामण्डल), पुष्पाहारों के साथ इन्द्रों की जोड़ियां, तीन छत्र, विभिन्न प्रकार के बाजे गाजों के साथ प्राप्त हुई है। यह प्रतिमा भी श्वेतांबर जैनों की है।

यह प्रतिमा वीरेन्द्र अनुसंधान सोसाइटी को प्राप्त हुई है। जो कि ईसा पूर्व काल की है। इस मूर्ति के विषय में बंगाली विद्वान विनोदलाल पाल लिखता है कि यह मूर्ति निर्माण विज्ञान की दृष्टिकोण से बहुत ही चित्तरंजक तथा विशेष ज्ञातव्य है। यह मूर्ति कई हालतों में पालवंश की बैठी हुई बौद्ध मूर्ति से मिलती-जुलती है। सभानाथ (मूलनायक श्री ऋषभदेव) की पूर्णध्यानावस्था में बैठी हुई इर्द-गिर्द घेरे हुए अन्य 23 तीर्थंकरों की मूर्तियां बड़ी अलौकिक प्रतीत होती हैं।

अब इस प्रतिमा के विषय में भी विचार करें :—

(अ) यह सभानाथ की नग्नमूर्ति जैनों के प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव की है श्वेतांबर जैनों के श्री कल्पसूत्र आगम तथा अन्य ग्रन्थों में वर्णन है कि जब श्री ऋषभदेव ने दीक्षा ग्रहण की थी तब उन्होंने चारमुष्टि लोच करके अपने सिर पर पांचवीं

1. मथुरा आदि ब्रजदेश के सर्वक्षेत्र में जो जिन प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं उन पर इसी प्रकार अनेक गणों, शाखाओं, कुलों के अनुयायी जैनों द्वारा प्रतिष्ठा कराने के उल्लेख हैं। ये सब लेख श्री कल्पसूत्र की स्वविरावली में आये हुए गणों शाखाओं और कुलों के हैं। अतः यह सब प्रतिमाएं श्वेतांबर जैनों द्वारा निर्मित, स्थापित, प्रतिष्ठित की गयी है। यहां पर तो उदाहरण रूप लेख रूप है।

मुष्टि के शेष केश इन्द्र की प्रार्थना पर रहने दिए। यथा—

“यावत् आत्मबन्धं चतुर्थे मौष्टिक लोचं करोति, चतुस्रिमुष्टिभिर्लोचैः कृते सति अविशिष्टां एकां मुष्टिं सुवर्ण वर्णयोः स्कंधयोपरि लुढंति कनक-कलसोपरि विराजमानानो नीलकमलमिव विलोक्य हृष्टचित्तस्य शक्रस्य आग्रहेण रक्षत्वान् ॥”

(कल्प० गा० 50-51)

इससे स्पष्ट है कि इस चौबीसी प्रतिमा के बीच में बैठी प्रतिमा सिर पर जटा-जूट केश और कंधों पर लटकते हुए केशों वाली श्री ऋषभदेव की प्रतिमा है (देखें चित्र नं० 3 पृ० 83) जो कि श्वेताम्बर जैनों की मान्यता वाली है। परन्तु दिगम्बर पंथी मानते हैं कि श्री वृषभदेव ने पंचमुष्टि लोच करके दीक्षा ग्रहण की थी, इसलिए उनके सिर पर केशों का सर्वथा अभाव था। उसका वर्णन इस प्रकार है। यथा :—

“ततः पूर्वमुखं स्थित्वा कृतसिद्ध नमस्क्रियः।

केशानलुचं बद्ध पल्यङ्गः पंचमुष्टिकम् ॥200॥

सिलुच्य बहु मोहाग्रवल्लरीः केशवल्लरीः।

जात रूपधरो धीरो जैनीं दीक्षामुपाददे ॥201॥

(दिगम्बर जिनसेनाचार्मकृत आदिपुराण पर्व 17)

अर्थात्-तदन्तर भगवान् (श्री ऋषभदेव) पूर्वदिशा की ओर मुंह कर पद्मासन से विराजमान हुए और सिद्ध परमात्मा को नमस्कार करके पंचमुष्टि केशलोच किया (उसके दाढ़ी, मूँछ और सिर पर एक भी केश बाकी न रहा)। धीर भगवान् ने मोहनीयकर्म की मुख्यलताओं के समान केशरूपी लताओं को लोच कर यथाजात अवस्था को धारण कर जिनदीक्षा धारण की।

(आ) इस प्रतिमा पर पुष्पाहार (पुष्पवृष्टि) बाजे-गाजे देव-दुन्दुभि, प्रभामण्डल (भामंडल), सिंहासन, छत्रत्रय आदि अष्टप्रातिहार्य हैं जो वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकर के केवलज्ञान से लेकर निर्वाण पाने से पहले तक रहते हैं। अतः यह प्रतिमा केवलज्ञानी तीर्थंकर अवस्था की है। दिगम्बर पन्थ की मान्यता की जिनप्रतिमायें अष्टप्रातिहार्य रहित होती हैं। इसलिये उनकी मान्यता के प्रतिकूल हैं और श्वेताम्बर जैन अष्टप्रातिहार्य सहित जिनन्द्रदेव की प्रतिमायें भी मानते हैं। अतः इससे भी स्पष्ट है कि यह श्वेताम्बर जैनों की प्रतिमा है।

(इ) श्वेताम्बर जैनों की मान्यता है कि तीर्थंकर जब दीक्षा लेते हैं तब उनको इन्द्र एक देवदूष्य वस्त्र देता है जो बाद में गिर जाने के बाद वे नग्न रहते हैं। इसका वर्णन श्री कल्पसूत्र में इस प्रकार है—

“प्रथमान्तिम जिनयोः शक्रोपनीतं देवदूष्यापगमे सर्वदा अचेलकत्वम्।

(कल्पसूत्र सुबोधिका व्या० 1 पृ० 1)

“चतुर्विंशतेरपि तेषां (जिनानां) देवेन्द्रोपनीतं देवदूष्यापगमे तदभादादेव अचे-लकत्वं।” (कल्पसूत्र किरणावली व्याख्यान 1 पृष्ठ 1)

अर्थात्—जब तीर्थंकर प्रभु दीक्षा ग्रहण करते हैं तब शक्रेन्द्र उनको वस्त्र देता है जो वे धारण करते हैं। वह देवदूष्य वस्त्र प्रथम तथा अन्तिम तीर्थंकरों के (एक वर्ष से कुछ अधिक समय तक रहकर) गिर जाने से पश्चात् वे नग्न रहे।

तथा चौबिस तीर्थंकरों का देवेन्द्र द्वारा दिया हुआ वस्त्र गिर जाने से पश्चात् वे नग्न रहे।

(3) एक घातु की प्राचीन नग्न खड़ी ध्यानावस्था में सिर पर जटाजूट वाली और कंधों पर लटकते केशों वाली कटक (उड़ीसा) से प्राप्त हुई है। यह प्रतिमा भी प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव की है। जो वहां इंडियन म्युजियम में सुरक्षित है। (देखें चित्र नं० 6 पृ० 84)

(4) इस बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए यहां पर एक और प्राचीन प्रतिमा का परिचय देते हैं। (देखें चित्र नं० 2 पृ० 83) यह मूर्ति पद्मासन में बीचो-बीच बैठी काउसग्य मुद्रा में कंधों पर लटकते बालों वाली है। इस के दायें बायें तीर्थंकर की एक-एक मूर्ति काउसग्य मुद्रा में खड़ी नग्न हैं। इन के नीचे दो साधुओं की मूर्तियां हैं जो आमने-सामने बैठे हैं और उनके बीच में स्थापनाचार्य रखे हैं। एक तरफ के साधु के हाथ में मुखवस्त्रिका है तथा दूसरी तरफ के एक साधु अपने हाथों से मुख-वस्त्रिका की पड़लेहना कर रहा दिखलाई दे रहा है।

(अ) इस प्रतिमा में हाथ में लिये हुए मुखवस्त्रिका वाले दो साधुओं की मूर्तियों से स्पष्ट है कि ये दोनों श्वेताम्बर जैन साधु हैं।

(आ) क्योंकि दिगम्बर साधु अपने पास मुखवस्त्रिका नहीं रखते। इसलिए यह प्रतिमा दिगम्बर पंथियों की नहीं है।

(इ) अतः इससे यह भी स्वयं सिद्ध हो जाता है कि आज कल जो अपने आप को जैन कहने वाले साधु अपने मुख पर चौबीस घंटे मुखवस्त्रिका बांधे रहते हैं और अपने आपको प्राचीन श्वेताम्बर मानने का दावा करते हैं। वे प्राचीन श्वेताम्बर जैन परम्परा से नहीं हैं। जो साधु मुखवस्त्रिका मुख पर न बांधकर बोलते समय अपने हाथ में लेकर मुखवस्त्रिका को मुख पर रख कर बोलते हैं। वास्तव में वही श्वेताम्बर जैन धर्म के अनुयायी प्राचीनतम परम्परा से हैं।

(देखें चित्र नं० 2 पृ० 83) (यह प्रतिमा देवगढ़ किले के मंदिर नं० 4 में है)

(5) दिगम्बरी तीर्थंकरों की मात्र नग्न प्रतिमाएं बन्द आंखों वाली, अष्ट प्रतिहार्य रहित, तथा 'उनके सिर तथा दाढ़ी मूँछ के केशों रहित अथवा काली कीकी के बिना आंखों वाली मानते हैं।

(आ) किन्तु श्वेतांबर जैन तीर्थंकर की नगनावस्था तथा अनग्न अवस्था वाली दोनों प्रकार की मानते हैं। क्योंकि उनकी मान्यता के अनुसार तीर्थंकर की दोनों अवस्थाएं होती हैं। इस बात का हम देवदूष्यवस्त्र ग्रहण तथा पश्चात् उसके गिर जाने पर नग्न अवस्था का स्पष्ट वर्णन कर आये हैं।

(इ) क्योंकि श्री ऋषभदेव की जटाजूट तथा कंधों पर लटकते हुए केशों की मान्यता श्वेताम्बरों की है पर दिगम्बर इसे स्वीकार नहीं करते। (देखें चित्र नं० 6 पृष्ठ 84)

(ई) अष्टप्रतिहार्य तीर्थंकर की प्रतिमा में विद्यमान होने से दिगम्बर उसे शृंगार मानकर मानने से इनकार करते हैं तथा श्वेताम्बर जैन इन्हें केवलज्ञानी तीर्थंकर के बारह गुणों में स्वीकार करके पूज्य मानते हैं।

अतः उपर्युक्त नं० 1, 2, 3, 6 वाली तीर्थंकरों की प्रतिमा नग्न होने पर भी जटाजूट वाली, अष्टप्रतिहार्य वाली तथा मुखवस्त्रिका वाले साधुओं के सहित होने से एवं उन प्रतिमाओं पर अंकित लेखों से स्पष्ट है कि ये श्वेताम्बर जैनों की है। दिगम्बर पन्थ की मान्यता का उनसे कोई मेल नहीं है और ये प्रतिमाएं इतनी प्राचीन हैं जब दिगम्बर पन्थ का सद्भाव भी नहीं था।

हम लिख आये हैं कि श्वेताम्बर जैन नग्न और अनग्न, अलंकृत आदि अनेक प्रकार की तीर्थंकर प्रतिमाओं को मानते हैं (देखें चित्र नं० 1 से 8 पृ० 83, 84) परन्तु दिगम्बर मात्र नग्न प्रतिमाएं ही मानते हैं। उपर्युक्त विवरण में हम नग्न प्रतिमाके विषय में स्पष्टिकरण कर आये हैं। अब श्वेताम्बर जैनों द्वारा अन्य प्रकार की प्रतिमाओं की मान्यता का स्पष्टिकरण करते हैं।

(6) श्वेताम्बर जैन तीर्थंकरों की पांच कल्याणकों वाली प्रतिमा को भी मानते हैं। ये च्यवन, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान तथा निर्वाण पांचों कल्याणकों वाली एक प्रतिमा भी होती है और एक-एक कल्याणक वाली अलग-अलग प्रतिमाएं भी होती हैं। इन मूर्तियों में (1) च्यवन (गर्भ) कल्याणक के चिह्न रूप गर्भावस्था में इन की माता को आने वाले स्वप्न अंकित होते हैं। (2) जन्म कल्याणक रूप अभिषेक कराने के चिह्न अंकित होते हैं। (3) दीक्षा (तप) कल्याणक रूप मूर्ति के केशलुंचन वाली तीर्थंकर की मूर्ति होती है। (4) केवलज्ञान कल्याणक रूप आठ प्रातिहार्यों के चिह्न अंकित होते हैं और (5) निर्वाण कल्याणक रूप प्रतिमा में तीर्थंकर की ध्यानस्थ शैलीकरण वाली मुद्रा होती है।

(7) तीर्थंकरों की अलंकृत प्रतिमाएं भी श्वेताम्बर जैन मानते हैं। ये मूर्तियां जीवितस्वामि की कही जाती हैं। ऐसी अत्यन्त प्राचीन प्रतिमा भी भूगर्भ से पुरातत्त्व विभाग को मिली हैं। यहां पर ऐसी एक प्राचीन प्रतिमा का परिचय देते हैं।

श्वेताम्बर जैनों के मान्य आवश्यक चूर्णि, निशीथ चूर्णि, वसुदेव हिंडी एवं कल्प सूत्र टीका आदि में जीवितस्वामी की मूर्ति निर्माण के तथा उसकी पूजा अर्चा के वर्णन पाए जाते हैं। इसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—(देखें चित्र नं० 5 पृ० 84)

विद्युन्माखी देव ने सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए महाहिमवान नामक पर्वत से उत्तम जाति के चन्दन की गृहस्थावस्था में काउसग ध्यानमुद्रा में स्थित भावसाधु श्री भगवान महावीर की कुंडल मुकुट आदि अलंकारों से अंकित मूर्ति का निर्माण कर

प्रभु पार्श्वनाथ सन्तानीय श्री कपिल केवली से प्रतिष्ठा करवाकर उस प्रतिमा का कल्प-वृक्ष की पुष्पमालाओं से पूजन कर चन्दन की पेटी में बन्द कर दिया और उस पर यह लिखकर कि 'यह देवाधिदेव की प्रतिमा है, जो देवाधिदेव की स्तुति पूर्वक इस पेटी को खोलगा वह इसे प्राप्त कर पायेगा।' उसे सिन्धु नदी में जाते हुए एक जलपोत (जहाज़) में (आकाश मण्डल से) डाल दिया। जब यह जहाज़ सिन्धु सौवीर देश के महाराजा उदयन की राजधानी वीतभयपत्तन में पहुँचा तब उस पेटी को नदी तट पर उतार दिया। तब महाराजा उदयन की पटरानी प्रभावती जो महावीर के मामा राजा चेटक की पुत्री तथा जैनधर्म की दृढ़ श्रद्धावान श्राविका थी। वहाँ आकर देवाधिदेव की स्तुति करके उस पेटी को खोला और उस प्रतिमा को लेकर मंदिर का निर्माण कराकर उसमें स्थापन किया और तीनों समय उस प्रतिमा की भक्ति भाव से पूजा अर्चा करने लगी। ऐसी अलंकृत प्रतिमा में तीर्थकरों की तीन अवस्थाओं का समावेश होता है। 1-जन्म कल्याणक के अवसर पर इन्द्रों द्वारा मेरुपर्वत पर जन्माभिषेक के बाद बालक तीर्थकर को वस्त्रालंकारों से सुसज्जित करना। 2-गृहस्थावस्था में भाव मुनि अवस्था में कायोत्सर्ग मुद्रा में तथा 3-दीक्षा लेने के लिए घर से प्रयाण करते समय शिविका में विराजमान समम के अलंकारों के चिन्ह अंकित होते हैं। बालक तीर्थकर में, भाव मुनि की अवस्था में, तथा दीक्षा के वरघोड़े के समय-इन तीनों अवस्थाओं में तीर्थकर में इस अलंकृत वेशभूषा में आसक्ति का सर्वथा अभाव होने से उन पर भोग तथा परिग्रह का आरोप करना बेसमझी के सिवाय और कुछ नहीं। हम पहले लिख आये हैं कि तीर्थकर की प्रतिमा को रथादि में विराजमान करना अथवा स्वर्णसिंहासन, छत्रत्रय आदि अष्टपरिहार्य होने पर भी जैसे तीर्थकर निष्परीग्रही हैं वैसे ही जीवितस्वामी की प्रतिमा अलंकृत होने पर भी सर्वथा निष्पारिग्रही है। इन सब अवस्थाओं में मूर्छा का अभाव होने से। इत्यादि और भी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं की अनेक प्रकार की जिन प्रतिमाएँ हैं।

8. जिन का परिचय सूर्यवंशी क्षत्रीय लामचीदास¹ गोलालारे जैनी ने अपनी कैलाश यात्रा के वर्णन में किया है। यह व्यक्ति संवत् 1806 से भूटान देश से कैलाश की यात्रा के लिए चला। नेपाल, ब्रह्मा, चीन, कोचीन, तिब्बत आदि से होते हुए मान-सरोवर पर पहुँचा और देव की साहयता से कैलाश तीर्थ पर चढ़कर यात्रा की। इस यात्रा में रास्ते के अनेक नगरों का परिचय देते हुए वहाँ के जिनमन्दरों तथा जिन-प्रतिमाओं का वर्णन किया है। जिस का संक्षिप्त परिचय यहाँ देते हैं।

9. कोचीन मुल्क में कहीं-कहीं अमेढना जाति के जैनी हैं जो तीर्थकर की प्रतिमा सिद्ध आकार की मानते हैं। ये प्रतिमायें निर्वाण कल्याणक की है।

10. चीन देश के ढांकुल नगर को घेरे हुए 18 कोस का कोट है। यहाँ का राजा तथा प्रजा सब जैनधर्म को मानते हैं। वे सब अवधिज्ञान अवस्था की जिन

1. इस विषय की विस्तृत जानकारी के लिए देखें हमारा जैन इतिहास का ग्रंथ—मध्य एशिया और पंजाब में जैन धर्म।

प्रतिमायें पूजते हैं। [गृहस्थावस्था में तीर्थंकर अवधिज्ञानी होते हैं।] कहीं-कहीं इस देश में बौद्धमती भी है।

11. चीन देश के अनेक नगरों में आठ जातियों के जैनी हैं। अकेले पेकिन शहर में तीन सौ घर जैनों के हैं। जिनमन्दिर शिखरबद्ध हैं वे भी जड़ाउ जड़े है जिनप्रतिमायें खड़े योग की तथा पद्मासन की हैं। उनका एक हाथ सिर पर लोच कर रहा है। [दीक्षा कल्याणक की जिनप्रतिमायें]। इन मन्दिरों में स्वर्णमयी चित्राम हो रहा है। छत्र हरे पन्ने तथा मोतियों के डब्बेदार हैं। स्वर्ण चाँदी के कल्पवृक्ष-अशोकवृक्ष बन रहे हैं। मन्दिरों में वन रचना बहुत है क्योंकि वे दीक्षा समय के पूजक हैं। आगम चीन की बोलचाल और लिपि में है।

12. तातार देश के सागर नगर में पातके और धंधेलवाल जाति के जैनी है। यहां के जैनमन्दिरों में जिनबिब बड़े मनोहर हैं। सब बिबों के दोनों हाथ उठे हुए हैं। यहां के जैनी कहते हैं कि वे धर्मदातार हैं। दोनों हाथ उठा कर भव्य जीवों को धर्मोपदेश दे रहे हैं। धंधेलवाल जैनी कहते हैं कि ये तीनलोक ते ईश्वर हैं, दोनों हाथ उठाकर समवसरण में भव्यजीवों में प्रतिबोध दे रहे हैं।

13. छोटी तिब्बत में वाधानारे जैनियों के आठ हजार घर हैं। दो हजार जैन मन्दिर हैं। इन मन्दिरों में अरिहंत की माता के बिब हैं इन मन्दिरों की छतों में रत्न-वरसेन के चिन्ह हैं। स्वर्णों के चित्राम भी हो रहे हैं। फूलों की शय्या हो रही है। गर्भ (च्यवन) कल्याणक पूजते हैं।

14. इस छोटी तिब्बत में एरूल नगर है। इस देश में जैनी राजा राज्य करता है। इस नगर में नदी के किनारे पर हज्जारों जैन मन्दिर है यहां जेठ बदि 14 को बड़ी धूमधाम से महोत्सव होता है। इसी नदी के किनारे पर संगमरमर का सुनहरी काम-दार जड़ाऊ 50 गज ऊंचा एक मेरु पर्वत हैं। उसके पूर्व-पश्चिम में महाविदेह के आकार बन रहे हैं। उनमें बहुत सुन्दर छोटी-छोटी नदियां बन रही हैं। जिनप्रतिमायें बहुत छोटे-छोटे आकार की हैं। मुट्ठी बांधे जन्म समय की हैं। यहां के जैनी जन्मावस्था का पूजन करते हैं। उन मेलों में भगवान की प्रतिमा एक मनुष्य आभूषण मुकुट पहने इन्द्र का रूप धारण करके प्रातः समय उस मेरुपर्वत पर ले जाता है और उसके साथ नगर के सारे नर-नारी मिलकर मेरु पर चढ़कर 1008 जल के कलशों से प्रतिमा को स्नान कराते हैं। तीर्थंकर प्रभु की प्रतिमा को रथ में बिठला कर पांच दिनों तक बड़ी धूमधाम से महोत्सव मनाते हैं। फिर प्रतिमा को रथ में साथ लेकर नगर में वापिस आते हैं।

15. इसी देश में सोहना जाति के जैन हैं। ये राज्यविभूति वाली जिन प्रतिमाओं को पूजते हैं। इनकी प्रतिमाओं के सिर पर मुकुट विराजमान होते हैं। अलंकारों से अलंकृत होती है। ये राज्यविभूति (दीक्षा से पहले की अवस्था) में मानते हैं। राज्य विभूति और जन्म समय की मान्यता वालों में कोई विशेष भेद नहीं है और न कोई विरोध है। दोनों उत्सव एक हो जाते हैं। (जन्म, दीक्षा कल्याणक के उत्सव-होने से)।

16. मानसरोवर के किनारे पर सिलवन नगर है। यहाँ 104 शिरबद्ध जैन मंदिर हैं। रत्नों से जड़ित महामनोज्ञ हैं। उनके आगम दीक्षा समय के पूजन का समर्थन करते हैं। इस वन में जैनमंदिर लगभग तीस हजार होंगे। उनमें 52 चैत्यालय नन्दीश्वर द्वीप की तकल बन रहे हैं। यह सुहावना वन सरोवर की उत्तर दिशा में है। इस वन में जंगली जीवों का बहुत भय है। यहाँ नन्दीश्वर द्वीप के 52 चैत्यालयों का बहुत मेला भरता है। परन्तु जीवों का भय रहता है।

17. तिब्बत चीन की सीमा पर दक्षिण दिशा की ओर हनुवर देश में दस-दस पन्द्रह-पन्द्रह कोस पर जैनों के कई नगर और मन्दिर हैं।

18. हनुवर देश के उत्तर सिरे पर धर्माच नामक नगर है। इस नगर की उत्तर की ओर एक दीर्घवन है। उस वन में बहुत संख्या में जैनमन्दिर हैं। यहाँ के राजा-प्रजा सब जैनी हैं। यहाँ के राजा प्रजा सूर्यवंशी, चन्द्रवंशी क्षत्रीय हैं। इस नगर में 1500 घर जैनों के हैं अनेक जैनमन्दिर रत्न जड़ित महाशिखरबद्ध हैं।¹ इत्यादि

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्राचीन काल से ही जैन लोग अनेक अवस्थाओं की जिनप्रतिमाओं की बन्दना, पूजा, उपासना करते रहे हैं और इससे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि प्राचीन जैन परम्परा से अलग होकर जब दिगम्बर पंथ की स्थापना कुंदकुंदाचार्य ने की तब मात्र तीर्थंकर की नग्न मूर्ति के सिवाय अन्य प्रकार की जैनप्रतिमाओं की पूजा उपासना का निषेध किया। परन्तु प्राचीन जैन परम्परा जो आज श्वेतांबर जैन परम्परा के नाम से प्रसिद्ध है उसमें आज तक उपर्युक्त सब प्रकार की जिनप्रतिमाओं की उपासना अर्चा चालू है। अतः ये सब प्रतिमाएँ श्वेतांबर जैन अम्नाय की होने से श्वेतांबर जैन अम्नाय स्वतः विश्व व्यापक और प्राचीन सिद्ध हो जाती है।

मौर्य सम्राट अशोक के पौत्र सम्राट संप्रति ने धर्मगुरु श्वेतांबर जैनाचार्य आर्य सुहस्ती के उपदेश से अपने राज्य काल में अनेक गृहस्थ जैन विद्वानों को भारत के बाहर के देशों में भी जैनधर्म के प्रचार और प्रसार के लिए जैन साधु के वेष में भेजा था ऐसा जैनसाहित्य में वर्णन मिलता है। उन देशों में लामचीदास की यात्रा वाले देश भी सम्मिलित थे। इस सम्राट ने चीन पर चढ़ाई की थी, और उसका बहुत बड़ा भाग हथिया भी लिया था। कहते हैं कि इसी सम्राट के भय से चीन को अपने बचे हुए क्षेत्र को बचाने के लिए बहुत बड़ी दीवार का निर्माण करना पड़ा था। सम्राट संप्रति ने अपने अधीन नरेशों को यही आदेश दिया था कि 'यदि वे मेरी कृपादृष्टि चाहते हैं तो अपने अपने राज्य में जैनधर्म के मंदिरों का निर्माण तथा जैनपर्वों को महामहोत्सव के रूप में राज्य की ओर से करने कराने की व्यवस्था करें। सम्राट को आप लोगों से

1. लामचीदास ने यह यात्रा 22 वर्षों में पूरी की। वे पैदल 9864 कोस चले। यह यात्रा विक्रम संवत् 1806 से 1828 तक पूरी की। उन्होंने इस यात्रा के विवरण की 104 प्रतियाँ लिखकर भिन्न भिन्न जैन भण्डारों में दी। इनमें उन्होंने लिखा है कि मैंने देव की साहयता ले कैलाश की यात्रा की।

घन नहीं चाहिए। क्योंकि मेरे पास जितना है उस से मुझे सन्तोष है। परिणाम स्वरूप चीन, यूनान, तुर्कस्तान आदि सब विदेशों में भी जैनधर्म का सर्वव्यापक प्रचार और प्रसार हुआ। इसलिए आज कल विद्वानों में जो प्रायः यह धारणा है कि भारत से बाहर के देशों से जैनधर्म ने प्रचार नहीं पाया। यह मान्यता लामचीदास की यात्रा के आंखों देखे विवरण से भ्रान्त सिद्ध करदेती है।

परन्तु उसके बाद दो सौ वर्षों में ही उन देशों में जैन राजाओं, जैनों तथा जैन मंदिरों, शास्त्रों आदि संस्थाओं का एकदम अभाव हो जाना और इतिहासकारों का इसके कारणों की खोज के लिए लक्ष्य न होना बड़े खेद की बात है। लगभग इतिहास-बेत्ता अपना एक निश्चय मत यह बना बैठे देखे जाते हैं कि भारत के बाहर जैनधर्म का प्रचार और प्रसार मानना सर्वथा अनुचित है। उनकी ऐसी अनास्था पर आश्चर्य होता है।

यह एक अनुसंधान का विषय है। यदि इतिहासकार इन देशों की यात्रा करके इस विषय पर शोध-खोज करें तो जैन इतिहास में एक नया अध्याय जुड़ सकता है। शासनेश से प्रार्थना है कि जैनों का इस ओर लक्ष्य जाग्रत हो, व्यर्थ के अडम्बरों, साम्प्रदायिक वैमनस्यों, तीर्थों के झगड़ों आदि से मुक्त होकर इन झगड़ों में व्यर्थ जाते हुए घन को बचाकर संगठित रूप से दृष्टिराग का त्यागकर भारत और अन्य देशों में यत्र-तत्र-सर्वत्र बिखरी पड़ी हुई पुरातत्त्व सामग्री की शोध खोज में एक जुट होकर जैनधर्म के प्राचीन और वर्तमान इतिहास की खोज में अपनी लक्ष्मी का सद उपयोग करें। समझदारों, धर्मानुरागियों के लिए इशारा ही काफी है। अधिक क्या लिखें।

तीर्थभूमि

जिन नगरों, देशों में तीर्थंकर प्रभु, जन्मे वाल्यकाल व्यतीत किया, दीक्षित हुए, तप-ध्यान किया, विचरे, केवलज्ञान प्राप्त किया, धर्मोपदेश दिया, भव्य प्राणियों को प्रतिबोधित कर गणधर साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप तीर्थ संघ की स्थापना की, निर्वाण प्राप्त किया, वे तीर्थंकर स्थान हैं। शास्त्रों में कहा है कि वे ग्राम, नगर, देश, धन्य हैं जहां तीर्थंकर भगवन्तों ने जन्म, दीक्षा, तप, केवलज्ञान तथा निर्वाण प्राप्त किया है, वहाँ की धूल भी मस्तक पर चढ़ाने के योग्य हों गई।

आप लोग गुरु के चरणों को हाथ लगाते हैं। क्या घरा है वहाँ? यही न कि उनके पैरों में लगी हुई धूल को पवित्र मानकर, उसे लेकर अपने माथे पर मसलते हो। तो फिर तीर्थंकर भगवान जहाँ विचरें, धूमें फिरें हों, वहाँ की रज पवित्र क्यों नहीं? अतः जहाँ प्रभु धूमे-फिरे, बैठे-उठे वे सभी तीर्थ हैं।

तीर्थभूमि की यात्रा से लाभ

प्रथमांग श्री आचारांग सूत्र की निर्युक्ति में चतुर्दश पूर्वधर श्रुतकेवली श्री भद्रबाहुस्वामी फरमाते हैं कि—तीर्थंकर, प्रवचनाचार्य आदि युगप्रधान, अतिशय ऋद्धिमंत, केवलज्ञानी मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, चतुर्दशपूर्वधर तथा आमर्षोषघादि ऋद्धिवालों. आदि के सन्मुख जाना, नमस्कार करना, दर्शनकरना, गुणोत्कीर्तन करना इत्यादि दर्शन भावना है। निरन्तर इस दर्शन भावना से दर्शन (सम्यक्त्व) की शुद्धि होती है।

प्रभु महावीर के हस्त दीक्षित शिष्य श्री धर्मदास गणि के कहा है कि

“निक्खमण नाण निव्वाण जम्म भूमिओ वंदइ जिणाणं ।

ण य वसइ साहुजण विरहियम्मि देसे बहु गुणे वि ॥235॥

अर्थ—जिनेश्वर प्रभु की दीक्षा, केवलज्ञान, निर्वाण और जन्मकल्याणक भूमियों को श्रावकादि वन्दन करें। तथा अन्य बहुत गुण होते हुए भी साधु के विहार रहित देश में निवास नहीं करे।

जिनमंदिर आदि जिनप्रतिमा की साक्षी में

“तिहि नक्खत्त मुहुत्त रवि-जोगाइ य पसंत दिवसे अप्पा वोसिरामि । जिण-भवनाइं पहाण खित्ते गुरु वदिता मणइ इच्छकारि-तुह अम्हं पंच महव्वयाइं राइभोयणं वेरमणं-छट्ठाइं आरोवावणि (सिरि अंग चूलिया सुत्ते) ।

अर्थात्—शुभ तिथि, नक्षत्र, मुहूर्त रवियोग आदि प्रशस्त दिन में आत्मा को पापों से बोसरावे। जिनमंदिर आदि प्रधान क्षेत्र में गुरु को वन्दना करके कहे कि—हे कृपानाथ ! कृपा करके आप मुझे पांच महाव्रत तथा छठा रात्रि भोजन विरमण (दोनों) से आरोपन करें यानि जैनश्रमण की दीक्षा दें।

जैन दर्शन ईश्वर को जगतकर्ता के रूप में स्वीकार नहीं करता। इससे यह प्रश्न उपस्थित होता है कि फिर ईश्वर की पूजा करने से क्या लाभ? ईश्वर जब वीतराग है, वह तुष्ट अथवा रुष्ट नहीं होता तब उसको पूजने का क्या प्रयोजन? परंतु जैनदर्शन का यह कहना है कि परमेश्वर की उपासना उसे प्रसन्न करने के लिए नहीं है किंतु अपने हृदय की, चित्त की शुद्धि के लिए एव उनके समान बनने के लिए, सभी दुःखों के उत्पादकों राग-द्वेष को दूर करने के लिए; राग-द्वेष रहित वीतराग परमात्मा का आलम्बन लेना परम आवश्यक, परम उपयोगी एवं लाभदायक है।

भाव मन स्फटिक जैसा है। जिस प्रकार स्फटिक के पास जैसे रंग की वस्तु रखी जायेगी, स्फटिक वैसा रंग अपने में धारण कर लेगा। ठीक जैसे ही जैसे संयोग मिलते हैं वैसे ही संस्कार शीघ्र उत्पन्न हो जाते हैं। अतः उत्तम-पवित्र संस्कार प्राप्त करने के लिए उसी प्रकार के व्यक्ति के सनिध्य में रहने की विशेष आवश्यकता रहती है। वीतराग-सर्वज्ञ देव का स्वरूप परम निर्मल और शांतिमय है। राग-द्वेष का तनिक सा भी प्रभाव उनके स्वरूप में विलकुल नहीं है। अतः उनकी संगत-आलम्बन से, उनकी पूजा-अर्चा करने से अपनी आत्मा में वीतरागता का संचार होता है। इसलिए कहा जाता है कि जैसी संगत वैसी रंगत। अतः वीतराग सर्वज्ञदेव की संगत, उनकी पूजा, जाप, कीर्तन, स्तवन, स्मरण करना होता है। इससे आत्मा ने ऐसी शक्ति पैदा होती है कि राग-द्वेष की वृत्तियां स्वयमेव शांत होने लगती हैं। यह ईश्वर पूजन का मुख्य व तात्त्विक फल है। अतः वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा के अभाव में उनकी मूर्ति के माध्यम से ही उनकी उपसना संभव है।

नवम् प्रकाश

जिन पूजा विधि

श्री जिनमन्दिर में श्री जिनेश्वर प्रभु का पूजा-दर्शन प्रत्येक साधु-साध्वी श्रावक-श्राविका को प्रतिदिन अवश्य करना चाहिए। साधु-साध्वी के लिए स्तोत्र, प्रति-पत्ति वन्दना भावपूजा तथा श्रावक-श्राविका के लिए द्रव्य और भाव पूजा दोनों आवश्यक है। अतः यहां पर श्रावक-श्राविका द्वारा की जाने वाली पूजा का ही स्वरूप वर्णन करेंगे।

प्रभु पूजा करते समय सात प्रकार की शुद्धि परमावश्यक है अर्थात् उसमें सात वस्तुएं शुद्ध होने से हमें पूजा का पूरा फल मिल सकता है।

1. **काय शुद्धि**—अपना शरीर शुद्ध होना चाहिए।
2. **वस्त्र शुद्धि**—अपने पहनने के वस्त्र शुद्ध, पवित्र, उज्ज्वल, निर्मल होने चाहिए
3. **मन शुद्धि**—मन पवित्र, राग-द्वेष से रहित होना चाहिए। अर्थात् पूजा के सिवाय और किसी प्रकार के विचार मन में न होने चाहिए।
4. **वचन शुद्धि**—वाणी प्रिय और सत्य होनी चाहिए। संसारी बातों का त्याग होना चाहिए। तथा पूजा के पाठों का उच्चारण शुद्ध होना चाहिए।
5. **भूमि शुद्धि**—श्री जिनमन्दिर के अन्दर-बाहर और आस-पास की भूमि शुद्ध-पवित्र होनी चाहिए।
6. **पूजा सामग्री शुद्धि**—पूजा को वस्तुएँ-पूजा सामग्री, अंगलूहने, पाटलूहने बरतन आदि सब शुद्ध और पवित्र होने चाहिए।
7. **विधि शुद्धि**—पूजा की विधि अप्रमत्त भाव से, मन की एकाग्रता पूर्वक मात्र प्रभु के गुणों के स्मरण-चिन्तन पूर्वक करनी चाहिए।

1. शरीर शुद्धि

दातुन पश्चिम दिशा की तरफ मुख करके करें पूर्व दिशा की तरफ मुख करके शुद्ध, निर्मल, पवित्र और छने हुए प्रमाणोपेत जल से स्नान करके शरीर स्वच्छ करें। स्नान करने का स्थान समतल, पवित्र जीव जंतु रहित होना चाहिए। नहाने का पानी इस प्रकार फँलाना चाहिए कि स्नानवाली भूमि जल्दी सूख जाए। जयणा (यत्ना) पूर्वक स्नान करके ऊन की कामली (लोगड़ी) पहनकर नहाने का गीला वस्त्र उतार देना, शुद्ध पवित्र धुले हुए कपड़े (तौलिए आदि) से अपने शरीर को पोंछ डालना चाहिए। सिर के दाढ़ी मूँछ के बाल तथा सारा शरीर एक दम जलरहित हो जाना चाहिए।

जिस मनुष्य को स्नान करने से भी गूमड़ा (फोड़ा) घाव (जखम) वगैरह से

पीव या रसी झरती हुई होने से द्रव्य शुद्धि न हो तो भी मूलगंभारे (जहां जिन प्रतिमाएँ विराजमान हों) में प्रवेश नहीं करना चाहिए। जो रजस्वला स्त्री हो, जब तक उसकी माहवारी बन्द न हो तब तक द्रव्यशुद्धि न होने से उसे भी पूजा नहीं करनी चाहिए। ऐसी हालत में अपनी पूजा सामग्री दूसरे से मंगवाकर और देकर उससे पूजा करवा सकते हैं। सूतक-पातक में भी द्रव्यशुद्धि न होने से स्वयं पूजा न करके अन्य को सामग्री देकर पूजा करवा सकते हैं। क्योंकि शरीर अशुद्ध होने से स्वयं पूजा करने से लाभ के बदले हानि और आशातना होते हैं।

2. वस्त्रशुद्धि

ऊपर कही हुई रीति से स्नान करने के पश्चात् उत्तर दिशा की तरफ मुख करके शुद्ध, साफ, मनोहर बेजोड़, यथासंभव सफेद वस्त्र पहनने चाहियें। फटे, मैले कुचैले, जोड़वाले, जले गांठे या दुर्गन्धवाले न हों। लघुनीति (पैशाब) बड़ीनीति (टट्टी), वाले, खाने-पीने के, मैथुन आदि सेवन वाले, इत्यादि वस्त्र नहीं पहनने चाहियें। (1) पुरुष को बेजोड़ सफेद दो वस्त्र—एक पहनने का (धोती) दूसरा ओढ़ने का (उत्तरासंग-दुपट्टा) तथा मुखकोष (पूजा करते समय आठ तह करके मुख और नाक पर बाँधने का कपड़ा) तथा (2) स्त्री को पेटिकोट, बंडी (कंचुकी), धोती तीन कपड़े तथा मुखकोष पहनने चाहियें। शास्त्र में कहा है कि:—

“विशुद्धि वपुषः कृत्वा यथायोगं जलादिभिः।

घौतवस्त्रैः कसीत द्वे विशुद्धे धूप धूपिते ॥12॥

अर्थात्-जलादि से शरीर शुद्ध करके धोये हुए धूप से सुगंधित किए हुए और पवित्र दो वस्त्र (उत्तर दिशा की तरफ मुंह करके धारण करना चाहिए। यदि लोक व्यवहार में ऐसा माना हुआ हो कि रेशमी अथवा ऊनी वस्त्र भोजन अथवा मलमूत्र आदि के समय में पहनने से अपवित्र नहीं होते। तथापि यह लोकव्यवहार जिनराज की पूजा में पहनने वाले कपड़ों पर लागू नहीं होता। अन्य कपड़ों के समान ही मल-मूत्र अशुचि स्पर्श बर्जने आदि युक्ति से देवपूजा में ऐसे रेशमी ऊनी कपड़े भी अशुद्ध मानने चाहियें। अर्थात्—देवपूजा में पहनने वाले वस्त्र पूजा के सिवाय अन्य किसी भी उपयोग में नहीं लेने चाहियें अन्य अवसरों पर काम में आने वाले वस्त्र भी देवपूजा में कदापि नहीं लेने चाहियें। पूजा करने के पश्चात् पूजा के वस्त्रों को प्रतिदिन धोकर तथा धूपादि से सुगंधित करके सदा साफ रखना चाहिए। पसीना, थूक, खखार आदि उन वस्त्रों से नहीं पूंछना चाहिए। न उन पर गिरना ही चाहिए। उन वस्त्रों को अपने सांसारिक काम के वस्त्रों से भी यथासंभव अलग रखना चाहिए। दूसरे के पहने हुए पूजा के वस्त्र भी धोये बिना नहीं पहनने चाहियें मोक्ष और शान्ति के लिए श्वेतवस्त्र, द्रव्य लाभ के लिए पीले वस्त्र, शत्रु पर विजय के लिए काले वस्त्र, मांगलिक कार्य के लिए लाल वस्त्र पहनने चाहियें। मैला कुचैला, फटा हुआ, छिद्र वाला, जला हुआ, जोड़ वाला, गांठा-सांठा वस्त्र जिस वस्त्र का भयानक रंग हो ऐसे वस्त्र दान, पूजा, तप

तथा सामायिक आदि के समय नहीं पहनने चाहियें ।

3. मनशुद्धि (भावशुद्धि)

मन में किसी पर राग-द्वेष, आक्रोश, क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, स्पर्धा इसलोक-परलोक की यशकीर्ति आदि की बांछा, कौतुक, क्रीड़ा, चपलता, चिंता, प्रमाद, देखा-देखी, संकल्प-विकल्प इत्यादि भावनाओं को त्यागकर चित्त की एकाग्रता तथा निर्मलता से प्रभु की जो भक्ति की जाती है उसे भावशुद्धि-मनशुद्धि कहते हैं । अर्थात् सांसारिक, लौकिक वासनाओं से मन को सर्वथा हटाकर एकाग्र मन से अपने आपको प्रभु को समर्पित करके पूजा करनी चाहिए । उस समय प्रभुभक्ति तथा प्रभु के गुणों के चिंतन-स्मरण एवं प्राप्ति के लक्ष्य के सिवाय और किसी भी प्रकार के विचार मन में नहीं होने चाहियें । आर्त्त-रौद्र ध्यान का एक दम अभाव तथा धर्म-शुक्ल ध्यान का सद्भाव होना चाहिए ।

4. वचन शुद्धि

श्री मंदिर जी में पूजा के समय वचन की विशेष शुद्धि रखने की आवश्यकता है । स्त्री पुरुषों की संसार विषयक कथाएं, राजकथा, भोजन कथा, देश विदेशों की कथा आदि सब प्रकार की विकथाओं का सर्वथा त्याग होना चाहिए, किसी की निन्दा चुगली नहीं करनी चाहिए । क्रोध, मान, माया, लोभ, द्वेषादि जिससे उत्पन्न हों ऐसे वचनों को न बोलना चाहिए । अर्थात् श्री मंदिर जी की व्यवस्था तथा पूजादि संबंधी वचनों के सिवाय सब प्रकार की बातों का त्याग करना चाहिए । अशुभ तथा अशुद्ध वचनों का त्याग एवं प्रभु पूजा के लिए पूजा आदि के पाठों का सुन्दर, शुद्ध, शान्त और धीमे स्वर में उच्चारण होना चाहिए । बिना प्रयोजन बोलने की रोकथाम केलिए मौन रहना परमावश्यक है । दर्शन-पूजा आदि के पाठों को ऊंचे स्वर और से बोलने से वातावरण अशान्त हो जाता है । पूजा के लिए वातावरण एकदम शान्त चाहिए । पूजा करने वाले महानुभावों को चित्तवृत्ति की स्थिरता एकाग्रता प्राप्त करने में एकदम शान्त वातावरण ही सहायक हो सकता है अपरंच श्री मंदिर जी की व्यवस्था सम्बन्धी वचन में भी शान्त और मीठे शब्दों का प्रयोग करना ।

5. भूमि शुद्धि

श्री जिनमंदिर के अन्दर, बाहर एवं इर्द-गिर्द (आसपास) की जमीन स्वच्छ होनी चाहिए । श्री मंदिर जी में जाला, कूड़ा-कचरा अथवा अन्य भी किसी प्रकार की अपवित्रता नहीं होनी चाहिए । मंदिर के आस-पास की भूमि पर मल, मूत्र, थूक, श्लेष्म, गोबर, कूड़ा-कचरा आदि नहीं होने चाहियें । पशुओं आदि को बांधना भी नहीं चाहिए । क्योंकि भावशुद्धि केलिए शान्त और पवित्र वातावरण की आवश्यकता है । ऐसे वातावरण केलिए पवित्र, साफ़ सुथरी तथा शुद्ध वायुमंडल वाली भूमि भी एक मुख्य साधन है । पवित्रता न रखने से भारी आशातना होती है ।

6. पूजा सामग्री शुद्धि

पूजा में काम आने वाली वस्तुओं को हम दो भागों में बांट सकते हैं—(1) पूजा के उपकरण और (2) पूजा की सामग्री ।

1. पूजा उपकरण—अंगलूहने, पाटलूहने, दीपक, धूपदानी, पूजा की सामग्री रखने, स्नान आदि कराने के बरतन, साफ़-सुथरे होने चाहियें । (1) अंगलूहने (जिन वस्त्रों से प्रभु प्रतिमा का स्नान के बाद शरीर पूंछा जाता है) (2) पाटलूहने (जिन वस्त्रों से प्रभु की वेदी, सिंहासनादि सुखायें पूंछे जाते हैं) प्रतिदिन साबुन से धोकर साफ़-सुथरे करके सुखा देने चाहियें । (3) दीपक, धूपदानी, आरती, मंगलदीवा, पानी रखने के बरतन, तशतरियां, केसर रखने की कटोरियां पूजा की सामग्री रखने के बरतन, चंदनादि घिसने की शिलादि पूजा के सब उपकरण एकदम साफ़-सुथरे और पवित्र होने चाहियें ।

2. पूजा की सामग्री—(1) जल पूजा के लिए (पवित्र पानी, दूध, दही, घी; मिश्री) । (2) चंदन पूजा के लिये (चंदन, केसर, कर्पूर, अम्बर आदि) । (3) पुष्प-सुगंधित ताजे अखण्डित तथा गुंथी हुई पुष्पमालाएं । (4) शुद्ध सुगंधित धूप । (5) शुद्ध घी का दीपक । (6) साफ़-सुथरे अखण्ड चावल । (7) तत्काल के बने हुए ताजे और जिन्हें हिंसक पशुओं-पक्षियों ने सूंघा खाया स्पर्श न किया हो ऐसे मिष्ठान आदि नैवेद्य (8) मनोहर सुस्वादु मनगमते सचित-अचित फल । (9) पांच अथवा सात दीपकों वाली शुद्ध घी की आरती तथा एक बत्तीवाला शुद्ध घी का मंगलदीपक आदि—इस प्रकार की पूजा की द्रव्य सामग्री लेनी चाहिए ।

स्नानादि¹ करके पूजा के शुद्ध वस्त्र पहन कर पूजा की सब सामग्री थाल में रखकर ऊपर से शुद्ध पवित्र वस्त्र से ढांककर अपने घर से लेकर मन, वचन और काया की शुद्धि पूर्वक पूजा करने के लिए मंदिर जी जाने के लिए घर से रवाना होना चाहिए ।

7. पूजा विधि शुद्धि

श्राविक-श्राविका घर से चलकर जब जिनमंदिर के पहले दरवाजे पर पहुंचे तब शुद्ध जलसे पैर धोकर मंदिर जी में प्रवेश करे ।

शुभ अध्यवसायों को बढ़ाने वाले दस त्रिक

प्रभु के दर्शन पूजा-अर्चा, भक्ति में आराध्य के प्रति सम्पूर्ण समर्पण और एकाग्रता, तन्मयता जरूरी है । शुद्ध अध्यवसाय का मन में निर्माण होने से भी एकाग्रता-

1. पूजा के लिए स्नानादि घर से करके जाना चाहिए । यदि घर से मंदिर जी दूर हो और रास्ते में स्पर्शापर्श का बचाव असम्भव हो तो स्नान करने की व्यवस्था मंदिर जी के समीप किसी अलग जगह में कर लेनी चाहिए । ऐसा करने से स्पर्शास्पर्श का दोष भी न लगेगा और मंदिर जी में थूकादि गिराने की आशातना भी न होगी ।

तन्मयता बनी रह सकेगी। दर्शन पूजन भक्ति में तन्मयता एवं एकाग्रता के लिए जैन दर्शन में दस क्रियाओं का प्रतिपादन किया है। प्रत्येक क्रिया तीन-तीन बार की जाती है, इसलिए इसे दसत्रिक के नाम से सम्बोधित किया जाता है। पूजा के उद्देश्य में सफलता पाने के लिए इन सहयोगी क्रियाओं की अपेक्षा रहती है।

दस त्रिकों के नाम इस प्रकार हैं—(1) निसीहि त्रिक, (2) प्रदक्षिणा त्रिक, (3) प्रणाम त्रिक, (4) पूजा त्रिक, (5) भावना त्रिक, (6) दिशात्याग त्रिक, (7) प्रमार्जन त्रिक, (8) आलम्बन त्रिक, (9) मुद्रा त्रिक, (10) प्रणिपात त्रिक।

दस त्रिकों का संक्षिप्त स्वरूप

1. निसीहि त्रिक—तीन निसीहि (1) जिन मंदिर के मूल द्वार में प्रवेश करते समय अपने घर-संसार सम्बन्धी कार्यों का त्याग करना यह पहली निसीहि। (2) प्रभु की पूजा के लिए मूलगंभारे में प्रवेश करते समय मंदिर जी की सारसंभाल, सफाई आदि कार्यों का त्याग करना यह दूसरी निसीहि। (3) चैत्यवन्दन करते समय द्रव्य पूजा का त्याग करके भाव पूजा में तल्लीनता के लिये तीसरी निसीहि कही जाती है।

2. तीन प्रदक्षिणायें—श्री जिनेश्वर भगवन्तों की प्रतिमा की दाहिनी और अपनी बाईं तरफ से सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य की आराधना के लिये तीन प्रदक्षिणायें (फेरियां) देना।

3. तीन प्रकार प्रणाम—(1) श्री जिन प्रतिमा को देखकर दो हाथ जोड़ ललाट पर लगाकर प्रणाम करना। यह अंजलीवद्ध प्रणाम कहलाता है। (2) कमर के ऊपर का भाग कुछ झुकाकर प्रणाम करना यह अर्द्धविनत प्रणाम कहलाता है और (3) दो घुटने, दो हाथ एवं मस्तक (ये पांचों अंग) नमाकर धरती पर लगाकर पंचांग नमस्कार कहलाता है।

4. तीन प्रकार की पूजा—(1) श्री जिनप्रतिमा को स्नान, केसर, चंदन, पुष्पों, आंगी, पुष्पमाला आदि से पूजा करना अंग पूजा कहलाती है। (2) भगवान के आगे धूप, दीप, अक्षत, नैवेद्य, फल, आरती, मंगल दीपक आदि चढ़ाना अग्र पूजा कहलाती है। और (3) प्रतिपत्ति चैत्यवन्दन, स्तुति, स्तोत्र, गायन, नाटक, नृत्य आदि करना भाव पूजा कहलाती है।

5. तीन अवस्थायें—(1) पिंडस्थ च्यवन से लेकर गृहस्थावस्था तथा छद्म-स्थावस्था (केवलज्ञान होने से पहले की अवस्था तक) (2) पदस्थ-केवली अवस्था, (3) रूपातीत-सिद्धावस्था।

6. तीन दिशाओं का त्याग—श्री जिनप्रतिमा के सम्मुख के सिवाय अन्य तीन दिशाओं में प्रभु के दर्शन, स्तुति आदि करते समय न देखना।

7. प्रमार्जन त्रिक—(तीन बार भूमि शोधन) चैत्यवन्दनादि करते समय बैठने की भूमि तीन बार प्रमार्जन (पड़िलेहण करना)।

8. आलम्बन त्रिक—प्रभु की पूजा करते समय पाठों का शुद्ध उच्चारण, पाठों

का शुद्ध अर्थ चिंतन तथा प्रभु के स्वरूप का आलम्बन करना ।

9. मुद्रा (अंग विन्यास विशेष) त्रिक—(1) योग मुद्रा—दोनों हाथों की दसों अंगुलियों को परस्पर आन्तरिक अर्थात् एक दूसरे के बीच में रखकर दोनों हाथों की कोहणी तक जोड़कर नाभि पर रखना (जैसे कमलनाल सहित कमल सरोवर में निकलते हैं) इस मुद्रा को योगमुद्रा कहते हैं। इसका उपयोग पंचांग प्रणाम व चैत्य-वन्दन में स्तुति स्तोत्र स्तवन आदि का उच्चारण करते होता है। (2) मुक्ता-शुक्ति मुद्रा मोति के गर्भवाली सीप के आकार की मुद्रा—दोनों हाथों की अंगुलियां जोड़कर हथेलियों को बीच में डोढ़े के आकार में मिलाकर माथे पर लगाना। (3) जिन मुद्रा—सीधे खड़े होकर दोनों पैरों के पंजों में चार अंगुल का तथा दोनों एड़ियों में चार अंगुल से कम अन्तर रखकर दोनों हाथ नीचे लटकाकर काउसग करना ।

10. तीन प्रणिधान—(एकाग्रता स्थापन) चैत्यवन्दन विधि में मन वचन काया को दूसरे विचारों में जाने से रोककर देव, गुरु आदि की भक्ति में स्थापित करना विशेष एकाग्र करना ।

(1) चैत्यवन्दन प्रणिधान—जावन्ति चेइआइ गाथा के द्वारा चैत्यों को वन्दन करने रूप प्रणिधान । (2) गुरुवन्दन प्रणिधान—जावंत केवि साहू गाथा द्वारा गुरुओं को वन्दना रूप प्रणिधान और (3) प्रार्थना प्रणिधान—जयवीरराय से अभावमखंडा तक सूत्र द्वारा—प्रार्थना प्रणिधान समझना ।

आशातना

‘असायणा अवन्ना अणायरो, भोग दुप्पणीहाणं अणुचियवित्ति सव्वा पयत्तेणं ।’

(चैत्यवन्दन महाभाष्ये)

अर्थात्—आशातनाएँ पांच प्रकार की हैं—(1) अवज्ञा, (2) अनादर, (3) भोग, (4) दुःप्रणिधान और (5) अनुचित वृत्ति ।

श्री मंदिर जी में उपर्युक्त पांच प्रकार की आशातनाएँ उपयोग (सावधानी) पूर्वक त्यागनी चाहियें । (गुरुमहाराज के पास तथा तीर्थादि में भी अवश्य त्याग करनी चाहियें) ।

आशातना शब्द का अर्थ यह है कि—आ-यानि समस्त प्रकार से, शातना-यानि विनाश । अर्थात्—शुभ कार्य का, विनय गुण अथवा उचित व्यवहार का जिस कृत्य से विनाश हो उसे आशातना कहते हैं ।

(1) अवज्ञा आशातना का स्वरूप

(1) पाय पसारण, (2) पल्लित्थिबंधण, (3) बिबपिट्ठिदाणं च ।

(4) उच्चासन सेवणया जिणपुरओ भण्णइ अवन्नं ॥

(1) श्री जिनमंदिर में अर्थात् जिनप्रतिमा के सामने पग लम्बे करके बैठना ।

(2) हाथ अथवा वस्त्र आदि से पलाठी बाँधकर बैठना । (3) जिनप्रतिमा की तरफ पीठ करना । (4) प्रभु से ऊँचे आसन पर बैठना । इन से श्री जिनेश्वर प्रभु की अवज्ञा

आशातना होती है ।

(2) अनादर आशातना का स्वरूप

1-जारिसत्ता-रिस-वेसो 2-जहा तहा जम्मि 3-तम्मि कालम्मि ।

4-पुयाइ कुणइ सुन्तो, अणायरासायणा एसा ॥1॥

अर्थात्—1-फटा, कटा, जला, मैला, गाँठा-जोड़ा वस्त्र पहन कर पूजा करना; 2-पूजा तथा दर्शन की विधि पर लक्ष्य न देते हुए जैसे-तैसे अविधि से पूजा करना; 3-दर्शन-पूजन समय पर न करना, 4-अन्य चित्त से अर्थात्—मन, वचन, काया के योग की एकाग्रता के सिवाय अन्यमनस्क पूर्वक पूजा करना । जिन पूजा में इन चारों प्रकार की आशातनाओं से प्रभु का अनादर होता है ।

(3) भोग आशातना

‘भोगो दसप्पयारो कीरंतो जिण-वरिद-भवणम्मि ।

आसायणा त्ति बाढं वज्जेअब्बा जओ दुत्तं ॥’

अर्थात्—श्री जिनमंदिर में दस प्रकार का भोग करना; यह भोग आशातना कहलाती है । इसका पूरी सावधानी पूर्वक त्याग करना चाहिए । भोग आशातना के दस प्रकार यह हैं—

‘तंबोल-पाण भोयणु उवाहन इत्थी-भोगशयणनिह्वयणं ।

उच्चारं जुयं वज्जे जिण मंदिरस्स तु ।’

अर्थात्—तंबोल (पान), जलपान, भोजन, जूते, स्त्री भोग, शयन, थूकना श्लेष्म आदि गिराना, मूत्र, पखाना करना तथा जुआ खेलना ये दस भोग आशातनाएँ कहलाती हैं । इनका जिनमंदिर में त्याग करना चाहिए ।

(4) प्रणिधान आशातना

‘रागेण व दोसेण ब, मोहेण व दुसिया मणोवित्ति ।

दुप्पडिहाणं भण्णइ जिण विसये तं न कायव्वं ।’

अर्थात्—राग द्वारा, द्वेष द्वारा, मोह-अज्ञान द्वारा चित्त की वृत्ति जो दूषित होती है; उसे दुष्प्रानिधान कहते हैं । यह आशातना जिनमंदिर में नहीं करनी चाहिए ।

(5) अनुचित्तवृत्ति आशातना

‘विकहा धरणय-दाणं, कलह-विवायाइ गेह किरिया ।

अणुच्चिय वित्ति सव्वा, परिहरियव्वा जिण-गिहम्मि ॥’

अर्थात्—(1) विकथा (स्त्री, भोजन, राज, देश की कथाएँ), (2) धरणा देकर बैठना, (3) कलह-विवाद आदि करना, (4) घर के कामकाज करना । ये चार प्रकार की अनुचित्त आशातनाएँ कहलाती हैं । इनका भी श्री जिनमंदिर में त्याग करना चाहिए । जिनमंदिर की जो 84 आशातनाएँ कहलाती हैं उन सबका अनुचित्त आशातना में समावेश हो जाता है । उन सब आशातनाओं का भी अवश्य त्याग करना चाहिए ।

जिनमंदिर में पांच अभिगम¹ का पालन

श्री जिनमंदिर में जाने पर पांच अभिगम का पालन करना चाहिए। (1) मंदिर में जाते समय पुष्प, तंबोल, सुपारी, बादामादि, छुरी, कटारी, सरोता, मुकुट, सवारी (वाहनादि), सचित्त-अचित्त वस्तुओं का त्याग करना। (2) मुकुट के सिवाय बाकी के आभूषण आदि अचित्त द्रव्यों का त्याग नहीं करना। (3) एकपट और चौड़े अर्जुंवाला उत्तरासंग (दुपट्टा-खेस) ग्रहण करना। (4) श्री जिनेन्द्र प्रभु का दर्शन होते ही मस्तक पर हाथ जोड़कर अंजली 'करके-जिनाय नमः,' कहकर नमस्कार करना। (5) मन में एकाग्रता करना।

पूजा विधि

1. श्री जिनमंदिर में प्रवेश करने की विधि—

श्रावक-श्राविका अपने घर से अथवा सुविधानुसार श्री मंदिर जी के समीप या नीचे बने स्नान घर में स्नान कर पूजा के शुद्ध वस्त्र पहनकर पूजा की सामग्री के साथ निसिही पूर्वक प्रवेश करे। वहाँ पूजा की सामग्री को थाल में कपड़े से ढककर पवित्र स्थान पर रख दे और मूलगंभारे के सम्मुख जा कर प्रभु प्रतिमा के दर्शन होते ही अंजलीबद्ध हाथों को मस्तक पर लगा कर और सिर को झुकाकर—“तीन बार 'नमो जिनानं,' कह कर प्रभु को नमस्कार करे। पश्चात् मंदिर जी का कोई काम हो तो उस पर ध्यान देना चाहिए। कहीं कूड़ा-कचरा आदि हो तो उसे भी सावधानी पूर्वक दूर कर दे अथवा करादे। अन्य भी किसी प्रकार की व्यवस्था में कमी मालूम पड़े, तो उसकी भी व्यवस्था कराने का लक्ष्य रखें।

(2) पूजा की सामग्री तैयार करने की विधि

अपने मुख-नाक पर आठ तह वाला मुखकोश बांधकर हाथ धोकर मंजे हुए शुद्ध बरतन में पवित्र जल को छानकर लाए हुए से पूजा की सामग्री तैयार करले अथवा पुजारी से करवाले। (1) छने हुए जल में दूध, दही, घी, मिश्री मिलाकर एक कलश में छानकर रख लें (इसको पंचामृत कहते हैं) तथा दूसरे कलश में छना हुआ सादा पानी लें और दोनों को कपड़े से ढककर प्रभु को प्रक्षाल करने के लिए रख दें। फिर चन्दनादि घिसने की पत्थर की शिला को तथा उसके नीचे और आस-पास

1. बड़े पूजा विधानों में इन्द्र-इन्द्राणियाँ, छप्पन दिक्कुमारियाँ बनकर मुकुट, कुंडल, आदि अलंकारों से सुसज्जित होकर श्रावक-श्राविकाओं के लिए मुकुट के त्याग का विधान नहीं है। उन्हें तो इन्द्रों-इन्द्रणियों, देव-देवियों, छप्पन दिक्कुमारियों के समान सुसज्जित वेषभूषा में ही श्री जिनेश्वर प्रभु का महोत्सव करना चाहिए।

मुकुट अभिमान का चिन्ह होने के कारण राजा, महाराजा, चक्रवर्तियों को अपने अभिमान का त्याग करके देवाधिदेव श्री तीर्थंकर भगवन्तों की भक्ति के लिये मुकुट के त्याग करने का विधान है। न कि इन्द्र इन्द्रानियों के लिये।

(आजु-बाजु) की भूमि को जयणा पूर्वक झाड़ पूंछ लेना चाहिए फिर शुद्ध जल से शिला और चन्दन की लकड़ी को धोकर उस शिला पर (2) जल के साथ केसर, बरास (कपूर) अम्बर आदि रखकर चन्दन की लकड़ी से घिसकर एकरस बना लेना चाहिए । इस मिश्रित गाढ़े रस को एक कटोरी में भरकर प्रभु की अंगपूजा के लिए रख ले । दूसरी कटोरी में अपने मस्तक पर तिलक करने के लिए रख लें । (3) सुगंधित-ताजे अखण्डित फूलों को भलीभांति देखना चाहिए । यदि उन पर कोई सूक्ष्म या स्थूल जीव जन्तु चढ़ा हो तो उसे भी यत्न पूर्वक दूर हटा देना चाहिए और उन फूलों पर पानी का छींटा देकर बिना दबाये और मसले धोकर कपड़े में डालकर सुखा लेना चाहिए । (4) सुगंधित धूप, (5) घी का दीपक, (6) पवित्र-शुद्ध-अखण्डित, जीव रहित अक्षत (चावल), (7) ताजा नैवेद्य (मिष्ठान मिठाई आदि) (8) उत्तम जाति के फल, (9) आरती, मंगलदीवा आदि सब पूजा की सामग्री तैयार करके रख लें ।

फिर अपने मस्तक पर तिलक करें (जैन दर्शन में श्रावक श्राविका को अपने सलाह पर बादाम के अथवा मंदिर के शिखर के आकार का तिलक करने का विधान है तिलक करने का प्रयोजन श्री जिनेन्द्र प्रभु की आज्ञा को शिरोधार्य करने का है ।

फिर प्रभु की दाहिनी तथा अपनी बाईं तरफ से तीन फेरियाँ (प्रदक्षिणा) देते हुए भावना करनी चाहिए कि मुझे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्ररूप रत्नत्रय की प्राप्ति हो जिस से निर्वाण की प्राप्ति होकर संसार में आवागमन समाप्त हो जावे ।

जिन पूजन विधि

फिर जिस जगह भगवान विराजमान हों वहाँ बीच के द्वार पर मूलगंभारे के पास पहुँच कर दूसरी बार 'निसीहि' कहनी चाहिए । इस निसीहि के बाद मंदिर के काम काज तथा पूजा की सामग्री आदि तैयार करने के कार्यों का भी त्याग हो जाता है और मात्र पूजा करने की छूट रहती है । निसिहि के बाद थोड़ा झुककर और दोनों हाथ जोड़ कर 'जगत त्रयाधार तुम्यं नमः' बोलना चाहिए अर्थात्—हे तीन जगत के आधार प्रभुजी ! आपकी नमस्कार हो । अथवा अन्य कोई स्तुति भी बोल सकते हैं ।

अब अपने मुख और नाक पर कपड़े की आठ तह करके मुखकोष बांधें ।¹² फिर मूलगंभारे में पंचामृत जल के कलश, चंदन, केसर, बरास मिश्रण सुगंधि, कटोरी में तथा ताजे सुगंधित पुष्प तशतरी आदि में लेकर पूजा करने के लिए मूलगंभारे में प्रवेश करना चाहिए । वहाँ जिनप्रतिमा के ऊपर से अलंकार, आंगी, निर्माल्य फूलादि उतारने चाहिए । उतरे हुए फूल आदि को ऐसी जगह डालना चाहिए जहाँ किसी के

2. पूजा करते समय मुखकोष से नाक और मुख के ढांकने का यह प्रयोजन है कि हमारे नाक से और छींक आदि से निकलने वाला श्वासोश्वास और श्लेष्म आदि न गिरने पावे और मुख से निकलने वाली सूक्ष्म थूक तथा वायु आदि प्रतिमा पर न गिरे डकार, खांसी, उबासी, शब्दादि से उड़ने वाले थूक श्लेष्म न गिरने पावे ।

पैर न आवें। फिर मोरपीछी से प्रभुजी की प्रतिमा और वेदी आदि को ध्यानपूर्वक ऐसे पोंछना चाहिए कीटादि को, सूक्ष्म-स्थूल चींटी-जीव जन्तु हो तो उसे हटा देना चाहिये।

1. जल पूजा—फिर सबसे पहले 'मूलनायक' (मंदिर में मुख्य मूलप्रतिमा) को पंचामृत से कलश में भरे हुए को हाथ में लेकर जलपूजा का काव्य पढ़कर स्नान कराते हुए जल पूजा करें। इससे प्रतिमा के गीले हो जाने पर एक कटोरी में सादा पानी लेकर उसमें छोटा कपड़ा भिगोकर इस कपड़े से प्रतिमा पर लगा हुए चंदन को इस प्रकार पोंछे कि सारा चंदन उतर जावे। फिर सादा जल के कलश से प्रतिमा पर पानी डालते हुए खसकूची³ से धीरे-धीरे केशर से प्रतिमा को साफ करके पंचामृत से भरे दूसरे कलश से स्नान कराकर पश्चात् सादा जल से स्नान कराकर एकदम साफ़ कर लें। इसी प्रकार मंदिर में विराजमान सब प्रतिमाओं को स्नान कराकर एक दम साफ़ कर लेना चाहिये। फिर पाटलूहने (पवित्र उज्ज्वल दो कपड़ों) से जहां प्रतिमायें विराजमान हों क्रमशः उस वेदी के फर्श तथा दीवारों को पोंछ कर एकदम सुखा लेना चाहिये। फिर तीन अंगलूहनों (प्रतिमा के शरीर को पोंछने वाले कपड़ों) से क्रमशः पोंछकर एकदम जल रहित कर लेना चाहिये। जल से स्नान पूजा को प्रक्षाल पूजा भी कहते हैं। प्रक्षाल के बाद अंगलूहनों से प्रतिमा को ऐसे साफ करके सुखा लेना चाहिए कि उसका कोई भी अंग-प्रत्यंग गीला न रहे—एकदम निर्जल हो जाना चाहिए।

प्रक्षाल करने से पहले पीतलादि की एक खाली कूडी इस प्रकार रख लेना चाहिए जिससे प्रक्षाल का जल उसमें जाकर गिर जावे। फँसे बिल्कुल नहीं। प्रक्षालके बाद इस जल को ऐसे स्थान पर फँला देवें कि पाओं में न आवे और जल्दी सूख जावे ताकि उसमें जीवोत्पत्ति न हो।

(2) चन्दन पूजा—कही हुई विधि से जल (प्रक्षाल) पूजा करके केसर-चंदन कर्पूर आदि⁴ मिश्रण को कटोरी में लेकर चन्दन का काव्य पढ़कर प्रतिमा के नवांगों के क्रमशः पूजा के दोहे मन में पढ़ते हुए दाहिने हाथ की अनामिका (टचली तथा

3. प्रतिमा को खसकूची से जोर जोर ले नहीं घिसना चाहिए। जोर से घिसने से प्रतिमा जी की क्षति होती है। लेखादि के घिस जाने से प्रतिमा की कला तथा प्राचीनता के इतिहास तथा भराने वाले श्रावक-श्राविकाओं, प्रतिष्ठा कराने वाले आचार्य तथा उनके गच्छ, कुल, शाखा आदि परम्परा तथा नामादि के इतिहास में हानि होती है। तथा प्रतिमा के अंगोंपांग के घिस जाने से खण्डित एवं विकृत होने की सम्भाना भी रहती है।

4. अकेले चन्दन से पूजा करने से प्रतिमा के अंगों पर काले धब्बे पड़ जाते हैं और अकेले केसर के गर्म होने से प्रतिमा के अंगों में खड्डे पड़ जाते हैं अतः केसर-चन्दन-कर्पूर आदि को मिश्रित करके पूजा करने से ऐसी हानि नहीं होती।

मध्यमा अंगुलियों के बीच की) अंगुली से क्रमशः प्रभु जी के नव अंगों पर तिलक करके चन्दन पूजा करें।⁵ दोनों चरण, दोनों जानुं (घुटने), दोनों कांडे (दोनों हाथों की कलाईयां), दोनों कन्धे, सिर, ललाट (माथा), कंठ (गला), उर (छाती) और नाभी-इन नवांगों पर 13 तिलक करने चाहिए।

(3अ) पुष्प पूजा—ताजे, सुगंधित, अखण्ड-फूलों को तश्तरी में लेकर पुष्पपूजा का काव्य पढ़कर प्रभु की फूलों से पूजा करनी चाहिए। यदि कोई पुष्प जमीन पर गिर गया हो, अथवा सूँघा गया हो, तो उसे नहीं चढ़ाना चाहिए। पुष्पों की पांखड़ियां आदि टूटी हों, अथवा पुष्प पांखड़ियां अलग हो गई हों तो इनसे पुष्पपूजा नहीं करनी चाहिए। पुष्पमाला को प्रभु के गले में पहनाना चाहिए। जो पूजा के लिए पुष्पमाला बनाई जावे, उसके फूलों को सूई से वेधकर नहीं पिरोना चाहिए। फूलों के डंठलों को धागे से बांधकर फूलमाला बनाकर पूजा करनी चाहिए। खण्डित, पांखड़ियां, सूई से वेधकर बनाई हुई फूलमाला से पूजा करना सदोष है और आशातना होती है। पूजा में काम लाने वाली पूजा सामग्री का अपने शरीर और कपड़ों से स्पर्श नहीं होना चाहिए। नाक का श्वास छींक तथा मुख से श्लेष्म आदि भी नहीं गिरे।

(3ब) आंगी पूजा—यदि आंगी पूजा करना हो तो प्रक्षाल और चन्दन पूजा करके फिर आंगीपूजा कर लेनी चाहिए। आंगीपूजा तीर्थकर प्रभु के स्वरूप को आच्छादित करनेवाली कदापि न होनी चाहिए।⁶ पश्चात् पुष्प-पुष्पमाला से पूजा करके जल, चन्दन, आंगी से अंगपूजा समाप्त हो जाती है। अंगपूजा करने तक मुख और नाक पर अवश्य मुखकोष बांधे रहना चाहिए।⁷

अंग पूजा करके मूलगंधारे से बाहर चले जाना चाहिए और अगली पूजार्थे मूलगंधारे से बाहर रंगमण्डप में करनी चाहिये। अंगपूजा के बाद बांधा हुआ मुखकोष खोल लेना चाहिए।

(4) धूप पूजा—सुगंधित धूप जलाकर धूपपूजा का काव्य पढ़कर प्रभुजी के

5. अष्टप्रकारी पूजा, नवांग के दोहे अर्थ सहित आगे लिखेंगे।

6. आज कल कई जगह देखा गया है कि कई अबोध लोग आंगी पूजा में प्रभु को चश्मा, मीजे, घड़ी, जाकेट आदि से करते हैं जो प्रभु के स्वरूप से एकदम प्रति-कूल है। प्रतिमा को गोंदादि का लेप करके उस पर कुछ काराजादि चिपकाकर आंगी करना एकदम आशातना करना है। आंगी पूजा फूलों की पांखड़ियों को तोड़कर करना भी नितांता अनुचित है। आंगी का मूलोद्देश्य जन्म कल्याणक, दीक्षा कल्याणक, तथा गृहस्थावस्था में ध्यानमुद्रा की पूजा से सम्बन्धित है। इसका हम विस्तार पूर्वक वर्णन पहले कर आए हैं अतः आंगी पूरे विवेक पूर्वक होनी चाहिए।

7. मुखकोष खोल देने पर भी पूजा के काव्य स्तुति, स्तोत्र पढ़ते समय-त्तरीय दुपट्टे के एक पल्ले को मुख के आगे रखकर बोलना चाहिए।

सामने खैकर छिद्रों वाले ढकने वाली धूपदानी में रखकर रंगमण्डप में पाट पर प्रभुजी की बाई (डाबी) तरफ रख देना चाहिए ।

(5) दीप पूजा—शुद्ध घी का दीपक प्रगटाकर मूलगंभारे के बाहर एक शीशे वाली लालटेन में रखकर दीप पूजा का काव्य पढ़कर प्रभुजी के सामने उस दीपक से पूजा करके पाट पर दाई (जीमनी) तरफ रख देना चाहिए ।

(6) अक्षत पूजा—शुद्ध, उज्ज्वल, पवित्र, अखण्डित, जीव जन्तु रहित चावलों को हाथ में लेका अक्षत पूजा का काव्य पढ़कर पाट या चौकी पर चावलों को स्वस्तिक, उसके ऊपर की तरफ चावलों की तीन ढेरियां उसके ऊँचे अर्धचन्द्राकार तथा उसके मध्य में एक ढेरी बनाकर पूजा करें ।

(7) नैवेद्य पूजा—पवित्र, शुद्ध, मिठाई-बताशे-पकवान आदि नैवेद्य पूजा का काव्य पढ़ कर चावलों के बने साथिया पर चढ़ावें ।

फल पूजा—फल पूजाका काव्य पढ़कर उत्तम जाति के सूखे मेवे तथा सचित फल चावलों से बनाए हुए अर्धचन्द्राकार पर चढ़ाकर करनी चाहिए ।

(9) आरती और मंगल दीपक पूजा—इस प्रकार अष्ट प्रकारी पूजा करके पश्चात् आरती मंगलदीवा उतारा जाता है । इससे आत्मा का कल्याण होता है । शास्त्रों में आरती को अरात्रिक अथवा आरात्रिक कहा है । आरत्रिक का अर्थ है शरीर और मन की पीड़ाएं दूर हों । इससे मन की चिंताएं दूर हो जाती हैं और शांति मिलती है । अरात्रिक शब्द अ-रात्रिक से बना है । जिसका अर्थ होता है रात्रि होने से पहले संध्या समय आरती की जानी चाहिए । आरती पाँच अथवा सात दीपकों की तथा मंगलदीवा एक दीपक का होता है ।

पहले मंगलदीवा प्रकट किया जाता है फिर आरती प्रकट की जाती है । आरती वाली थाली में अपनी शक्ति के अनुसार कुछ द्रव्य डालना चाहिए । आरती खाली नहीं करनी चाहिए । शांति, स्थिरता तथा गंभीरता के साथ अपनी बाई ओर से आरती को ऊपर ले जाकर दाई ओर से नीचे उतारना चाहिए । ऐसी विधि को सृष्टि कहते हैं । इससे हमें सुख मिलता है । उल्टी रीति से आरती उतारने का नाम "संहार" है । ऐसा करना उचित नहीं है । इससे हानि होती है । आरती उतार कर पाट आदि पर प्रभु के सामने रख देनी चाहिए । या बड़ा देनी चाहिये । फिर इसी प्रकार मंगलदीवा उतारना चाहिये । पश्चात् पाट आदि पर प्रभु के सामने रख देना चाहिए । उसे बढ़ाना (बुझाना) नहीं चाहिए । मंगलदीवा उतारते समय उसमें कर्पूर भी प्रगट करना चाहिए । आरती मंगलदीवा प्रभु की नाभि से नीचे तथा प्रभु से ऊँचे नहीं रखने चाहिए ।

आरती-मंगलदीपक उतारते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वे अपनी नाभि से नीचे और प्रभु के मस्तक से ऊँचे नहीं जाने चाहिए । आरती और मंगलदीवा उतारते समय आरती और मंगलदीपक के पाट पड़ते जाना चाहिए । दोनों को करते समय छैने, घड़ियाल, घंट आदि बजाते रहना चाहिए ।

धूप, दीप, अक्षत, नैवेद्य, फल, आरती, मंगलदीपक—इन सब पूजाओं का

समावेश अग्रपूजा में हो जाता है। अग्रपूजा कम से कम प्रभु प्रतिमा से तीन हाथ तथा अधिक से अधिक साठ हाथ दूर से करनी चाहिए।

अंग और अग्रपूजा-द्रव्य पूजा कहलाती है। यह अष्टप्रकारी पूजा का स्वरूप कहा। द्रव्यपूजा से निवृत्त होकर—फिर तीसरी बार 'निसीहि' एक बार या तीन बार कहनी चाहिए। इस निसीहि से द्रव्यपूजा का भी त्याग हो जाता है और भावपूजा रूप चैत्यवन्दन आदि की विधि प्रारंभ होती है। चैत्यवन्दन भी विधिपूर्वक करनी चाहिए। इधर-उधर किसी तरफ भी ध्यान न करके, न झंका कर केवल प्रभु जी के सन्मुख ही दृष्टि रखनी चाहिए चैत्यवन्दन विधि में स्तवन, स्तुति आदि ऐसे मधुर स्वर से कहना चाहिए, जिसे सुनकर दूसरों को भी आनन्द मिले, उनकी भावना भी प्रभु जी की भक्ति के लिए अधिक विकसित हो। स्तवन में प्रभु के गुणों का वर्णन होना चाहिए जिस स्तवन या भजन में तीर्थस्थल, तिथि महात्म्य आदि का वर्णन हो इन्हें अथवा मुनि राजों के गुण-गान वाले स्तवन भजन यहां नहीं बोलने चाहियें। स्तवन बहुत ऊंचे स्वर में न गाकर धीरे-धीरे कहने चाहियें जिससे शांतिपूर्वक गाते हुए सुनने वालों के भाव भी जाग्रत हों। शोर-गुल से अन्य दर्शन-पूजन करने वाले स्त्री-पुरुषों को बाधा न पहुंचे। नृत्य, स्तवन, स्तोत्र, चैत्यवन्दन आदि की विधि को भावपूजा कहते हैं।⁸ कायोत्सर्ग करते समय दृष्टि नासाग्र अथवा प्रभु जी के सामने रहनी चाहिए।

(10) नृत्यादि पूजा—कायोत्सर्ग पार लेने के बाद—चामर पूजा, नृत्यादि करने की भावना हो तो बड़े उत्साहपूर्वक प्रभु जी के सामने नृत्य करना चाहिए। नृत्यपूजा से रावण ने 'तीर्थंकर नाम कर्म का उपाज्जन किया था।' कहा भी है कि—

लंकापति रावण बली, निज हाथ में वीणाधरी।

शुभ नाच जिन आगे करी, पदवी जिनेश्वर पावेगा ॥1॥

चैत्यवन्दन⁹ आदि से देवदर्शन-पूजन का काम भी समाप्त हो जाता है।¹⁰ यह तीन प्रकार की अंग-अग्र-भाव पूजा करने के बाद फिर यह दिखलाने के लिए—हे

8. पूजा दर्शन करते हुए दसत्रिकों का पालन करना चाहिए। इनके स्वरूप का हम वर्णन कर आये हैं।

9. पूजा प्रारंभ करने से पहले श्री मंदिर जी में पुजारी से शंख बजवाना चाहिए, इससे क्षुद्रोपद्रव सब शांत हो जाते हैं।

10. चैत्यवन्दन करते समय जहाँ बैठना हो वहाँ उत्तरासंग (दुपट्टे) के एक पल्ले से भूमि की तीन बार पुडिलेहना करनी चाहिए। तथा उत्तरासंग के दूसरे पल्ले को अथवा रूमाल को मुख के आगे रखकर चैत्यवन्दन का पाठ बोलना चाहिए। ऐसा करने से जीव विराघना तथा थूक-म्लेष्म आदि के श्री मन्दिर जी में गिरने की सम्भाना नहीं रहती। उत्तरासंग से तीन प्रयोजन सिद्ध होते हैं—मुखवात्रिका, चरवला तथा जिनऊ। जिससे जीव की जयणा तथा जिनाज्ञा की स्वीकृति एवं पालन होता है।

प्रभो। आप ही मेरे सच्चे देव हैं (इस बात की उद्घोषणा करने के लिए शक्रेन्द्र ने आपके पाँचों कल्याणकों के अवसर पर सुघोषा घंटा बजवाकर सब देवलोकों के देवों, देवियों देवेन्द्रों को सूचना दी थी) धीरे-धीरे घंटा बजाना चाहिए।

हम लिख आए हैं कि पूजा के मुख्य तीन भेद हैं—अंग-अग्र-भाव पूजा।

(1) अंग पूजा करने से सब प्रकार के विघ्न दूर होते हैं। (2) अग्र पूजा करने से सुखों, वैभवों तथा समृद्धियों की प्राप्ति होती है। (3) भावपूजा से मोक्ष की प्राप्ति होती है। (4) भगवान की आशातना रहित विधि-पूर्वक पूजा करने से भव्य प्राणी मानव जन्म में संसार के सुख-ऐश्वर्य भोगकर स्वर्गादि में उच्च अवस्था को प्राप्त करता है और अन्त में मनुष्य जन्म पाकर धर्म और शुक्ल ध्यान को प्राप्त कर सर्व-कर्मक्षय कर मोक्ष पाकर जन्म-जरा-मृत्यु रहित अशरीरी अवस्था में शाश्वत सिद्ध पद प्राप्त करके अजरामर हो जाता है शुभ धर्मध्यान से पुण्योपाजन करता है और शुद्ध शुक्ल ध्यान से जीव निर्वाण प्राप्त करता है।

11. प्रभु पूजा से हृदय परिवर्तन

प्रभु की उपासना-भक्ति-पूजा करने से अनुचित कार्यों का त्याग करने की भावना जाग्रत होती है। चैत्यवन्दन विधि में हम सदा 'जयवीराराय' प्रार्थना सूत्र के पाठ से अपने कर्तव्यों का स्मरण करते हैं और भावना करते हैं कि—

जयवीराराय ! जगगुरु ! होउ मम तुह पभावओ भयव ! ।

भवनिब्बेओ । मग्गाणुसारिया इट्ठफल सिद्धि ॥1॥

लोगविरुद्धच्चाओ गुरुजन पुआ परत्थकरणच ।

सुहगुरु जोगो तव्वयणसेवणा आभवमखंडा ॥2॥

वारिज्जई जइ वि निघाण-बंधणं वीराराय ! तुह समए ।

तह वि मम हुज्ज सेवा, भवे-भवे तुम्ह चलणाणं ॥3॥

दुक्ख-क्खओ कम्म-क्खओ, समाहि-मरणं च बोहि-लाभो अ ।

सपज्जउ मह एअं तुह नाह ! पणाम करणेणं ॥4॥

सर्वमंगल-मांगल्यं सर्वकल्याण कारणं ।

प्रघाणं सर्वधर्माणां जैनं जयति शासणं ॥5॥

अर्थात्—हे राग-द्वेष रहित जगद्गुरु ! आपकी जय हो। हे भगवन् ! आपकी भक्ति-पूजा आदि के प्रभाव में संसार से निर्वेद के लिए उत्तम मार्ग का अनुसरण करने की योग्यता प्राप्त हो जिससे वांछित फल, शुद्ध निर्मल आत्मधर्म की सिद्धि हो।

हे प्रभो। आपकी भक्तिपूर्वक पूजा के प्रभाव से (1) लोक में जो-जो कार्य अनुचित माने जाते हैं, उनका त्याग हो। (2) माता-पिता, विद्यागुरु, अपने से बड़े भाइयों-बहनों आदि गुरुजनों की सेवा, विनय, आदर भक्ति आज्ञा पालन इनकी भक्ति करने का अवसर सदा मिलता रहे। (3) परोपकार करने की शक्ति प्राप्त हो। (4) सद्गुरु का समागम प्राप्त हो और उनके वचनों का पालन करने के लिए सदा जागरूक

बना रहूँ। (5) ये सब मुझे भव पर्यन्त (जब तक इस संसार में जन्म-मरण करना पड़े तब तक) यानि मुक्ति प्राप्त करने तक प्राप्त होते रहें। 12

हे वीतराग प्रभो ! यद्यपि आपके शासन में नियाणा (सकाम राग) करने की सख्त मनाही है तो भी मैं याचना करता हूँ कि मुझे भव-भव में जब तक मोक्ष की प्राप्ति न हो तब तक आपके (निष्काम अनुराग) चरणों की सेवा मिलती रहे। 13

हे नाथ ! मेरे मानसिक तथा शारीरिक दुःखों (दुर्भावनाओं तथा कदाचार) का नाश हो। (शुभ भावना और सदाचरण से कर्मों का क्षय हो) समाधिपूर्वक मृत्यु हो अर्थात् पण्डित मरण हो और बोध (सम्यक्त्व) की प्राप्ति हो तथा उत्तरोत्तर श्रद्धि की प्राप्ति हो। ये सब आपको भावना पूर्वक प्रणाम (वन्दना-नमस्कार) करने से प्राप्त हो। 14

हे प्रभो ! मैं आपके शासन रूप धर्म की चाहना क्यों करता हूँ ? इसका एक मात्र कारण यह है कि—श्री जिनेश्वर प्रभु का शासन सदा जयवन्त रहता है—शाश्वत रहता है; क्योंकि यह लोक और लोकोत्तर सर्व मंगलों का उत्कृष्ट मंगल रूप है। स्वयं मोक्षादि सर्व कल्याणों का मूल कारण है। जगत के सर्व धर्मों में आपका शासन (धर्म) सर्व श्रेष्ठ है। 15

सारांश यह है कि श्री जिनदेव की भक्ति से आत्मा को पतन करने वाले कार्यों को त्याग तथा आत्मोत्थान के कर्त्तव्यों को स्वीकार करने की भावना जागृत होती है जिसकी प्रेरणा से हृदय का परिवर्तन सरल सम्भव है।

(6) जिनप्रतिमा-जिनमन्दिर आत्मोत्थान के प्रेरणादायक—जब तक कोई भी व्यक्ति श्री जिनमन्दिर में प्रभु भक्ति में व्यस्त रहता है तब तक धर्मध्यान में संलग्न रहता है। जिससे शुभ विचारों का प्रवाह बहने लगता है। इससे दुर्गुणों को दूर करने और सद्गुणों को अपनाने की प्रेरणा मिलती रहती है। तीर्थंकर प्रभु की शांतमुद्रा को देखकर हृदय में विचार होता है कि 18 दोषों रहित, 34 अतिशय, 12 गुणों सहित ये वीतराग-सर्वज्ञ-तीर्थंकर विश्वपूज्य और तीनलोक के नाथ हैं। उनके दर्शन और स्मरण करते ही उनके गुण हृदय पर चित्रपट की भांति स्वयमेव चित्रित हो आते हैं। जिससे हमें यह प्रेरणा मिलती है कि अनादिकाल से भटकते हुए मुझे भी परमात्मपद प्राप्त हो। आचार्य श्री विजयबल्लभ सूरि जी ने कहा है कि—

‘मुणी से गुण नहीं भिन्न है, जिनपूजा गुणधाम।

गुणी पूजा गुण देत है, पूर्ण गुणी भगवान् ॥१॥

इस प्रकार विधिपूर्वक जिनन्द्र देव की पूजा करने से प्रभु के गुण हमारी आत्मा में भी प्रगट होते हैं और हम भी उनके समान मोक्ष-निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं।

पूजा समाप्त होने पर तीन बार ‘अवसीहि’ कहकर ‘निसीहि’ द्वारा किए हुए त्याग को वापिस लेना चाहिए। अवसीहि से किए त्याग को वापिस लेना होता है।

पूजा करके बाहर निकलते समय पिछले ही पैरों से बाहर निकालना चाहिए।

जिससे प्रभु जी ओर पीठ न होने पावे ।

मन्दिर जी में आते जाते मार्ग को देखकर चलना चाहिए । ऐसा न हो कि कहीं ठोकर लग जाय, अथवा कोई जीव-जन्तु पांव के नीचे आ जाने से उसकी विराधना हो जावे ।

किस दिशा कौं तरफ मुख करके प्रभु की पूजा करनी चाहिए ?

“पूर्वस्यां लभते लक्ष्मी-अग्नौ संताप संभवः ।

दक्षिणास्यां भवेन्मृत्यु-नैरृत्यं स्यादुपद्रवः ॥

पश्चिमायां पुत्रदुःख, वायव्यां सयाद् असंततिः ।

उत्तरस्यां महालाभं, ईशान्यां धर्मवासना ॥१॥”

अर्थात्—(1) पूर्व दिशा की (तरफ मुख करके लक्ष्मी की प्राप्ति होती है ।
(2) अग्नि कोण में संताप । (3) दक्षिण दिशा में मृत्यु, (4) नैरृत्य कोण में उपद्रव,
(5) पश्चिम दिशा में पुत्र का दुःख, (6) वायव्य कोण में पुत्र की अप्राप्ति, (7) उत्तर दिशा में महालाभ की प्राप्ति और (8) ईशान कोण में मुख करके पूजा करके से धर्मवासना की प्राप्ति होती है ।

सारांश यह है कि श्री जिनेश्वर प्रभु की पूजा सेवा आदि करते समय—पूर्व दिशा में, उत्तर दिशा में, ईशान कोण में मुख करके करने से लक्ष्मी, महालाभ तथा धर्म वासना की प्राप्ति होती है ।

श्री जिनपूजा पापों का नाश करने वाली है

“जिनस्य पूजनं हन्ति, प्रातः पाप निशा भवम् ।

आजन्म विहित मध्ये, सप्त जन्मकृतं निशि ॥१॥”

अर्थात्—जिनेश्वर प्रभु का पूजन प्रातः काल में किया हुआ रात के पाप को नाश करता है । दोपहर का पूजन इस भव के किये हुए पापों का नाश करता है और संध्या समय का किया हुआ पूजन सात जन्मों के पापों का नाश करता है ।

चैत्यवन्दन से शुभ भावोत्पत्ति

“चैत्यवन्दनतः सभ्यक् शुभोभावः प्रजायते ।

तस्मात् कर्मक्षयं सर्वं, ततः कल्याण-मश्नुते ॥”

अर्थात्—चैत्यवन्दन सम्यक् प्रकार करने से शुभ भाव उत्पन्न होते हैं । शुभ भावों से कर्मों का क्षय होता है । कर्मक्षय से आत्मकल्याण होता है ।

श्वेतांबर जैनों की द्रव्य-भाव पूजन विधि

1. स्नात पूजा

श्रावक-श्राविकायें (गृहस्थ पुरुष-स्त्रियां) प्रतिदिन जिनमन्दिर में जाकर प्रायः स्नात पूजा का आयोजन करते हैं । यह पूजा करने का मूल उद्देशा प्रभु जिनेन्द्र देव के च्यवन (गर्भावतार) तथा जन्म होने पर पूजा करके उनके च्यवन और जन्म दोनों कल्याणकों का महोत्सव मनाना है इस पूजा में प्रायः वे सभी बातें आती हैं

जो प्रभु के माता के गर्भ में अवतरित होने पर उनकी माता जो चौदह महास्वप्न देखती है और गर्भ से जन्म लेने के बाद छप्पन दिक्कमारियों का जन्मगृह में तीर्थकर तथा तीर्थकर की माता का शुचिकर्म के लिए सब विधि का वर्णन एवं 64 इन्द्रों का देव-देवियों के साथ उपस्थित होकर मेरुपर्वत पर ले जाकर तीर्थकर का अभिषेक (स्नान), वस्त्रालंकार, गंध विलेपन आदि से पूजा करते हैं और बड़े ठाठ के साथ प्रभु का जन्म महोत्सव मनाने के लिए नन्दीश्वर द्वीप में जाकर शाश्वत जिनप्रतिमाओं की पूजा वन्दना करके आठ दिन लगातार अष्टान्हिका महोत्सव मनाते हैं।

श्रावक-श्राविकाओं की स्नातृ पूजा करते समय यह भावना होती है कि जिस प्रकार छप्पन दिक्ककुमारियों, इन्द्रों और देव-देवियों ने साक्षात् प्रभु का जन्म कल्याणक महोत्सव मनाकर उनकी पूजा भक्ति की थी वैसे तीर्थकर की अविद्यमानता में हम भी उनकी प्रतिमा द्वारा पूजा सेवा करके च्यवन तथा जन्म कल्याणकों का महोत्सव मनाकर आत्मकल्याण के लिए श्रद्धा और भक्ति से भावना करते हैं। आगम में कहा भी है कि जिन पद्मिमा जिन सारखी है। जिनप्रतिभा को जिन जैसी क्यों मानना उचित है, इसका विस्तार पूर्वक विवेचन हम जिनपूजा पद्धति में कर आए हैं।

स्नातृ पूजा के पश्चात् अष्टप्रकारी पूजा की जाती है। यथा

2. अष्टप्रकारी पूजा अर्थ तथा भावना सहित

1. जल पूजा

श्लोक—विमल केवल भासन भासकरं । जगति जन्तु महोदय कारणम् ॥

जिनवर बहुमान जलोघतः । शुचिमतः स्नपयामी विशुद्धये ॥1॥

अर्थ—जो जिनेश्वर प्रभु निर्मल केवलज्ञानरूपी सूर्य से प्रकाशित है, जो संसार के प्राणियों को उत्कर्ष के परमधाम हैं, ऐसे जिनन्द्र भगवान का मैं पूर्ण भक्ति सहित विशुद्ध मन से जल समूह से अभिषेक (जल पूजा) करता है।

भावना—प्रभु को जलादि से स्नान कराते समय मन में यह भावना होनी चाहिए कि हे प्रभु ! आप तो बाह्य-आभ्यन्तर से पवित्र हैं। आपकी जल से पूजा करने से मैं प्रार्थना करता हूँ कि पानी जैसे बाहर के मूल को दूर करता है, (2) तृष्णा को बुझाता है तथा (3) ताप को शांत करता है। ऐसे ही शुद्ध भाव रूपी जल से आपकी भक्ति करने से मेरी आत्मा के साथ अनादि काल से लगी हुई कर्म रूपी मूल दूर हो जावे, विषय-कषाय रूप तृष्णा बुझ जावे और त्रिविध ताप शांत हो।

2. चन्दन पूजा ॥

श्लोक—सकल-मोह-तमिल-विनाशनं । परम-शीतल-भाव-युतं जि नम् ॥

विनय कुंकम दर्शन चन्दनैः । सहज तत्त्व विकास-कृताऽर्चये ॥2॥

1. चन्दन पूजा प्रभु के नवांगों पर तिलक लगाकर करनी चाहिए। नवांग पूजा की विधि अर्थ सहित आगे लिखेंगे।

अर्थ—जिस जिनेन्द्र भगवान ने मोह रूपी अन्धाकर को नष्ट कर दिया है, जो प्रभु परम शांतिकारक स्वभाव के धारक हैं; उन वीतराग प्रभु की मैं विनय भावना सहित तथा सम्यग्दर्शन-श्रद्धा युक्त भाव से कुंकुम (केसर) तथा चन्दनादि से स्वभाविक आत्मोत्कर्ष की प्राप्ति के निमित्त चन्दन पूजा करता हूँ।

भावना—चन्दन केसर आदि से प्रभु की पूजा करते समय हृदय में यह भावना लानी चाहिए कि हे मगवन्! आपकी चन्दन से पूजा करने से—चन्दन जैसे काटने घिसने और जलने पर भी अपनी सुगन्ध और शीतलता को नहीं छोड़ता वैसे ही दुनियाँ के विविध प्रसंगों में मेरी आत्म-जागृति बनी रहे। मैं क्रोधादि कषायों के ताप से जल रहा हूँ उन पर विजय पाने के लिए मैं सब कुछ सहन कर सकूँ ऐसा उपशम (शांत) भाव मेरी आत्मा में आ जावे जिससे मेरे समभाव रूपी सुगन्ध से सब विश्व सुगन्धित हो जावे।

3. पुष्प पूजा

श्लोक—विकच-निर्मल-शुद्ध-मनोरमैः । विशद-चेतन-भाव-समुद्भवैः ।

सुपरिणाम-प्रसून-घनैर्नवैः । परम-तत्त्व-मयं हि यजाम्यहम् ॥3॥

अर्थ—जो फूल सुविकसित (खिले हुए), पवित्र, शुद्ध और अति सुन्दर सुगन्धित हैं; जो शुद्ध आत्मिक भावों की उत्पत्ति के साधनभूत हैं; जो सुन्दर मनो-भावनाओं के प्रतीक हैं ऐसे ताजे, सुन्दर सुगन्धित पुष्पों के समूह से मैं समस्त परम तत्त्वों के धारक श्री जिनेन्द्र भगवान की उत्कृष्ट भावों से पूजा रचाता हूँ।

भावना—ताजे, खिले हुए, अखण्डित और सुगन्धित फूलों से प्रभु की जो पूजा करते समय अपने मन में ऐसे विचार आने चाहिए—हे भगवन्! फूल जैसे सुगन्धित, कोमल और विकसित हैं। ऐसे फूलों से आपकी पूजा करने से काम विकारों तथा क्रोधादि कषायों की दुर्गन्ध का नाश होकर मेरा हृदय कोमल और निर्मल बन जावे जिससे शुद्धाचरण के पालन से परमात्म स्वरूप में रहने का बल प्राप्त हो। हे प्रभो! जिस प्रकार फूल आपकी शरण पाकर निर्भय, सब प्रकार के कष्ट और क्लामना से रहित होकर अभयदान पा जाते हैं और संतापों से रहित होकर अपनी सुगन्धी से चारों दिशाओं को सुगन्ध से भर देते हैं। वैसे ही मैं भी आपकी शरण पाकर सब क्लेशों, संतापों से रहित होकर परमशांति रूप वीतराग भाव को प्राप्त कर केवल-ज्ञान द्वारा भव्य प्राणी मात्र को तत्त्वों के सत्य स्वरूप के ज्ञान से सुवासित कर दूँ और अन्त में मोक्ष प्राप्त कर शाश्वत निर्भयता प्राप्त कर सकूँ।

4. धूप पूजा

श्लोक—सकल-कर्म मेहन्धन-दाहनं । विमल संवर-भाव सुधूपनम् ॥

अशुभ पुद्गल संग विसर्जन । जिनपते पुरतोस्तु सुहर्षतः ॥4॥

अर्थ—जो धूप समस्त कर्मरूपी ईन्धन को जलाने वाली है। निर्मल संवर भावना की सुगन्ध को प्रसारित करने वाली है, अशुद्ध पुद्गल परमाणुओं को दूर करने

वाली है उस धूप को श्री जिनराज के समक्ष खेता हुआ मैं धूप पूजा करता हूँ ।

भावना—धूप पूजा में सुगन्धित धूप परमात्मा के सामने खेते हैं। उस समय यह भावना करनी चाहिए कि जिस प्रकार धूप जलते हुए भी अशुभ गंध का नाश कर वातावरण को शुद्ध और सुगन्धित बनाकर सर्वत्र सुगन्ध ही सुगन्ध फैला देता है वैसे ही हे प्रभो ! आपकी धूप पूजा से मुझे भी ऐसा बल मिले जिससे मेरे अशुभ भावों का नाश हो और शुभ भाव रूपी सौरभ प्रगट हो कि मैं पूर्व कर्मों के योग से विविध ताप से जलते हुए भी आत्म जागृति की शक्ति द्वारा आस पास के लोगों में तथा विरोधी जीवों के हृदयों में शान्त वातावरण पैदा कर सकूँ एवं शील की सुगन्धी से सबके चित्त प्रसन्न कर सकूँ । जैसे धूप जलकर राख हो जाती है, हे भगवन ! वैसे ही मेरे सर्वकर्म भस्मीभूत हो जावें और जिस प्रकार धूप का धुआँ ऊर्ध्व गमन करता है उसी प्रकार मेरी आत्मा भी अष्टकर्म रूपी ईन्धन को जलाकर मोक्ष प्राप्त कर ऊर्ध्व गमन करे ।

5. दीप पूजा

श्लोक—भक्तिक निर्मल बोध विकासकं । जिनगृहे शुभ दीपक दीपनम् ॥

सुगुण राग विशुद्ध समन्वितं । दधतु भाव विकास कृतेऽर्चना ॥5॥

अर्थ—श्री जिनमंदिर में दीपक जलाना भव्य प्राणियों को सच्चे ज्ञान प्राप्ति का कारण है । यह दीपक सुन्दर गुण और भक्ति का प्रतीक है । अतः हे भगतजनो ! शुद्ध भावों की प्राप्ति के लिए दीप पूजा भक्ति सहित कीजिए ।

भावना—धी का दीपक प्रगट (जला) कर प्रभु की दीप से पूजा करते समय मन में ऐसी भावना होनी चाहिए कि हे परमात्मा ! आप सदा केवलज्ञान से प्रकाशमान हैं । जिस प्रकार दीपक अंधकार को दूर करता है और प्रकाश को प्रगट करता है उसी प्रकार मेरे हृदय में भी आप की भक्ति के प्रताप से अज्ञान रूपी अंधकार दूर हो, मलीन वासनार्यै नष्ट हों तथा सदा केलिए मेरे अन्तःकरण में शाश्वत ज्ञान की ज्योति जगमगती रहे ।

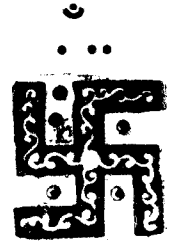
6. अक्षत पूजा

श्लोक—सकल मंगल केलि-निकेतनं । परम मंगल भाव मयं जिनम् ॥

अयति भव्य जना इति दर्शयन् । दधतु नाथ ! पुरोक्षत स्वस्तिकम् ॥6॥

अर्थ—श्री जिनेश्वर प्रभु समस्त कल्याण एवं क्षेम के स्थान हैं, परम मंगल भावना के धाम हैं । भक्तजन इसी भाव को व्यक्त करने के लिए अखण्ड चावलों का साधिया बनाकर अक्षत (चावलों से) पूजा करते हैं ।

भावना—दीनानाथ प्रभु के सामने अक्षत पूजा करते हुए चावलों से स्वस्तिक, उसके ऊपर तीन ढेरियाँ, ऊपर अर्धचन्द्राकार (सिद्धशिला) और उसके ऊपर एक ढेरी चावलों की बनाये जाते हैं । उस समय मन में यह भावना होनी चाहिए कि हे देवाधिदेव ! साधिया की चार पंखडियाँ चतुर्गति (देव, मनुष्य, तिर्यच एवं नारक) रूप हैं । इन पंखडियों के समान ये चारों गतियाँ भी भयंकर होने से टेढ़ियाँ हैं । इन चारों गतियों में मेरी आत्मा अनादि काल से भ्रमण कर रही है । मैं इन



में भ्रमण करते-करते बहुत परेशान हो गया हूँ इसलिए घबराता हूँ। आप श्री के सामने चावलों की तीन ढेरियाँ बनाकर यही चाहता हूँ कि इस चार गति रूप संसार समुद्र से पार होने के लिए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र रूप रत्नत्रय की प्राप्ति हो जिससे मैं पारावार इस संसार को पार कर मोक्ष प्राप्त कर सकूँ और निर्वाण पा कर सिद्धशिला पर निवास कर सकूँ।

जिस प्रकार धान पर से छिलका उतार लेने से (चावल) अक्षत, निर्मल, उज्ज्वल तथा शुद्ध हो जाते हैं और उनकी पुनः उगने की क्षमता समाप्त होकर जन्म-मरण से रहित हो जाते हैं। उनको बोने से भी कदापि किसी भी उपाय से अंकुरित नहीं होते; वैसे ही इस अक्षत पूजा से हे दीनदयाल प्रभो ! इन चावलों के समान मेरी आत्मा पर चढ़ा हुआ कर्मरूपी छिलका दूर हो जावे अर्थात् सर्वकर्मों से मेरी आत्मा अलिप्त हो जावे जिससे मेरी आत्मा अखण्ड, निर्मल, उज्ज्वल शुद्ध होकर जन्म मरण से रहित हो जावे।

7. नैवेद्य पूजा

श्लोक—सकल पुद्गल संग विधर्जनं । सहज चेतन भाव विलासकम् ॥

सरस भोजन नव्य निवेदनात् । परम निर्वृत्ति भाव महं स्पृहे ॥7॥

अर्थ—प्रभु की नैवेद्य (पक्वान्न) से पूजा आत्मा से समस्त कर्म पुद्गलों को दूर करती है स्वाभाविक आत्म-स्वभाव को विकसित करती है। इसलिए सरस (स्वादिष्ट उत्तम प्रकार के) नैवेद्य को चढ़ाकर मैं प्रभु से निर्वृत्ति भाव (निराहार पद) की याचना करता हूँ।

भावना—प्रभु के सामने विविध प्रकार के पक्वान्न चढ़ाकर पूजा करते समय यह विनती करनी चाहिए कि हे कृष्णासिंधो ! आपने रसनेन्द्रिय के विषयों पर विजय प्राप्त कर ली है और अनाहारी पद पा लिया है। परन्तु अनादि काल से इन पदार्थों को खाते-खाते मुझे न तो तृप्ति ही प्राप्त हुई है, न रसनेन्द्रिय की लोलुपता ही मिटी है और न ही मेरी तृष्णा एवं क्षुधा ही समाप्त हुई है। इन पदार्थों को पाने, खाने में ही मैं आनन्द मानता रहा हूँ। आप की नैवेद्य पूजा करने से मैं यही चाहता हूँ कि मैं निराहारी पद प्राप्त कर सदा आत्मा के आनन्द से ही तृप्ति पाऊँ। इसलिए मुझे अनाहारी पद पाने का बल प्राप्त हो।

8. फल पूजा

श्लोक—कटुक कर्म विपाक विनाशनं । सरस पक्व फल व्रज ढोकनम् ॥

वहति मोक्ष फलस्य प्रभो पुरः । कुरुत सिद्धि फलाय महाजनः ॥8॥

अर्थ—जो फल पूजा अनिष्ट कर्मों के फल को नष्ट करने वाली है, जो सरस पके फलों से की गई मोक्ष फल की प्रतीक है; हे भव्य प्राणियों ! श्रेष्ठ मनुष्यों ! तुम भी मोक्ष फल प्राप्ति के लिए इस पूजा को करो।

भावना—विविध प्रकार के स्वादिष्ट पके हुए फल प्रभु के सामने रखकर फलों से पूजा करनी चाहिए और मन में ऐसी भावना करनी चाहिए कि हे तरणतारण देव !

मैं इन फलों को प्राप्त करके अपने आत्म स्वरूप को भूल गया हूँ। अब मुझे ऐसा फल प्राप्त हो जिसके द्वारा मुझे आत्मा के स्वरूप का भान सर्वदा अखण्ड बना रहे। दूसरे फल की इच्छा ही न हो।

9. अर्घ्य पूजा

इति जिनवर वृन्दं-भक्तितः पूजयन्ति । सकल गुण निधानं देवचन्द्रं स्तुवन्ति ॥

प्रति दिवसमनन्तं तत्त्व मुद्भासयन्ति । परम सहज रूपं मोक्ष सौख्यं श्रयन्ति ॥9॥

अर्थ—उपाध्याय श्री देवचन्द्र मुनि कहते हैं कि इस प्रकार से भक्तजन सकल गुणों के भण्डार श्री जिनेश्वर भगवन्तों (24 तीर्थकरों) की सदा भक्तिपूर्वक पूजा करते हैं और इसके द्वारा वे अनन्त तत्त्व को प्राप्त करते हैं अतः वे स्वाभाविक मोक्ष तत्त्व को पाने के लिए अर्घ्यपूजा करते हैं।

भावना—अष्ट प्रकार की पूजा करके बाकी बचे हुए अष्टद्रव्यों को प्रभु के आगे चढ़ाकर और चारों तरफ जलधारा देकर प्रभुजी से सानुनय प्रार्थना करनी चाहिए कि हे दयानिधे ! आपकी इन अष्टद्रव्यों से पूजा करने से मेरे अष्टकर्मों का नाश हो बस यही चाहता हूँ।

10. वस्त्राभूषण पूजा

श्लोक—शक्रो यथा जिनपतेः सुरशैलचूला । सिंहासनोपरिमित स्नपनावसाने ॥

दध्यक्षतेः कुंसम-चन्दन गंध धूपैः । कृत्वाच्चन्दननु विदधाति सुवस्त्र पूजा ॥10॥

तद्वत् श्रावकवर्ग एष विधिनालंकार-वस्त्रादिकम् ।

पूजा तीर्थकृतां करोति शक्त्यातिभक्तयार्हृतः ॥

नीरागस्य निरंजनस्य विजतारातेस्त्रिलोकीपतेः ।

स्वस्यान्यस्य जनस्य निर्बृति कृते क्लेश क्षयाकाक्षया ॥11॥

अर्थ—मेरु पर्वत के शिखर पर विद्यमान सिंहासन पर जैसे शक्रेन्द्र प्रभु को जन्माभिषेक (जन्म का स्नान) कराने के बाद सुगन्ध, चन्दन, पुष्प, धूप आदि से पूजा करके उनको उत्तम जाति के वस्त्र अलंकारादि धारण कराता है वैसे ही जो श्रावक-श्राविकायें सदा अपनी शक्ति के अनुसार अतिभक्ति और उत्साह पूर्वक वीतराग, निरंजन, त्रिलोकीनाथ, केवलज्ञानी प्रभु की वस्त्र और अलंकारों (आंगी) से पूजा करते हैं, वे सर्वक्लेशों से मुक्त हो जाते हैं।

भावना—देवेन्द्रों, नरेन्द्रों द्वारा पूजित देवाधिदेव तीर्थकर भगवन्तों की वस्त्र और अलंकारों से पूजा करके ऐसी भावना करनी चाहिये—हे देवाधिदेव प्रभो ! आप धन्य हैं कि जन्माभिषेक के समय देव देवेन्द्रों द्वारा आपकी की गई वस्त्रालंकारों से भक्ति से आपके मन में इन बाह्य वस्तुओं पर न तो कोई आकर्षण ही हुआ न ममत्वभाव ही हुआ। राजकुमार अवस्था में भी आप को इन के प्रति कभी भी प्यार मोह नहीं था। दीक्षा लेने से एक वर्ष पहले वर्षादान देते समय आप के पास सब प्रकार की

समृद्धि की कोई कमी न होते हुए भी आप भाव मुनि की अवस्था में गृह में रहते हुए भी इन सब वस्तुओं का उपयोग करते हुए भी इनके प्रति सदा निराग भाव से ही रहे । दीक्षा के समय आप चक्रवर्ती के वेश में सुसज्जित होने पर भी आपको इनके प्रति मूर्छा छू नहीं पायी थी। मन में वैराग्य की उर्मियाँ हिलोरें खा रही थीं केवलज्ञान पाने के बाद स्वर्ण सिंहासन आदि आठ प्रातहार्यों तथा नव स्वर्णकमलों पर सदा विहार करते हुए भी आप सदा सर्व परिग्रह त्यागी ही थे। कारण यह है कि आपको इनके प्रति किंचित पात्र भी मूर्च्छा नहीं थी। हे धर्मचक्रवर्ती प्रभो ! जो लोग इस पूजा से आपको परिग्रह का आरोप करते हैं ऐसे अंध लोगों को सद्बुद्धि प्राप्त हो। धन्य हैं आप चक्रवर्ती की समृद्धि के प्रति भी सदा विरक्त रहे आप की अपार ऋद्धि-स्मृद्धि के सामने मेरे पास यह जो नग्न सांसारिक भोग उपभोग सामग्री प्राप्त है उससे चिपट कर अबोगति का भागी बन रहा हूँ। आप की इस पूजा करने से मेरी इस परिग्रह से मूर्च्छा छूटे। यह मूर्च्छा ही संसार में चौरासी लाख जीवायोनियों में अनादि काल से मेरी आत्मा को जन्म मरण के चक्र में उलज्झाये हुए है। मुझे आप की पूजा का यह फल हो कि मेरा संसार के प्रति अनासक्त भाव सदा जाग्रत रहे।

3. प्रभु के नव अंगों पर चन्दनादि से तिलक (टीकी) करने के दोहे।

1. दोनों चरणों के अंगूठों पर तिलक करने का दोहा
जलभरी संपुट-पत्र में, युगलिक-नर पूजन्त ।
ऋषभ चरण-अंगूठडे, दायक भव-जल अन्त ॥1॥

अर्थ:—हे ऋषभदेव प्रभो। जिस प्रकार युगलिये पुरुषों ने आपके चरणों के अंगूठों की पत्तों के दोनों (डूनों) में जलभरकर पूजा की थी उसी प्रकार मैं भी जल-चन्दनादि से आपके चरणों की पूजा करता हूँ। क्योंकि आपके चरण संसार में अनादि काल से भटकते हुए भव्य प्राणियों को शाश्वत शांति प्रदान करने (संसार का अन्त करने-मोक्ष देने) वाले हैं। अतः आपसे प्रार्थना है कि आपके चरण कमलों की भक्ति से मुझे भी मोक्ष प्राप्त हो।

2. दोनों घुटनों (गोड़ों) पर तिलक करने का दोहा

- जानू बले काउसगग रह्या, विचर्या देश-विदेश ।
खडे-खड़े केवल लह्या, पूजा जानू नरेश ॥2॥

अर्थ:—हे प्रभु ! आपने राजसी वैभवों का त्यागकर परम कल्याणकारी दीक्षा को ग्रहण किया तथा वर्षों तक कठोर तप करके अनेक प्रकार उपसर्गों और परिषर्गों को समता पूर्वक सहन करते हुए अपने घुटनों के बल खड़े-खड़े काउसगग किये। सर्वघाती कर्मों को क्षयकर केवलदर्शन, केवलज्ञान प्राप्त किये। उन्हीं घुटनों के द्वारा पैदल विहार करते हुए देश-विदेशों में विचर कर अनादि काल से इस भव अटवी में भटकते हुए भव्य प्राणियों को परम कल्याणकारिणी द्वादशांगी वाणी द्वारा सच्चा मार्ग बतला कर शाश्वत सुख प्रदान किया। हे प्रभो ! आपके गोड़ों की पूजा करने से मुझे भी केवलज्ञान प्राप्त हो और सर्व प्राणियों को मोक्ष मार्ग पाने को प्रेरित करूँ।

3. दोनों हाथों की कलाइयों पर तिलक करने का दोहा

लोकांतिक वचने करी, वरस्या वरसी दान ।

कर-कांडे प्रभु पूजनां, पूजा भवि बहुमान ॥3॥

अर्थ—हे प्रभो ! तीर्थ प्रवर्तान के लिए लोकांतिक देवों की प्रार्थना करने पर आपने तुरंत ही राजसी वैभव के व्यामोह का त्याग कर दीक्षा लेने का निश्चय किया और वरसीदान देना शुरू कर दिया । जिससे करोड़ों संकट ग्रस्त भव्य नर-नारियों को संतोष प्राप्त हुआ । हे दयानिधे ! मैं आपके उन पावन हाथों की कलाइयों की बहुमान पूर्वक पूजा करते हुए सविनय प्रार्थना करता हूँ कि मुझे भी ऐसी शक्ति प्राप्त हो कि मैं भी वरसी (लगातार एक वर्ष तक) दान दे सकूँ ।

4. दोनों कन्धों पर तिलक करने का दोहा

मान गयूँ दोय अंश थी, देखी वीर्य अनन्त ।

भुजा बलै भवजल तर्या, पूजो खंभ महन्त ॥4॥

अर्थ—हे प्रभो ! आपका अनन्त बल देखकर मान (अहंकार) सर्वथा समाप्त हो गया । हे भगवन ! इस संसार रूप समुद्र को आप अपने भुजाबल से तरे । इसलिए मैं आपके इस महान समर्थशाली कन्धों की बड़ी भक्ति पूर्वक पूजा करके प्रार्थना करता हूँ कि मुझ में भी आपके समान ऐसी शक्ति प्रगट हो कि बिना परमुखापेक्षी बने मुझ में अपने आत्मकल्याण को स्व पुरुषार्थ से प्राप्त करने का सामर्थ्य हो ।

5. सिर की चोटी में तिलक करने का दोहा

सिद्धशिला गुण ऊजली, लोकांते भगवन्त ।

वसिया तेने कारण भवि, शिर शिखा पूजन्त ॥5॥

अर्थ—हे भगवन ! आपने सब अघाती-घनघाती कर्मों का सर्वथा नाश करके कर्म रज से सर्वथा निर्लेप हो कर सब प्रकार के आत्मा के उज्ज्वल गुणों को प्राप्त कर लिया है । इस कारण से आप सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर लोक के सर्वोच्च स्थान के अग्र-भाग स्थित सिद्धशिला पर जा विराजे हैं । इसलिए हे जितेश्वर प्रभो ! मैं आपके सिर की चोटी की पूजा करके प्रार्थना करता हूँ कि मैं भी सब प्रकार के कर्मों को क्षय करके निरंजन निर्विकार स्वरूप (सिद्धावस्था) प्राप्त करके लोक के अग्रभाग में सिद्धशिला पर पहुँच जाऊँ ।

6. ललाट (मस्तक) पर तिलक पूजा का दोहा

तीर्थकर पद पुण्य थी, तिहुण जन सेवन्त ।

बिभुवन तिलक समां प्रभो ! भाल तिलक जयवन्त ॥6॥

अर्थ—हे तीर्थनाथ ! मोक्ष पाने से तीन जन्म पहले आपने वीसस्थानक का तप करके तीर्थकर नामकर्म का उपार्जन किया । उस कर्म के पुण्य प्रभाव (उदय) से इस जन्म में आपने तीर्थकर पदवी पाई है जिससे आप तीन (ऊर्ध्व, मध्य और अधो) लोक के समस्त प्राणियों के पूज्य बनकर सारे विश्व में तिलक समान हो गए हैं । अतः मैं आप

के भाल (ललाट) की भक्ति पूर्वक पूजा करके सविनय प्रार्थना करता हूँ कि आप की पूजा भक्ति (जो कि बीसस्थानक में से यह भी एक स्थानक है) से मुझे भी इस पद को प्राप्त करने का सामर्थ्य प्राप्त हो ।

7. गले पर तिलक करने का दोहा

सोल प्रहर प्रभो ! देशना, कण्ठे विवर वर्तूल ।

मधुर ध्वनी सुर नर सुनी, तेने गले तिलक अमूल ॥7॥

अर्थ—हे प्रभो महावीर स्वामी ! आप के अन्तिम समय (मोक्ष प्राप्ति) से पहले सोलह प्रहर (लगातार दो दिन रात) तक अपने पवित्र कंठ से सर्वजन कल्याणकारिणी धर्मदेशना दी । आपकी इस मधुर दिव्य ध्वनी को देवताओं, मनुष्यों और तिर्यंचो ने जन्म-जाति गत परस्पर के वैर-विरोध को सर्वथा त्याग कर एकाग्रचित्त से सुना । इसलिए मैं आपके कंठ की पूजा करके प्रार्थना करता हूँ कि मुझे भी ऐसी शक्ति प्राप्त हो ।

8. छाती पर तिलक करने का दोहा ।

हृदय कमल उपशम बले, बाल्या राग ने रोष ।

हिम दहे वण खण्ड ने, हृदय तिलक संतोष ॥8॥

अर्थ—हे प्रभो ! आपने हृदय की शान्ति द्वारा राग द्वेष को ऐसे जला डाला जैसे हिम-पात (बरफ गिरने) से जंगल में सब प्रकार के पेड़ पौधे जल जाते हैं । हे भगवन् ! मैं आपके ऐसे शान्त हृदय की पूजा करके यह प्रार्थना करता हूँ कि मेरे मन में भी ऐसी शान्ति निवास हो ।

9. नाभि पर तिलक करने का दोहा

रत्नत्रयी गुण ऊजली, सकल सगुण विश्राम ।

नाभि कमल नी पूजना, करतां अविचल धाम ॥9॥

अर्थ—हे प्रभो ! सर्व गुण निष्पन्न, उज्ज्वल (निर्मल) रत्नत्रयी (सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र) को धारण करने वाली आप की नाभि की मैं पूजा करता हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि मुझे अविचल-स्थान (मोक्ष) की प्राप्ति हो ।

10. नवांग पूजा करने का हेतु

उपदेशक नव तत्त्व ना, तिन नव अंग जिनन्द ।

पूजो बहु विध राग (भाव) थी, कहे शुभ वीर मुनीन्द ॥10॥

अर्थ—हे कल्याण करने वाले मुनियों में इन्द्र समान (तीर्थंकर प्रभो) ! राग-द्वेष जीतने में वीर प्रभो ! आप नव (जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा और मोक्ष) तत्त्वों के उपदेशक हैं इसलिए आपके बहुत भक्ति-भाव पूर्वक नव अंगों की पूजा करने से मैं नव तत्त्वों का हेय, ज्ञेय, उपादेय पूर्वक भलीभांति ज्ञान करके शुद्ध श्रद्धापूर्वक संवर और निर्जरा द्वारा मोक्ष प्राप्त करूँ ।

शुभ वीर मुनींद शब्दों से इस पूजा को बनाने वाले मुनि श्री शुभ वीरविजय जी ने अपने नाम का भी सूचन किया है ।

नोट—जिस समय अंग पूजा, अग्रपूजा से द्रव्य पूजा करते हों उसके बीच में भाव पूजा नहीं करनी चाहिए और जब भाव पूजा (चैत्यवन्दन स्तवन आदि) करते हों तब द्रव्य पूजा नहीं करनी चाहिए। इसी बात को लक्ष्य में रख कर तीन स्थानों में 'निसीहि' बोली जाती है।

4. जिनप्रतिमा से ईश्वरोपासना का उद्देश्य

उपर्युक्त पूजा की विधि में ईश्वरोपासना द्वारा अनादि काल से संसार में भटकती हुई आत्मा को सर्व कर्मों से मुक्त कर उसके शुद्ध स्वरूप को प्रगट करना है जिस से शाश्वत सुख रूप मोक्ष की प्राप्ति हो सके और यह ईश्वर के चरित्र के अनुकरण से ही सम्भव है।

मानव को चरित्र निर्माण, आत्मोत्थान के लिए एक ऐसे आदर्श की आवश्यकता है कि जिस आत्मा ने पतित अवस्था से उत्थान पाते पाते ऊँचे उठते-उठते क्रमशः उच्च, उच्चतर, उच्चतम अवस्था को प्राप्त किया हो। क्योंकि जब तक किसी भी चित्रकार के सामने किसी आदर्श चित्र की आकृति अथवा उस आकृति की कल्पना उस के मन में नहीं होगी तब तक वह चित्र का निर्माण नहीं कर पायेगा। यह बात निःसंदेह है। इसी प्रकार आत्मा को मोक्ष प्राप्त करने के लिए भी ऐसे आदर्श व्यक्ति के चरित्र के अनुकरण की आवश्यकता है कि जिसने अपने ही पुरुषार्थ बल से पतित अवस्था से उत्थान पाते-पाते आत्मा को शुद्धतम सीमा तक पहुँचाने में सफलता प्राप्त की हो। ऐसा चरित्र जैन तीर्थंकर के सिवाय अन्य किसी भी स्वरूपवाले ईश्वर का नहीं है। चरित्र शरीरधारी का ही होता है अशरीरी का नहीं। मानव शरीरधारी है इसलिए ऐसे उत्तम शरीरधारी मानव की भक्ति और उपासना के द्वारा ही उस आदर्श का अनुकरण करने की प्रेरणा पा सकता है। इसलिये वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकरदेव की प्रतिमा के आलम्बन के द्वारा ही अथवा साक्षात् तीर्थंकरदेव के द्वारा ही उनके चरित्र का साक्षात्कार करके उसे प्राप्त करने की जिज्ञासा सम्भव है। इसी उद्देश्य को लेकर श्री जिनप्रतिमा के आलम्बन से मुमुक्षु आत्माओं को अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए। यही ईश्वरोपासना का उद्देश्य है।

कोई भी तीर्थंकर की आत्मा एक दिन में, एक भव में तीर्थंकर पद प्राप्त नहीं कर पाती। उस आत्मा को इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए अनेक जन्मों तक साधना करनी पड़ती है। इस साधना में अनेक प्रकार के उत्थान और पतन आते रहते हैं। इस बात की पुष्टि जैनगामों में अन्तिम तीर्थंकर श्रमण भगवान महावीर के 27 स्थूल भवों से बराबर होती है कि उन्होंने एक निम्न अवस्था से उत्थान पाते हुए उच्चतम अवस्था को कैसे प्राप्त किया। तीर्थंकरों का अन्तिम भव तो उच्चतम अवस्था को पूर्णतः प्राप्त कर आत्मा को सर्व कर्मों से मुक्त कराकर निर्वाण प्राप्त करने के लिये होता है।

इसी प्रकार मुमुक्षु आत्मा को भी अपने साधना काल में अनेक प्रकार की

विघ्न-बाधाएं आयेंगी, उत्थान-पतन आयेंगे, परन्तु उसे तो अपने लक्ष्य को जागृत रखते हुए आराधना-साधना करते रहना चाहिये। सतत् प्रयत्नशील व्यक्ति ही अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफलता प्राप्त कर पाता है।

1. ध्यान करने का क्रम

ध्यान करने वाले मनुष्य की क्या योग्यता होनी चाहिये? जिसका ध्यान करता हो वह ध्येय कैसा होना चाहिए? तथा ध्यान करने से क्या फल होता है; ये तीनों ध्यान, ध्येय और फल का स्वरूप अवश्य जानना चाहिये। क्योंकि सम्पूर्ण सामग्री जानने और प्राप्ति बिना कभी भी कार्य सिद्ध नहीं होता।

2. ध्यान करने वाले का लक्षण

(1) प्राण संकट में आ जावें तो भी चारित्र्य को दोष न लगाने वाला, (2) दूसरे प्राणियों को अपने समान देखने वाला, (3) समिति गुप्ति रूप अपने स्वरूप से पीछे न हटने वाला, (4) सर्दी-गर्मी धूप-वर्षा वायु-आंधी आदि से खेद न पाने वाला (5) आराधना के करनेवाले योग रूपी अमृत रसायन को पीने की चाहना वाला, (6) राग द्वेषादि से पीड़ित न होने वाला, (7) क्रोध, मान, माया, लोभादि से दूषित न होने वाला, (8) सर्व कार्यों में निर्लेप और आत्मभाव में रमण करने वाला, (9) काम-भोगों से विरक्त, (10) अपने शरीर पर भी निस्पृह, (11) संवेग में मग्न, (12) शत्रु-मित्र स्वर्ण-पत्थर, निन्दा-स्तुति आदि सब में समभाव रखने वाला, (13) चाहे राजा हो, चाहे रंक, चाहे अमीर हो अथवा गरीब सबके लिये तुल्य कल्याण का इच्छुक, (14) सर्व जीवों पर अनुकम्पा करने वाला, (15) हृदय से निर्भीक, (16) चन्द्र के समान शीतल आनन्ददायक, (17) वायु के समान असंग (अप्रतिबद्ध) ऐसी स्थिति वाला विचक्षण ध्याता ध्यान करने योग्य है।

3. मन की स्थिति के भेद

ध्यान का सर्व आधार मन पर है। मन की अवस्थाओं को जाने बिना और उसे उच्च स्थिति में लाये बिना ध्यान नहीं हो सकता। इसलिये यहां मन की स्थिति के भेद बतलाते हैं। मन के भेद—1. विक्षिप्त, 2. यातायात, 3. श्लिष्ट, 4. सुलीन।

4. मन के लक्षण

(1) विक्षिप्त मन को चपलता इष्ट है, (2) यातायात मन थोड़ा आनन्दवाला है। प्रथम में यह दोनों प्रकार का ही मन होता है और इनका विषय विकल्प को ग्रहण करने वाला होता है।

प्रथम अभ्यासी जब अभ्यास करता है तब मन में अनेक प्रकार के विक्षेप आते रहते हैं। मन स्थिर नहीं होता, चमलता ग्रहण किया करता है। इस पर से अभ्यासी को हताश अथवा निराश नहीं होना चाहिये।

एक मृग जब जाल के पाश में फँस जाता है, तब वह उससे छूटने केलिये छटपटाता है, दौड़-धूप करने में भी किसी प्रकार की कमी नहीं रखता। यदि यह देख कर शिकारी उसे छोड़ दे तो वह अवश्य छूट आयेगा, फिर कभी हाथ में नहीं आयेगा।

यदि शिकारी उसे दृढ़ता से बांधकर दौड़-धूप करने दे तो अन्त में वह थककर हार जायेगा और दौड़ धूप छोड़कर स्थिर हो जायेगा। इसी प्रकार प्रथम अभ्यासी मन को ऐसी चपलता और विक्षेपता देखकर यदि निराश हो जाये और अपना अभ्यास छोड़ दे तो मन छूट जायेगा। फिर कभी काबू नहीं आवेगा। यदि हिम्मत रखकर ध्याता अपना अभ्यास आगे बढ़ाता चला जावेगा तो बहुत चपल और विक्षिप्त मन भी शांत होकर स्थिरता प्राप्त कर लेगा। पहली विक्षिप्त दशा लांघने के बाद—

2. दूसरी दशा मन की यातायात की है। यातायात का मतलब है आना और जाना। थोड़ी देर मन स्थिर रहे फिर भाग निकले अर्थात् विकल्प आ जाए। फिर समझा बुझाकर मन स्थिर किया पर दूसरे क्षण चला जाय। यह मन की यातायात अवस्था है। पहली विक्षिप्त दशा से दूसरी यातायात श्रेष्ठ है और इसमें कुछ आनन्द का लेश रहा हुआ है; क्योंकि जितनी बार मन स्थिर होगा उतनी बार तो आनन्द का अनुभव होगा ही।

3. तीसरी अवस्था श्लिष्ट मन की है। यह अवस्था स्थिरता और आनन्द वाली है। जितनी स्थिरता उतना ही आनन्द। मन की इस तीसरी अवस्था में दूसरी अवस्था से विशेष स्थिरता होने से आनन्द भी विशेष होता है।

4. सुलीन मन की चौथी अवस्था यह निश्चल और परमानन्द वाली अवस्था है जैसा नाम है वैसे ही गुण भी है। तीसरी अवस्था के मन से भी इस चौथी अवस्था में मन की अधिक निश्चलता तथा स्थिरता होती है। इसलिये इसमें आनन्द भी अलौकिक होता है। इस मन का विषय आनन्द और परमानन्द है।

5. परमानन्द प्राप्ति का क्रम

आत्मसुख का अभिलाषी ध्याता अन्तरात्मा द्वारा बाह्यात्म भाव को दूर करता है और तन्मय होने के लिए निरन्तर परमात्म भाव का चिन्तन करता है।

6. बहिरात्म भाव का स्वरूप

शरीर, परिवार, धन, स्वजन आदि के आत्मबुद्धि से ग्रहण करने वाले को यहाँ बहिरात्मा कहा है। शरीर मैं हूँ अथवा शरीर मेरा है ऐसा मानने वाला, धन, स्वजन, स्त्री, कुटुम्ब, पुत्र आदि को अपना मानने वाला—यह बहिरात्म कहलाता है।

7. अन्तरात्म भाव

शरीर आदि का अधिष्ठता वह अन्तरात्मा कहलाता है। अर्थात् शरीर का मैं अधिष्ठता हूँ, शरीर में रहने वाला हूँ शरीर मेरा रहने का घर है अथवा शरीर का मैं दृष्टा हूँ। इसी प्रकार धन, स्वजन, कुटुम्ब, स्त्री, पुत्र, पत्नि आदि सब संयोगिक हैं तथा पर हैं। मैं शरीर से भिन्न शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा हूँ। शुभाशुभ कर्म विपाक जन्म यह संयोग वियोग में हर्ष शोक न करके द्रष्टा मात्र रहे वह अन्तरात्मा कहलाती है और ऐसे विचार अन्तरात्म-भाव कहलाते हैं।

8. परमात्म स्वरूप

ज्ञान स्वरूप, आनन्दमय, समग्र उपाधि रहित, शुद्ध, इन्द्रिय अगोचर तथा अनन्त गुणवान् । यह परमात्मा का स्वरूप है ।

9. ध्याता (योगी) स्खलना नहीं पाता

आत्मा से शरीर को जुदा जानना तथा शरीर से आत्मा को जुदा जानना; इस प्रकार आत्मा और देह के भेद को जानने वाला योगी निश्चय करके आत्मा प्रगट करने में कभी स्खलता नहीं पाता ।

जिनकी आत्माज्योति कर्मों से दब गई है—तिरोहित हो गई है; ऐसे मूढ़ जीव जब आत्मा के भान को भुलाकर पुद्गल में सन्तोष पाते हैं सब बहिर्भाव में सुख की भ्रांति की निवृत्ति पाये हुए योगी आत्मा के स्वरूप के चिंतन में ही सन्तोष पाते हैं ।

जो साधक आत्मज्ञान को ही चाहता हो, दूसरे किसी भावना-पदार्थ के सम्बन्ध में प्रवृत्ति अथवा विचार न करता हो तो आचार्य निश्चय करके कहते हैं कि ऐसे ज्ञानी पुरुषों को बाह्य प्रयत्न के बिना मोक्ष पद प्राप्त हो सकता है ।

जैसे सिद्धरस के स्पर्श से लोहा सोना बन जाता है वैसे ही आत्म ध्यान से आत्मा परमात्मा को पा लेती है ।

जैसे निद्रा में से जागृत मनुष्य को सोने से पहले के जाने हुए कार्य किसी के कहे अथवा बतलाये बिना ही याद आ जाते हैं वैसे ही जन्मान्तर के संस्कारों वाले साधक को किसी के उपदेश के बिना ही निश्चय तत्त्वज्ञान प्रकाशित होता है ।

साधक मन वचन काया की चंचलता को बहुत प्रयत्न पूर्वक रोके और रस के भरे हुए बरतन के समान आत्मा को शांत, निश्चल, स्थिर तथा निर्मल अधिक समय तक रखे ।

10. आत्मा को स्थिर रखने का क्रम

रसके पात्र में रहे हुए रस के समान आत्मा को स्थिर रखे । रस को स्थिर रखने केलिये उस रस के आधारभूत पात्र को भी निश्चल रखना ही चाहिये । क्योंकि पात्र रस का आधार है उसमें जितनी अस्थिरता रहेगी उस अस्थिरता का प्रभाव आधेय (रस) पर अवश्य पड़ेगा । इसलिये मन, वचन, काया, आत्मा के आधार रूप हैं और आत्मा आधेय रूप है । आधार की विकलता अथवा स्थिरता का प्रभाव आधेय पर अवश्य होता है । यह अस्थिरता एकाग्रता के सिवाय बन्द नहीं हो सकती । एकाग्रता करने केलिये भी क्रमवार अभ्यास करने की आवश्यकता है । एकाग्रता होने पर ही लय और तत्त्व ज्ञान की स्थिति प्राप्त की जा सकती है । अतः आत्मा को निश्चल रखने केलिये मन, वचन, काया को क्षोभ न हो; इसकी पूरी पूरी सावधानी रखनी चाहिए । अतः पूरी सावधानी से एकाग्रता करनी चाहिए ।

11. एकाग्रता

मन की बार बार परावर्त प्राप्त करने वाली स्थित को शांत करना और मन

को किसी एक ही आकृति अथवा विचार अथवा गुण पर दृढ़ता से लगा रखना, इसे एकाग्रता कहते हैं। अभ्यासियों को प्रारम्भ में एकाग्रता करने के लिए जितनी मेहनत करनी पड़ती है उतनी मेहनत किसी भी प्रकार की क्रिया में नहीं करनी पड़ती। एकाग्रता रखने की क्रिया बहुत शिक्षाप्रद तथा कष्टसाध्य लगती है। परन्तु आत्म-विशुद्धि के लिये एकाग्रता प्राप्त किये बिना दूसरा कोई उपाय ही नहीं है। इनके बिना आगे बढ़ना असम्भव है। इस लिये प्रबल प्रयत्न करके भी एकाग्रता सिद्ध करनी चाहिये।

12. एकाग्रता करने की रीति और उपयोगी सूचना

मन में उत्पन्न होने वाले विकल्पों का कोई उत्तर न देने से अभ्यास दृढ़ होता है। ऐसा करने के विचारों की प्रत्युत्तर देने की वृत्तियाँ शांत हो जाती हैं। एकाग्रता में पूर्ण शांति-व्यवस्था की जरूरत है। अर्थात् विकल्प उत्पन्न न होने देना इसके लिये स्थिर शांति रखनी चाहिये। यह शांति इतनी प्रबल होनी चाहिये कि वाह्य किसी भी निमित्त से चालू बिषय के सिवाय मन को परिणामांतर कदापि न हो। तथा अमुक विकल्प को रोकना है ऐसा भी मन में परिणमन नहीं होना चाहिये। प्रायः देखा जाता है कि एकाग्रता में मन की प्रवृत्ति शांत नहीं होती। पर अपनी समग्र शक्ति इस की प्राप्ति में लगा देनी चाहिये। एकाग्रता में ध्येय की एक आकृति पर ही अथवा एक विचार पर ही दृढ़ रहने से मन स्थिर होता है।

13. एकाग्रता प्राप्त मन की शक्ति

जैसे नदी की अनेक धाराएँ जुदा जुदा हो जाने पर नदी पूर्ण प्रवाह के मूल बल को विभाजित कर देती है और बल के विभाजित हो जाने पर जल के प्रवाह में भी मंदता आ जाती है। जैसे नदी के एक प्रवाह रूप बहने से जिस प्रबलता और वेग से कार्य हो सकता था वह जुदा जुदा प्रवाह में बहने से नहीं हो सकता। वैसे ही एकाग्रता के एक ही प्रवाह में बहन करने वाला और उसके द्वारा मजबूत हुआ प्रबल मन जो अल्प समय में कार्य कर सकता है; वह अस्त-व्यस्त अवस्था में कभी नहीं कर सकता। अतः एकाग्रता की महान उपयोगिता के लिये महापुरुषों ने विशेष आग्रह किया है।

14. आत्म लय की अवस्था

इस प्रकार किसी एक पदार्थ पर एकाग्रता प्राप्त करने से मन पूर्ण विजय प्राप्त करता है। अर्थात् महूर्त (48 मिनट) तक पूर्ण एकाग्रता में मन रह जाने पर पश्चात् उस पदार्थ के विचार को छोड़ देना चाहिए और किसी भी पदार्थ के चिंतन की तरफ मन को प्रेरित किये बिना स्थिर करना चाहिये। इस अवस्था में मन किसी भी आकार में परिणत नहीं होता। मन तरंग बिना सरोवर के समान शांत अवस्था में रहता है। यह अवस्था स्वल्प काल से अधिक नहीं रहती जब अवस्था में शांत मन होता है तब मन रूप परिणत आत्मा मन से जुदा होकर स्व-स्वरूप में रमण करता है।

इस स्वल्प समय की उत्तम अवस्था को लय अवस्था कहते हैं। यह लय अवस्था अधिक समय तक रहने से आत्मज्ञान प्राप्त होता है।

इस प्रकार एकाग्रता का अंतिम फल बतलाकर एकाग्रता कैसे करनी

चाहिये। इस विषय पर कुछ विवेचन करते हैं।

15. रूपस्थ-मानसी पूजा

नीचे लिखे स्वरूप वाले शरीरधारी तीर्थंकर प्रभु का ध्यान-रूपस्थ ध्यान है। मोक्ष लक्ष्मी प्राप्त करने की तैयारी है, जिन्होंने सर्वघाती कर्मों का नाश किया है। देशना (धर्मोपदेश) देते समय देवताओं द्वारा निर्मित तीन बिंबों से चार मुख सहित हैं, तीन भुवन के सब प्राणियों को अभयदान दे रहे हैं अर्थात् किसी भी प्राणी की हिंसा न करने का उपदेश देने वाले, चन्द्र मंडल सदृश उज्ज्वल तीन छत्र जिनके सिर पर सुशोभित हैं, सूर्यमंडल की प्रभा को भी मात करता हुआ भामंडल जिन के पीछे जगमगाहट कर रहा है, दिव्य दुंदुभि वाजितों के शब्द हो रहे हैं, गीतगान की सम्पदा का साम्राज्य छा रहा है, जिनके सिर पर शब्दों द्वारा गुंजायमान भ्रमरों से अशोक वृक्ष वाचालित होकर शोभायमान हो रहा है, बीच में स्वर्ण सिंहासन पर तीर्थंकर प्रभु विराजमान हैं, दोनों तरफ चामर डोलाये जा रहे हैं, नमस्कार करते हुए देवों और दानवों के मुकुट के रत्नों से चरणों के नखों की कान्ति प्रदीप्त हो रही है, सुगंधित पुष्पों के समूह से पर्षदा की भूमि सुगंधित हो रही है, ऊँची गर्दनें (ग्रीवाएँ) करके मृगादि पशुओं के समूह जिनकी मनोहर ध्वनि का पान कर रहे हैं, सिंह-हाथी, सांपों-न्योला, गाय-बाघ आदि जन्म जात वैर स्वभाव वाले प्राणी भी अपने अपने वैर भावों को शांत करके पास-पास में बैठे हैं स्त्री-पुरुषों की मानव मेदनी, देव-देवियों के समूह धर्मदेशना का श्रवण करके आनन्दित हो रहे हैं, सर्व अतिशय से परिपूर्ण, केवलज्ञान से सुशोभित तथा समोसरण में विराजित उन परमेष्ठि अरिहंत के रूप का इस प्रकार आलम्बन लेकर जो ध्यान किया जाता है उसे रूपस्थ ध्यान कहते हैं।

राग-द्वेष और महामोह अज्ञानादि विकारों से कलंक-रहित शांत-कांत-मनहर सर्व उत्तम लक्षणों वाली योग मुद्रा-काउसग मुद्रा-ध्यान मुद्रा की मनोहरता को धारण करने वाली, आंखों को महान आनन्द तथा अद्भुत अचपलता को देने वाली, जिनेश्वर देव की प्रतिमा का निर्मल मन से निमेषोन्मेष रहित खुली आंखें रखकर एक ही दृष्टि से ध्यान करने वाला रूपस्थ ध्यानवान कहलाता है। ऐसा ध्यान साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका सब मुमुक्षुओं को करना चाहिए।

जिनेश्वर देव की शांत तथा आनन्दित मूर्ति के सन्मुख खुली आंखें रखकर एक टक दृष्टि से देखते रहें। आंखें झपकनी अथवा हिलनी नहीं चाहिये। शरीर का भ्रान भी भूल जाना चाहिये। जिससे एक नवीनदशा में प्रवेश होकर अपूर्व आनन्द की प्राप्ति और कर्म की निर्जरा होती है। इस दशा वाले को रूपस्थ ध्यानवान कहते हैं। ऐसा कोई भी आलम्बन हो जिससे आत्मिक गुण प्रगट हों तो इसे आलम्बन नाम का ध्यान कहते हैं।

चित्त को एकाग्र निर्मल एवं स्थिर करने केलिये ध्यान की आवश्यकता है। ध्यान कैसे आरम्भ करना चाहिये इसके विषय में यहाँ थोड़ा सा विवेचन किया

जाएगा। ध्यान केलिये दृष्टि की स्थिरता बहुत उपयोगी है। उसको स्थिर बनाने के लिये पहले परमात्मा की सुन्दर मूर्ति की ओर खुली आँखों से बहुत समय तक एक टक देखने का अभ्यास करना चाहिये। आँखें नहीं झपकाना चाहिये। यदि आँखों में पानी आजाए तो उसे आने देना चाहिए, परन्तु आँखें बन्द न करनी चाहिये। आरम्भ में आँखों में पानी आ जावे तब देखना बन्द कर देना चाहिये। फिर दूसरे दिन देखना चाहिये। दिन में दो बार प्रातः और संध्या को अभ्यास करना ठीक होगा। जब पन्द्रह मिनट तक देखने का अभ्यास हो जाये तब भगवान की मूर्ति के सामने से दृष्टि एकदम हटाकर आँखें बन्द करके अपने अन्तरंग में देखना चाहिये बाद में एकान्त पवित्र तथा ड्रांस मच्छर रहित स्थान में बैठकर अन्य सब विचारों को दूर कर प्रतिमा जी को हृदय में स्थापन कर उनकी अष्टप्रकारी मानसिक पूजा करनी चाहिए।

मानसिक पूजा (मन के द्वारा जल, चन्दन, पुष्पादि की प्रत्येक वस्तु की कल्पना करते हुए पूजा) करके पहले प्रभु के दाहिने पैर के अंगूठे को देखने की कल्पना करनी चाहिये, बार-बार इस कल्पना को खड़ी करना चाहिये। जब यह अंगूठा दिखाई दे, उस पर धारणा पक्की हो जाय कि कल्पना करते ही वह अंगूठा झट से प्रत्यक्ष की तरह मालूम होने लगे तब दूसरी अंगुलियाँ देखनी। पश्चात् इसी प्रकार दूसरा पग देखना। इसी तरह पालथी, कमर, हृदय और मुखादि कमशः देखना। तत्पश्चात् संपूर्ण शरीर पर धारणा करनी चाहिये। जब तक एक भाग बराबर दिखलाई न देने लग जाय तब तक दूसरे भाग पर नजर नहीं डालनी चाहिये। दूसरा भाग दिखलाई देने लगे तब पहला और दूसरा दोनों भाग एक साथ देखने लगना। इस प्रकार आगे के भागों के साथ भी पहले के भागों के साथ मिलाकर देखते जाना चाहिए। सम्पूर्ण शरीर जब भलीभाँति दिखलाई देने लगे तब इस मूर्ति को सजीव प्रभु के रूप में बदल देना चाहिये अर्थात् ऐसी कल्पना करके ध्यान करना चाहिये कि प्रभु का शरीर हलनचलन कर रहा है, बोल रहा है इत्यादि। फिर इच्छानुसार प्रभु को बैठे, खड़े अथवा सोने की कल्पना कर उस की धारणा को दृढ़ करना। इस एकग्रता के साथ प्रभु के नाम का मन्त्र 'ओम् अहं नमः' का जाप करते रहना चाहिये। उनके हृदय में दृष्टि स्थापित कर वहीं जाप करते रहना चाहिये। यदि गिनती न रहे तो कोई हानि नहीं है। भुकुटी और तालु पर भी जाप करना चाहिये। जितना समय मिले भगवान् के जीवित शरीर को सन्मुख हृदय में खड़ा करके जाप करते ही रहना चाहिये। यदि हो सके तो घण्टों के घण्टों तक ध्यान में व्यतीत करते रहना चाहिये। ऐसा करने से मन एकाग्र होने के साथ साथ पवित्र होता है। कर्ममल जल जाता है। मन जितना जितना निर्मल होता जाएगा उतना ही स्थिर होता जायेगा। मन को स्थिर करने की धारणा हृदय और मस्तक पर करनी चाहिये। जैसे जैसे अभ्यास बढ़ता जायेगा वैसे ही वैसे आगे का मार्ग हाथ में आता जायेगा। इस प्रकार प्रारम्भ में ध्यान का अभ्यास करने से आगे बढ़ सकेंगे, अर्थात् महान धमानी बना जा सकेगा।

16. व्यवहार में वृत्ति स्वरूप का अवलोकन

हमारे मन के अन्दर जो भिन्न-भिन्न प्रकार के विचार उत्पन्न होते हैं उनका जब कुछ अधिक स्थूल रूप हो जाता है तब उसे वृत्ति कहा जाता है। वृत्तियाँ मन में उत्पन्न होती हैं। ये बीज स्वरूप हैं। जैसे कि एक में से अनेक बीज पैदा किए जा सकते हैं वैसे ही वृत्ति के साथ जब अपनी राग अथवा द्वेष वाली भावना मिलती है तब उससे अनेक वृत्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। हमारा रात दिन का व्यवहार इन वृत्तियों को पोषण करने वाला है। नवीन कर्मों के बन्धन और उनके कारण भावि में प्राप्त होने वाले जन्म का आधार मन में उत्पन्न होने वाली वृत्तियाँ ही हैं। यदि मन के अन्दर सात्विक भाव वाली वृत्तियाँ उत्पन्न हो जाएँ अथवा निरन्तर आत्म जागृति रख प्रबल पुरुषार्थ द्वारा परमार्थी आचरण बनाकर, सात्विक भाव वाली वृत्तियों को ही उत्साहित करें तथा व्यवहार के हरेक प्रसंग पर उन्हीं को टिका रखें तो हम अपना भावी जन्म तथा वर्तमान जीवन बहुत ऊँचा बना सकेंगे।

यदि हमारा आचरण मात्र व्यवहार केलिये तथा परमार्थ भी व्यवहार की अनुकूलता केलिये ही होंगे तो इससे हमारी राजस प्रकृति पोषण पायेगी। जिससे हमारा जीवन मध्यम दर्जे का बन जायेगा। यदि हमारा आचरण केवल स्वार्थ वासनाओं को ही पोषण करने वाला है तो इन्हें स्वार्थ और वासनाओं को प्राप्त करने केलिये विविध प्रकार की रौद्र प्रवृत्तियों वाला एवं अनेक जीवों का संहार करने वाला होगा तो हमारी वृत्तियाँ तामस भाव द्वारा पोषण पाकर हमारे भावी जन्म को बिगाड़ देंगी। अर्थात् इसके परिणाम स्वरूप हमें भावी जन्म बहुत ही खराब प्राप्त होगा।

संक्षेप में कहें तो हमारी मनोवृत्तियों का सात्विक, राजसिक और तामसिक इन तीन प्रकार की वृत्तियों में समावेश हो जाता है। यह प्रत्येक वृत्ति विवेक और विचार बल से बदली जा सकती है। चाहे कैसे भी विषम प्रसंग क्यों न हों उन्हें भी हम विचार बल और विवेक की सहायता से बदल सकते हैं। तामसिक और राजसिक प्रकृति को सात्विक रूप से बदलकर आत्मा को पतन की ओर से रोककर उन्नत बना सकने का सामर्थ्य हमारे हाथ में है। जब कभी प्रसंग अपने हाथ में आये तब उसे जाने नहीं देना चाहिये। चिरकाल से परिपुष्ट बनी नीच प्रवृत्तियाँ अपना दुःखमय प्रभाव दिखलाये बिना नहीं रहेगी।

दुनिया में बड़े बड़े कहे जाने वाले मनुष्यों की वृत्तियों का पोषण भी बड़ा ही होता है। परन्तु यदि वे आत्मभाव की तरफ जागृत होंगे तथा वृत्तियों के पोषण से उत्पन्न होने वाले सुख-दुःख का उन्हें ध्यान होगा तो वे अधम प्रवृत्तियों का पोषण नहीं करेंगे। यदि जीवन हल्का नीच होगा तो नीच वृत्तियों का ही पोषण होगा। यदि जीवन उच्च होगा तो उसकी वृत्तियाँ भी उच्च प्रकार का पोषण पायेंगी। अच्छे या बुरे निमित्त से वृत्तियों में परिवर्तन हुए बिना नहीं रहता।

राजा यदि सात्विक वृत्ति का होगा तो उसमें अहिंसा, सत्य, प्रमाणिकता, क्षमा, नम्रता, उदारता, परोपकार, प्रेम, सत्कार, न्यायाशील, वीरता, वात्सल्य, ज्ञान,

भक्ति, परमार्थ, सेवा, रक्षण, दान, गुरुभक्ति, अथिति-सत्कार, विनय आदि उच्च वृत्तियाँ ही पोषण प्राप्त करेंगी। यदि राजसी प्रकृति वाला वैभवशाली जीवनवाला, विलासी स्वभाव वाला होगा तो उसमें विषयेच्छा, स्वार्थपरता, महत्वता, स्वार्थ साधन परोपकार, दया दान कीर्ति और कर्त्तव्य पालन आदि मध्यम वृत्तियाँ ही पोषण पायेंगी तथा स्वार्थमय भावना में अथवा इच्छार्णुपुष्ट होते हुए प्रसंगोपात अनेक प्रकार की हल्की नीची वृत्तियाँ अन्तःकरण में बढ़ती जाएंगी।

और यदि राजा तामसी प्रकृतिवाला होगा तो अपने भोजन केलिये मीज-शौक केलिये और अधिकार केलिये उसके मन में क्रोध, अभिमान, कपट, लोभ, राग-द्वेष तिस्कार, अन्याय, असत्य, अप्रमाणिकता, व्यभिचार, कुव्यसन, कायरता, अधर्म, अनीति, निर्दयता, दम्भ, महत्ता, ईर्ष्या, द्वेष और मोह इत्यादि वृत्तियों का पोषण होगा तथा उन पोषण पाई हुई वृत्तियों को भोगने केलिये जहाँ अनुकूलता होगी वहीं उसे फिर जन्म लेना पड़ेगा।

धर्मगुरु यदि सात्विक प्रकृति वाला होगा तो उसके हृदय में सात्विक वृत्तियाँ होंगी परन्तु यदि वह हठीला जिद्दी होगा, धर्मान्ध अथवा अज्ञानी भी होगा तो तामसी प्रकृति वाले राजा के समान ही वृत्तियाँ प्रायः उसके हृदय में भी होंगी। क्योंकि धर्मगुरु भी एक बड़ा आदमी है। तथा अधिकार की गरमी भी कुछ भिन्न प्रकार से प्रायः वैसी ही उसमें होती है।

मनुष्य यदि उद्यमी होगा तो पुरुषार्थ, स्वाधीनता, उत्साह, स्वतन्त्रता, वीरता आदि की वृत्तियाँ उसमें होंगी। इन वृत्तियों से उनके जीवन के संयोगों तथा निमित्त के प्रमाण में दूसरी वृत्तियाँ भी परिपुष्ट होंगी।

मनुष्य यदि आलसी, कर्जदार या भिखारी होगा तो दुःख कायरता, निराधारता, निरुत्साह, मंदता, अज्ञान, असन्तोष, लोभ, क्लेश, केवल दुःखमय विचार, ईर्ष्या, द्वेष आदि की वृत्तियाँ मुख्यतया उसमें होंगी तथा उसके उस समय के संयोगों के प्रमाण में दूसरी भी क्रोध आदि की वृत्तियाँ पुष्ट होती रहेंगी।

फौजदार अथवा जेलर के हृदय में निर्दयता, निष्ठुरता, चंचलता, सत्ताबल आदि वृत्तियाँ स्वाभाविक ही हो जाती हैं।

नौकरों के चित्त में उनके स्वाभावानुसार प्रमाणिकता अथवा अप्रमाणिकता की वृत्तियाँ हुआ करती हैं।

शिकारियों और कसाइयों के (जो खुराक केलिये पशुओं को पालते हैं) हृदय में हिंसा, क्रूरता, लोभादि की वृत्तियाँ होती हैं।

अनाज आदि के व्यापारियों के हृदय में अनाजादि लेते समय शांति की तथा बेचते समय अशांति की वृत्ति होती है।

सामान्यतया सभी तरह के व्यापारी शांति तथा अशांति के समय—उनका माल बिके या न बिके तो भी उसी प्रकार के प्रसंग तथा काल के ऊपर अपनी उच्च या नीच वृत्तियों को पोषण दिये बिना नहीं रहते।

किसानों की भावनाएँ भी बोते समय और बेचते समय प्रायः जुदा जुदा हुआ करती हैं। उन भावनाओं के अनुसार ही उनके हृदय में शांति और अशांति, सुख या दुःख, मोह लोभादि की वृत्ति पुष्ट हुआ करती है।

इष्ट वस्तु या प्रियजन के वियोग में प्रायः मोह, शोक, अज्ञान, दुःख आदि की वृत्तियाँ मुख्यतया हुआ करती हैं। अनिष्ट वस्तु, अप्रिय या शत्रु मनुष्य अथवा रोगादि के समय हिंसा, तिस्कार, अभाव, दुःख की वृत्तियाँ होती हैं।

इतनी बातें तो केवल ऐसी वृत्तियों के लिये कही है कि जिनका प्रत्यक्ष से अनुभव होता है, परन्तु एक वृत्ति के साथ अन्य भी अनेक वृत्तियाँ प्रसंगानुसार हो जाती हैं। इस सारे विवेचन का सार यह है कि जैसा बीज होगा वैसा ही फल भी उत्पन्न होगा। इस दृष्टांत के अनुसार हमारी वृत्तियाँ जैसी होंगी वैसे ही हमें फल भोगने पड़ेंगे। इसलिये प्रत्येक व्यवहार या परमार्थ के समय मनुष्यों को अपनी वृत्तियों की जाँच करते रहना चाहिये। वृत्ति के मूल कारण तथा इसके भावी फल या संस्कारों के पड़ने की ओर भी लक्ष्य रखना चाहिये। तथा एक वृत्ति में से अनेक प्रवृत्तियाँ किस प्रकार विस्तार पाती हैं इन्हें भी ध्यान में रखना चाहिये। इस प्रकार निरीक्षण करते रहने से मन की कौन सी वृत्तियों को उत्पन्न होने देना चाहिये और कौन सी नहीं, इस बात को समझने के लिये और समझकर वृत्तियों को स्व-इच्छानुसार बदलने की कुंजी हमारे हाथों में आ जायेगी। साथ ही इनके भावी जीवन जैसा बनाना चाहेंगे वैसा बनाने का बल भी हमें प्राप्त हो जाएगा।

अपनी वृत्तियों की तरह दूसरे की वृत्तियों का भी निरीक्षण करते रहना चाहिये और निरीक्षण करते हुए अपने मन में ऐसा करते रहना चाहिये कि यदि मैं ऐसी परिस्थिति में होऊँ तो उस समय मुझे किस प्रकार की वृत्ति रखनी चाहिये अथवा कैसा व्यवहार करना होगा। ऐसा करने से भविष्य में ऐसे प्रसंग उपस्थित होने पर विशेष जागृति रखने का तथा नवीन बीज वाली वृत्तियों को रोक सकने का बल प्राप्त हो सकेगा।

योग के मार्ग में आगे बढ़ने की इच्छा रखने वाले हरेक मनुष्य को व्यवहार के प्रत्येक अवसर पर अपनी वृत्तियों का निरीक्षण करते रहना चाहिये। वृत्तियों का निरीक्षण करते रहने की दिशा सूचन करने के लिये ही यह संक्षिप्त विवरण दिया है। यह विवेचन शांति के मार्ग का बीज है। जो बीज बोता है वह फल प्राप्त करता है।

धर्म का वास्तविक स्वरूप इस प्रकार वृत्तियों का निरीक्षण कर उन वृत्तियों को उच्च बनाने में ही है अर्थात् तमोगुण में से रजोगुण और रजोगुण में से सत्वगुणों में आने का अभ्यास करना चाहिये। जब तक ऐसा अभ्यास नहीं किया जाता तब तक हृदय निर्मल नहीं होता तथा अनेक जन्म तक धर्म करते हुए भी उसका उत्तम फल प्राप्त नहीं होता।

